नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला–५४

घनानंद
और
स्वच्छंद काव्यधारा

डा० मनोहरलाल गौड़
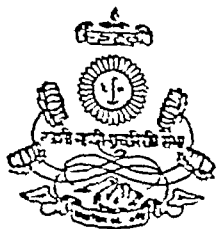
नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

२०१५ वि०

निवेदन

प्रस्तुत पुस्तक 'घनानंद और स्वच्छंद काव्यधारा' आगरा विश्वविद्यालय में पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत हुए मेरे निबंध का मुद्रित स्वरूप है, निबंध में इसके अतिरिक्त रसखान, आलम, बोधा और ठाकुर का भी स्वच्छंद प्रवृत्ति की दृष्टि से अध्ययन किया गया था। उस अंश को इस पुस्तक में नहीं लिया गया है, पाठकों के सामने वह फिर कभी दूसरे रूप में प्रस्तुत किया जाएगा।

रीतिकाल के काव्य का काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन बड़े बड़े प्रौढ़ विद्वानों द्वारा किया गया है। पर उसका कलापक्ष अद्यावधि उतनी प्रौढ़ि से विचारित नहीं हुआ। और वही पक्ष उसका प्रबल है। कला की दृष्टि से उसका समन्वयात्मक मूल्यांकन होना चाहिए।

इस काल में रीतिबद्ध काव्यधारा के अतिरिक्त जो रीतिमुक्त या स्वच्छंद काव्यधारा रही, उसकी अनेक विशेषताएँ हैं, अनेकविध महत्त्व है। इसके विशद पर्यालोचन के बिना रीतिकाल का अध्ययन अधूरा ही रह जाता है—यह सभी को मान्य है। आदरणीय पंडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने इस धारा का उन्नयन घनानंद की कृतियाँ संपादित कर उनकी भूमिकाओं में तथा अपनी 'बिहारी' पुस्तक में किया है। इसके कवियों की विशद कलात्मक समीक्षा अपेक्षित थी। इस ओर श्रीयुत मिश्रजी ने स्वयं संकेत किया है। प्रस्तुत प्रयास उस अपेक्षा की पूर्ति की दृष्टि से ही किया गया है। लक्ष्यसिद्धि कितनी हुई है—यह विद्वान् और भविष्य जानें।

यों भी आज के प्रजातन्त्र युग में, जब व्यक्ति के निजी व्यक्तित्व का मूल्य अधिकाधिक बढ़ता जा रहा है ऐसे समय में, घनानंद जैसे कवि का काव्य, जो आत्मगाथा के अतिरिक्त, अपने हृदय के मर्मोद्घाटन के सिवाय, और कुछ है ही नहीं, कम सामाजिक मूल्य का नहीं है।

रीतिकाल की स्वच्छंद काव्यधारा के भगीरथ तो घनानंद ही हैं पर रस-खान, आलम, बोधा और ठाकुर ने भी अपनी अपनी मुक्त मंदाकिनी इसी में सम्मिलित की है। इसलिए प्रस्तुत पुस्तक में घनानंद की काव्यगत विशेषताओं

का विश्लेषण-विवेचन तो विस्तार से किया गया है, शेष का प्रसगप्राप्त मूल्यांकन दे दिया गया है। इतने से स्वच्छंद काव्यधारा के स्वरूप का पूर्ण परिचय हो जाता है।

घनानद के काव्य का अध्ययन करने में मानदड भी उन्हीं के लिए गए हैं। कवि को यह बड़ी शिकायत है कि उसकी कविता को परखने के लिए, उसकी हृदयपीर को पहचानने के लिए, लोगों के पास आँखें नहीं हैं। मैंने उसी से आँखें उधार ली हैं। यह मेरा नया प्रयोग है। घनानद की विलक्षण वाणी को समझने में यदि परपरा का प्रयोग किया जाता, भले ही वह विलक्षण हो, तो अन्याय होता। आशा है, सुधीजन इसकी उपयोगिता का आदर करेंगे।

इस प्रयास के पूर्ण होने में जिन जिन विद्वानों से सहायता ली गई है, वे अनेक हैं। उन सबके प्रति मैं आभारनत हूँ। सबसे अधिक कृपा मुझ पर आदरणीय पडित विश्वनाथप्रसाद मिश्र की हुई है, जिन्होंने आदि से अत तक इस कार्य में सबल दिया है। घनानद की समस्त कृतियाँ तब तक प्रकाशित नहीं हुई थीं। मिश्रजी ने उनकी हस्तलिखित प्रतियाँ मुझे अध्ययनार्थ दीं, मार्ग दर्शाया, कठिनाइयाँ दूर कीं और अत में अपने अनुरूप पुस्तक की भूमिका भी लिख दी। मैं उनका अत्यत ऋणी हूँ। आगरा कालिज, आगरा में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पडित जगन्नाथजी तिवारी मेरे निर्देशक थे। इस सफलता में उनका भी अनुग्रह कम नहीं रहा। इसी प्रकार समय समय पर मैं डा० नगेन्द्रजी से भी इस विषय में परामर्श लेता रहा हूँ। इन महापुरुषों को हार्दिक धन्यवाद देना मेरा कर्तव्य है।

श्रावणी, सवत् २०१५ } **मनोहरलाल गौड़**

परिचय

हिंदी-साहित्य की लगभग एक सहस्र वर्षों की दीर्घकालीन परंपरा का विभाजन करते हुए ऐतिहासिकों ने उसे प्रायः तीन बृहत् खंडों में विभाजित किया है—आदि, मध्य और आधुनिक। आदिकाल की ऐसी साहित्यिक सामग्री जिसे निर्भ्रांत रूप से हिंदी-साहित्य के आभोग में गृहीत किया जा सके एक तो प्रभूत परिमाण में उपलब्ध नहीं, दूसरे जो उपलब्ध भी है उसकी प्रामाणिक छानबीन करने पर इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है कि उसमें से बहुत कुछ परवर्ती रचना है, उसमें का संवृद्ध अंश अधिकतर मध्यकाल में निर्मित हुआ। तात्पर्य यह कि यदि राजनीतिक साहित्यसेवियों के बहकावे में न आकर जैनों की साम्प्रदायिक और अपभ्रंश की रचनाओं का मोह छोड़ दिया जाए तो आदिकाल में हिंदी-साहित्य की उपलब्ध सामग्री बहुत थोड़ी है और साहित्य के निर्विकृत आभोग के भीतर आनेवाले कर्ताओं के नाम भी इने गिने ही हैं। जितने कर्ताओं की गणना की जाएगी उनमें विद्यापति को छोड़कर शेष में साहित्य का उत्कर्ष उत्तम कोटि का नहीं मिलेगा। अपना मानदंड चाहे शिथिल भी कर दिया जाए तो भी तीन चार से अधिक उच्चकोटि के कर्ता उस युग में नहीं दिखाए जा सकते।

आधुनिक काल में हिंदी-साहित्य का विस्तार बहुत अधिक हो गया। केवल पद्यबद्ध रचनाएँ ही उसमें नहीं रहीं, गद्य में भी बहुत कुछ लिखा जाने लगा। नाटक लिखे और खेले भी जाने लगे। पद्यबद्ध रचना अर्थात् कविता के क्षेत्र में ही इतने प्रकार की और इतने परिमाण में रचनाएँ होने लगीं कि भारत की किसी भी भाषा का साहित्य हिंदी में हुई रचना के परिमाण में आधुनिक युग में भी उसकी तुलना नहीं कर सकता। नाटक, उपन्यास, कहानी, निबंध, आलोचना आदि का जितना वाङ्मय आधुनिक युग में प्रस्तुत हुआ उसमें तथा कविता में भी जितनी कृतियाँ लिखी गईं उनमें भी अधिकांश-अधिकतर नहीं तो भी पर्याप्त परिमाण में ऐसी रचनाएँ हुई हैं जिनके कर्ता शुद्ध साहित्य की प्रवृत्ति से प्रेरित होकर अपना कर्तृत्व दिखाने नहीं बैठे हैं, अनेक प्रकार की राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक

विचारधाराओं से प्रेरित होकर उन्होंने उस प्रकार की रचनाएँ की हैं। आज शुद्ध साहित्य की रचना को पृथक् करने का कोई मानदंड तक हिंदी-वालों के पास नहीं रह गया है। फल यह है कि साहित्य के नाम पर ऐसी रचनाएँ भी गृहीत हो रही हैं जो निर्विकारात्मक चित्त से उसमें कथमपि संगृहीत नहीं की जा सकतीं। आलोचना के शास्त्रीय या पारंपरिक या साहित्यिक मानदंडों को त्यागकर बहुत से राजनीतिक साहित्यसेवी अपना प्रातिभ मानदंड लेकर साहित्य में साहित्य के अतिरिक्त कला यहाँ तक कि विज्ञान को भी समेट लेने की उदारता दिखलाकर अपने प्रचार के हथकडे निकाल रहे हैं और रस की सात्त्विक सरणि का उद्‍घोष छोड़ मानवता का चाकचिक्य सामने कर सबसे बडे पंडित बनने की लिप्सा से उछल-कूद मचा रहे हैं। इतना होने पर भी यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की सूची बनाई जाए तो ऐसों की संख्या १५-२० से किसी प्रकार अधिक न होगी।

अब मध्यकाल में आइए। उसके दो टुकडे किए गए हैं—पूर्वमध्यकाल और उत्तरमध्यकाल। पूर्वमध्यकाल का नाम भक्तिकाल रखा गया है। उसमें अधिक परिमाण में भक्ति की रचनाएँ हुई हैं, इसी से उसको यह नाम दिया गया है। पर भक्तिकाल की वे रचनाएँ जो इडा-पिंगला-सुषुम्ना के गोरखधंधे में ही सामाजिक को फँसाए रखनेवाली हों शुद्ध साहित्य में गृहीत नहीं हो सकतीं। साहित्य के भीतर सन्निविष्ट होने के लिए किसी रचना में सर्वसामान्य भावसत्ता का आधार अनिवार्य है। फिर भी यदि ऐतिहासिकों के समान की दृष्टि से इन्हें भी साहित्य के आभोग में माना ही जाए तो भी इन्हें मिलाकर भक्तिकाल में यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं की गणना की जाएगी तो २५-३० से अधिक संख्या फिर भी नहीं हो सकती।

अब उत्तरमध्यकाल को लीजिए। इसे रीतिकाल या शृंगारकाल नाम दिया गया है। सच पूछा जाए तो शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करने-वाले कर्ता इस युग में जितने अधिक हुए हिंदी-साहित्य के सहस्र वर्षों के दीर्घकालीन जीवन में उतने अधिक कर्ता शुद्ध साहित्य की दृष्टि से निर्माण करनेवाले कभी नहीं हुए। आधुनिक काल में भी नहीं। इन कर्ताओं में से यदि उत्तमोत्तम कर्ताओं को छाँटा जाए और बहुत अनुदार होकर छाँटा जाए तो भी उनकी संख्या ७५-८० से किसी प्रकार कम न होगी। कहने का तात्पर्य यह कि हिंदी-साहित्य के इतिहास में अन्य कालों में शुद्ध साहित्य की दृष्टि से काव्य का निर्माण करनेवालों की संख्या रीतिकाल में इसी दृष्टि

से निर्माण करनेवालों की संख्या की अपेक्षा निश्चय ही न्यून-न्यूनतर है। एक ही युग में एक से एक उत्तम कर्ता संख्या में सबसे अधिक इसी उत्तरमध्यकाल या शृंगारकाल या रीतिकाल में हुए। हिंदी का सच्चा साहित्ययुग यदि कोई था तो वस्तुतः यही था। मेरे गुरुदेव लाला भगवानदीन जी कहा करते थे कि जिसे इस युग के रीतिकाव्य का ज्ञान नहीं वह हिंदी का साहित्यज्ञ नहीं। जिसे इसका ज्ञान है उसे अन्य का ज्ञान अल्पप्रयास से ही हो जा सकता है। रीतिसाहित्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए महत्प्रयास की अपेक्षा होती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि लाला जी की कसौटी पर यदि कसा जाए तो सम्प्रति हिंदी-साहित्य की गद्दियों पर बैठे कई महंत अपने दरबारियों सहित उसके अनधिकारी ही सिद्ध होंगे।

हिंदी-साहित्य के मध्यकाल में सभी इतिहासकारों ने किसी न किसी रूप में भक्ति और रीति का नामोल्लेख तो किया है पर उस युग में प्रवाहित होनेवाली एक साहित्यधारा को एकदम भूल ही गए हैं। मध्यकाल में तत्त्वतः तीन प्रकार की काव्यधाराएँ प्रवाहित थीं—एक थी भक्ति की, दूसरी थी रीति की और तीसरी थी स्वच्छंद वृत्ति की। भक्ति की धारा का हिंदी-साहित्य में कितना ही महत्त्व क्यों न हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि भक्ति ही उसका साध्य थी, कविता उसके लिए साधन मात्र थी। पर रीति की धारावालों का साध्य काव्य ही था, साधन भी काव्य ही था। काव्य की साधना में भी साध्य और साधन दोनों पर सम्यक् दृष्टि रखनी होती है। रीतिधारा के कर्ताओं ने साधन-पक्ष पर जितना अधिक ध्यान दिया उतना अधिक उसके साध्य-पक्ष पर नहीं। रीतिधारा का अर्थ ही है काव्यरीति की धारा अर्थात् काव्यसाधन की धारा। ये लोग काव्य की रीति अर्थात् उसके साधन पर विशेष ध्यान रखनेवाले थे। काव्य का साध्य उसका अंतरंग-पक्ष होता है, साधन उसका बहिरंग-पक्ष होता है। इस प्रकार ये जितना अधिक ध्यान काव्य के बहिरंग पर रखते थे उतना अधिक उसके अंतरंग पर नहीं। काव्य का बहिरंग-पक्ष नाना प्रकार के नियमों के आधार पर चलता है। उन नियमों और विधियों में किसी प्रकार की त्रुटि हुई तो रीति के कर्ता सारा खेल बिगड़ा समझते हैं। इन नियमों और विधियों को ध्यान में रखना और उनके अनुसार सारा संभार करना पुरुषार्थ का कार्य होता है। उसमें रचना करनेवाले को अपनी बुद्धि चारों ओर से समेटकर लगाना पड़ता है। तात्पर्य यह कि काव्यशक्ति के अतिरिक्त उसके उत्पाद्य-पक्ष पर, निपुणता और

अभ्यास पर, इनकी सबसे अधिक दृष्टि रहती है। यहाँ तक कि यदि किसी में काव्यशक्ति न्यून भी हो तो वह निपुणता और अभ्यास के बल पर 'कविराज' बन जा सकता है या ठोंक-पीटकर वैद्यराज (अपर पर्याय 'कवि-राज') बनाया जा सकता है। ये लोग कभी कभी कुछ बातें सीखकर कविता करने में लग जाया करते थे। ठाकुर कवि ऐसों के ही लिए कह गए हैं—

> सीखि लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
> सीखि लीनो जस औ प्रताप को कहानो है।
> सीखि लीनो कलपबृच्छ कामधेनु चिंतामनि,
> सीखि लीनो मेर औ कुबेर गिरि आनो है।
> ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
> याको नहीं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
> डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
> लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

स्वच्छंद धारा का साध्य काव्य था और साधन भी काव्य ही था। पर इस धारा के कवियों ने साधन की अपेक्षा साध्य पर अधिक ध्यान दिया। साधन पर ये ध्यान न देते हों सो नहीं, उस पर भी ध्यान रहता था। पर स्थिति यह है कि जो साध्य पर ध्यान रखकर साधन पर ध्यान रखता है उसका साध्य-साधन का समन्वय बना रहता है, किंतु जो साधन पर ध्यान अधिक रखता है धीरे धीरे साध्य उसकी दृष्टि से ओझल हो जाता है। साध्य चुपचाप खिसक जाता है, हाथ में केवल साधन बच रहता है। इसे यों समझें कि एक का अंगी साध्य और अंग साधन, दूसरे का अंगी साधन अंग साध्य। पहले को इसी से साधन के लिए पृथक् प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं रहती, साध्य ठीक है तो 'दण्डापूपिकान्याय से साधन भी उसके साथ आपसे आप आ जाएगा। बहुत आधुनिक ढंग से सोचें तो कहेंगे कि इनके यहाँ साध्य-साधन में परमार्थतया भेद नहीं है, प्रत्युत अभेद है। रीतिधारावाले जिस साज-सज्जा में लगते हैं उसमें बुद्धि का योग अधिक करना पड़ता है, उनकी रचना बुद्धिबोधित होती है, इसी से काव्य का साध्य भाव उससे धीरे धीरे हटने लगता है। 'रीतिकाव्य की रानी बुद्धि है, भाव उसका किंकर। पर स्वच्छंद काव्य की रानी है अनुभूति, उसकी दासी है बुद्धि—

रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी।

स्वच्छंद काव्य भावनाश्रित होता है, बुद्धिबोधित नहीं, इसलिए आंतरिकता उसका सर्वोपरि गुण है। आंतरिकता की इस प्रवृत्ति के कारण स्वच्छंद काव्य की सारी भावन-संपत्ति आश्रित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कवियों की रचना के मूल तत्त्व तक पहुँचा जा सकता है। बहुत आधुनिक ढंग से कहें तो कहेंगे कि स्वच्छंद वृत्ति के कवियों की अनुभूति ही उनका मुख्य आधार है. उसी के सहारे उनकी सारी कृति की छानबीन की जा सकती है। रीतिकाव्य के कर्ताओं का मूल आधारभूत तत्त्व है भंगिमा। स्वच्छंद कवि में भंगिमा कहीं कदाचित् न भी हो, पर अनुभूति-शून्य उसकी रचना नहीं हो सकती। रीतिकवि में अनुभूति चाहे न भी हो, पर भंगिमा अवश्य रहेगी। बिहारी ऐसे कवियों में भंगिमा चाहे अनुभूति-पूर्ण हो चाहे शुद्ध भंगिमा ही हो; पर उनमें साहित्यिक चातुर्य अपने चरम उत्कर्ष पर ही दिखाई देता है, इसी से उनकी रचना सर्वत्र आकर्षक है। पर बहुत से ऐसे भी हैं जिनकी भंगिमा केवल वर्णसौंदर्य तक ही रह गई, वह ऐसी पेशलता न ला सकी जिससे उसमें सहृदयों के लिए वांछित आकर्षण होता। अनुभूति में बाहरी आकर्षण न भी हो तो भी वह हृदय खींच लेती है। अनुभूति हृदय से उठती है, हृदय को आकृष्ट करती है। उसके लिए किसी अन्य माध्यम की अपेक्षा नहीं। भंगिमा हृदय से ईरित भी हो सकती है और बुद्धि से प्रेरित भी। हृदय से ईरित भंगिमा आकर्षक होती है, पर वह सीधे हृदय में नहीं पहुँचती उसके लिए माध्यम की अपेक्षा होती है। वह बुद्धि के, नियम-विधि के, शास्त्र के माध्यम से हृदय में पहुँचती है। उसके लिए जैसे कर्ता को शास्त्रविधिनिष्णात होना चाहिए वैसे ही ग्राहक को भी शास्त्रविदग्धदृष्टि होना चाहिए। अनुभूति के लिए न कर्ता को उसकी (शास्त्र-विधि की) विशेष आवश्यकता है और न ग्राहक को।

तो क्या शास्त्राभ्यासशून्य होना चाहिए संवेदनशील स्वच्छंद कवि को? नहीं, शास्त्र का अभ्यास तो समुचित मात्रा में सब को करना चाहिए। स्वच्छंद कवि को भी और उसके ग्राहक को भी। पर शास्त्र के सहारे अपना कर्तृत्व दिखाने में उसका अनुभूति या संवेदना का लक्ष्य नहीं होता; संवेदना संवेदना की स्थिति के संपादन में लगती है, शास्त्र की स्थिति के संपादन में नहीं। दोष शास्त्रस्थिति का संपादन है, शास्त्राभ्यास या शास्त्रज्ञान नहीं।

रीतिकाव्य के लिए जिस दोष की समावना रहती है वह यही है। इसी से प्रायः रीतिकर्ता इस दोष से जकड़ जाते हैं।

स्वच्छंदवृत्तिवालों की संवेदना अनेक प्रकार की हो सकती है। पर मध्यकाल के इन स्वच्छद कर्ताओं की सवेदना केवल प्रेम की सवेदना थी, ये प्रेम की पीर के पक्षी थे। हिंदी-साहित्य में आदिकाल में विद्यापति 'प्रेम-सवेदना' के कवि दिखाई देते हैं। पर प्रेम की यह सवेदना पारपरिक रूप में मध्यकाल के स्वच्छद गायकों को नहीं मिली है। प्रेम की यह सवेदना फारसी-साहित्य और सूफी-साधना के प्रवाह से सबद्ध है। भारतीय प्रेम-सवेदना और फारसी प्रणय-सवेदना का और चाहे जो पार्थक्य हो, पर यह पार्थक्य बहुत स्पष्ट है कि फारसी प्रणय-सवेदना रहस्यात्मक वृत्ति को भी लेकर चलती है। भारतीय साहित्य में प्रेम की सवेदना चाहे जितनी तीव्र हो वह रहस्यात्मक स्वरूप नहीं धारण करती। पर फारसी-साहित्य और सूफी-साधना के सपर्क में आने के अनतर भारतीय साहित्य पर और भारतीय भक्तिप्रवाह पर भी इसका प्रभाव पड़ा। हमारे मुसलमान बधुओं के आगमन के अनतर भी जब तक इस 'प्रेम की पीर' के सपर्क में हमारा साहित्य और हमारी भक्ति नहीं आई थी तब तक उसका अपना नैसर्गिक रूप बना हुआ था। नाथ-सिद्ध भक्ति की सहज धारा को प्रभावित करते-करते भी बहुत अल्पाश में प्रभावित कर सके और साहित्य को तो उन्होंने कुछ भी प्रभावित नहीं किया। इसी से जयदेव और विद्यापति की रचना रहस्यात्मक रूप नहीं पकड़ सकी। जो लोग इनमें अध्यात्म अर्थात् रहस्य की खोज करते हैं वे सत्ययुग में कलियुग ढूँढ निकालना चाहते हैं। भक्ति के क्षेत्र में रहस्यात्मक प्रवृत्ति का मेल जितना अधिक निर्गुण-साधना से बैठता है उतना अधिक सगुण-साधना से नहीं। भक्ति के कुछ सगुण-संप्रदायों या प्रवाहों में जो रहस्यात्मक साधना ने घर कर लिया है वह परवर्ती प्रभाव है और भक्ति सप्रदायों की भाव-साधना में वह अपना आरोपित रूप सहज ही स्पष्ट कर देती है। सगुण-भक्ति की साधना में अधिक गुह्य-साधना चल नहीं पाती और यदि उसमें कुछ थोड़ी बहुत चलती भी हो तो भारतीय साहित्य की व्यक्त शब्दसाधना इसका बोझ बहुत अधिक और बहुत दिनों तक नहीं सँभाल सकती। इसी से मध्यकाल के स्वच्छद प्रवाह में रहस्य की झलक भर मिलती है, आधुनिक युग में भी छायावाद के साथ जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति प्रबल हुई

वह बहुत दिनों तक टिक न सकी। केवल महादेवी वर्मा अभी तक उसे ढोए चल रही हैं। पर वहाँ भी परिमाण अत्यंत क्षीण हो गया है।

स्वच्छंद प्रवाह के प्रमुख कर्ताओं में रसखानि, आलम, ठाकुर, घनआनंद, बोधा और द्विजदेव का नाम लिया जा सकता है। छानबीन करने पर इस प्रवाह के छुटभैये भी कई मिल सकते हैं। इन सबमें श्रेष्ठ घनआनद ही प्रतीत होते हैं। इसका कारण यह है कि उनकी सवेदना सर्वाधिक साहित्यिक है। रसखानि में साहित्यिक निखार न होकर संवेदना की सहज अभिव्यक्ति मात्र है। श्रेष्ठता का वास्तविक कारण घनआनंद की साहित्य-श्रुतता है। उक्त छहो कर्ताओं में सबसे अधिक साहित्यश्रुत घनआनंद ही प्रतीत होते हैं। इस साहित्यश्रुति का प्रभाव उनकी रचना के प्रत्येक अवयव पर पड़ा है। पर उनकी रचना के दो प्रकार हैं—एक प्रेम-सवेदना की अभिव्यक्ति, दूसरी भक्ति-संवेदना की व्यक्ति। इनकी भक्ति-सवेदना की व्यक्ति रसखानि के बहुत निकट है। प्रेम-संवेदना की अभिव्यक्ति साहित्यिक-भगिमा-संवलित है और भक्ति-सवेदना की व्यक्ति में उस भंगिमा की कमी या अभाव लक्ष्यभेद के कारण है। एक की रचना सहृदयों के लिए है दूसरी की कोरे भक्तों के लिए। एक सम्यक् अनुभूति के लिए है दूसरी संकीर्तन के लिए। घनआनंद की कृति में केवल रसखानि की सी ही रचना नहीं मिलती, उसमें आलम, ठाकुर, बोधा, द्विजदेव सबकी उत्कृष्ट विशेषताओं का समावेश हो गया है। पर घनआनंद की कुछ विशेषता ऐसी है जो न रसखानि में है, न आलम में, न ठाकुर में, न बोधा में, न द्विजदेव में। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि जो उक्त स्वच्छंद गायकों से अपनी विशेषताओं के कारण पृथक् और श्रेष्ठ है वह रीतिकाव्य के कर्ताओं से अपनी विशेपताओं और प्रवृत्तियों के कारण निश्चय ही पृथक्तर और श्रेष्ठतर है। इसका अनुभव स्वयम् घनआनद ने भी किया था जिसे उन्होंने अपनी इस पक्ति में व्यक्त कर रखा है—

लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत।

उनकी रचना अर्थात् उनकी प्रेम-सवेदना के कवित्तों के संग्रहकर्ता श्री व्रजनाथ ने भी उनकी इस पृथक्ता को लक्षित किया था—

जग की कबिताई के धोखें रहै ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।

कविता में लगकर उसका निर्माण करनेवाले रीतिवेत्ता ही थे और 'जग

की कविता' साहित्य-संसार में बहुप्रचलित रचना उस समय रीतिकविता ही थी। पर घनआनद की रचना में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी सूक्ष्मता सबके लिए सुलभ नहीं थी, काव्यमार्ग के प्रवीण पथिक भी उसे देखकर चकपकाते थे। यह कठिनाई न रसखानि की कविता में थी, न आलम की कविता में, न ठाकुर की कविता में, न बोधा की कविता में और न द्विजदेव की कविता में। उनकी प्रेम-सवेदना चाहे जितनी गहरी, चाहे जितनी मार्मिक हो, पर उसके सबध में यह कठिनाई थी ही नहीं।

घनआनद की 'कबिताई' में प्रवीणों की मति को चकानेवाली कई विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उनकी रचना में बहुत सी स्थितियाँ मौन हैं अर्थात् उनकी रचना अभिधा के वाच्यरूप में कम लक्षणा के लक्ष्य और व्यजना के व्यग्य रूप में अधिक है। जो लक्षणा-व्यजना के इन लक्ष्य-व्यग्य अर्थों तक पहुँचने की क्षमता रखनेवाला न होगा उसके लिए इनकी रचना नीरस नहीं तो सरस भी न होगी। अपनी कृति के भावक का रूप स्वयम् घनआनद ने इस सवैये में व्यक्त कर दिया है—

> उर-भौन मैं मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात-बनी।
> मृदु मजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रसरूप-मनी।
> रसना-अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
> घनआनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी॥

इनकी कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाले अपने को छिपाए बैठी है। रही सभार की बात! सो सारे शास्त्रीय सभार इसमें हैं—पदार्थ हैं, पर कोमल, चुने हुए मंजुल। उसमें पद अर्थात् शब्द ही नहीं हैं अर्थ भी हैं, वाच्य, लक्ष्य, व्यग्य एक से एक मृदु, एक से एक मजु। कोई कहे कि इसमें अवर अश वाच्यार्थ-मात्रविशिष्ट अलकार न हों, सो बात भी नहीं है। इसमें अलकार भी हैं, गहने भी हैं, पर वे आभूषण, वे अलकार, रत्नजटित हैं, चमचमानेवाले हैं, दीप्ति करनेवाले हैं। रत्न या मणि है क्या?—'रस'। अलकार की सारी योजना रस की दीप्ति के लिए है, केवल शरीर पर लदाव के लिए नहीं। यह वाणी, यह कविता, यह बनी या दूलहन रसना-सखी के साथ साथ जाती है। रसना-सखी के सग, जीभ के सग नहीं—रस की ओर ले जानेवाली रसना—रसाश्रय हृदय की शय्या पर, सुसज्ज शय्या पर, सहृदयता की सजी सेज पर उसे पहुँचाती है। इस कविता-दूल्हन का रसिक

(घना, घनी-स्वामी) कोई साधारण व्यक्ति कैसे हो सकता है। वह सुजान है, प्रवीण है, सहृदय है, साहित्य के विधि-विधानों से अभिज्ञ है। वही इस पर रीझता है, इसकी सूक्ष्म भाव-भंगिमा को समझता है। बूझनि—प्रतीति, रस-प्रतीति—की गोद में, काव्य-प्रतीति के अंक में, उसे लेकर विलसता है। घनआनद की रचना का सौंदर्य आवृत है, वह शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है। हृदय ही, सहृदय ही, उसके मर्म को समझ सकता है।

पर इस मौन को अमौन या बखान में परिणत कौन कर सकता है? वाणी जिस प्रकार मौन में अनेक बखानों को समेटे सिमटी पड़ी रहती है उसी प्रकार वाणी उस मौन में छिपे तत्त्वों को प्रकाशित भी कर सकती है। जिसकी वाणी में मौन के भीतर अनेक अमौन तत्त्वों को छिपा रखने की क्षमता नहीं वह कर्ता, समर्थ कर्ता, नहीं और जिसकी वाणी में उनको प्रकाशित कर सकने की शक्ति नहीं वह सूक्ष्म-ग्रहीता नहीं, सहृदय नहीं। घनआनद को इस विषय में नैराश्य नहीं है। नैराश्य भारतीय परपरा में नहीं, अँगरेजी की अनुकृति पर नैराश्य की नदी छायावादी बधु भले ही प्रवाहित कर चुके हों और अपनी रचना की गूढता समझने के संबध में भी चाहे उन्हें नैराश्य ही रहा हो, पर न भवभूति को नैराश्य था न घनआनद को। वे वाणी की, सहृदय की वाणी की, प्रशस्ति यों करते हैं—

> आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
> बात-सरूप अनूप अरूप है भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।
> बात को बात सुभाव विचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
> नैननि काननि बीच बसे घनआनँद मौन बखान सु देखि लै॥

वाणी की गति अत्यत सूक्ष्म है जो अन्य विधि से असंभव या दुःसभव है उसे अपनी सूक्ष्मेक्षिका से वाणी संभव कर दे सकती है, और बात की बात में सभव कर दे सकती है। किसी आँख के मूँदने में कितने रहस्य हैं इसका उद्घाटन वाणी कर सकती है। एक साथ सोना और जागना वाणी ही से देखा जा सकता है। वाणी या काव्य स्वयम् एक दर्शन है, दृष्टि है। उसकी रूपरेखा सूक्ष्म है, वह अलेख का, निराकार का, लेखा-जोखा भी प्रस्तुत कर सकती है। ब्रह्म का, निर्गुण ब्रह्म का, साक्षात्कार वाणी ही से सभव है। वह निराकार अनुभूति का विषय हो चाहे न हो, पर वाणी का विषय तो हो ही सकता है, हुआ ही है। जगत् भले ही अनिर्वचनीय हो,

की कविता' साहित्य-संसार में बहुप्रचलित रचना उस समय रीतिकविता ही थी। पर घनआनद की रचना में कुछ ऐसी विशेषता थी कि उसकी सूक्ष्मता सबके लिए सुलभ नहीं थी, काव्यमार्ग के प्रवीण पथिक भी उसे देखकर चकपकाते थे। यह कठिनाई न रसखानि की कविता में थी, न आलम की कविता में, न ठाकुर की कविता में, न बोधा की कविता में और न द्विजदेव की कविता में। उनकी प्रेम-सवेदना चाहे जितनी गहरी, चाहे जितनी मार्मिक हो, पर उसके सबध में यह कठिनाई थी ही नहीं।

✓घनआनद की 'कबिताई' में प्रवीणों की मति को चकानेवाली कई विशेषताएँ हैं। सबसे पहली विशेषता तो यह है कि उनकी रचना में बहुत सी स्थितियाँ मौन हैं अर्थात् उनकी रचना अभिधा के वाच्यरूप में कम लक्षणा के लक्ष्य और व्यजना के व्यग्य रूप में अधिक है। जो लक्षणा-व्यजना के इन लक्ष्य-व्यग्य अर्थों तक पहुँचने की क्षमता रखनेवाला न होगा उसके लिए इनकी रचना नीरस नहीं तो सरस भी न होगी। अपनी कृति के भावक का रूप स्वयम् घनआनद ने इस सवैये में व्यक्त कर दिया है—

उर-भौन में मौन को घूँघट कै दुरि बैठी बिराजति बात-बनी।
मृदु मजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रसरूप-मनी।
रसना-अली कान-गली मधि ह्वै पधरावति लै चित-सेज ठनी।
घनआनँद बूझनि-अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी॥

इनकी कविता हृदय के भवन में मौन का घूँघट डाले अपने को छिपाए बैठी है। रही सभार की बात! सो सारे शास्त्रीय सभार इसमें हैं—पदार्थ हैं, पर कोमल, चुने हुए मजुल। उसमें पद अर्थात् शब्द ही नहीं हैं अर्थ भी हैं, वाच्य, लक्ष्य, व्यग्य एक से एक मृदु, एक से एक मजु। कोई कहे कि इसमें अवर अश वाच्यार्थ-मात्रविशिष्ट अलकार न हों, सो बात भी नहीं है। इसमें अलकार भी हैं, गहने भी हैं, पर वे आभूषण, वे अलकार, रत्नजटित हैं, चमचमानेवाले हैं, दीप्ति करनेवाले हैं। रत्न या मणि है क्या?—'रस'। अलकार की सारी योजना रस की दीप्ति के लिए है, केवल शरीर पर लदाव के लिए नहीं। यह वाणी, यह कविता, यह बनी या दूल्हन रसना-सखी के साथ साथ जाती है। रसना-सखी के संग, जीभ के सग नहीं—रस की ओर ले जानेवाली रसना—रसाश्रय हृदय की शय्या पर, सुसज्ज शय्या पर, सहृदयता की सजी सेज पर उसे पहुँचाती है। इस कविता-दूल्हन का रसिक

(बना, घनी-स्वामी) कोई साधारण व्यक्ति कैसे हो सकता है। वह सुजान है, प्रवीण है, सहृदय है, साहित्य के विधि-विधानों से अभिज्ञ है। वही इस पर रीझता है, इसकी सूक्ष्म भाव-भंगिमा को समझता है। बूझनि—प्रतीति, रस-प्रतीति—की गोद में, काव्य-प्रतीति के अंक में, उसे लेकर विलसता है। घनआनंद की रचना का सौंदर्य आवृत है, वह शब्दों द्वारा वाच्य नहीं है। हृदय ही, सहृदय ही, उसके मर्म को समझ सकता है।

पर इस मौन को अमौन या बखान में परिणत कौन कर सकता है? वाणी जिस प्रकार मौन में अनेक बखानों को समेटे सिमटी पड़ी रहती है उसी प्रकार वाणी उस मौन में छिपे तत्त्वों को प्रकाशित भी कर सकती है। जिसकी वाणी में मौन के भीतर अनेक अमौन तत्त्वों को छिपा रखने की क्षमता नहीं वह कर्ता, समर्थ कर्ता, नहीं और जिसकी वाणी में उनको प्रकाशित कर सकने की शक्ति नहीं वह सूक्ष्म-ग्रहीता नहीं, सहृदय नहीं। घनआनंद को इस विषय में नैराश्य नहीं है। नैराश्य भारतीय परंपरा में नहीं, अँगरेजी की अनुकृति पर नैराश्य की नदी छायावादी बंधु भले ही प्रवाहित कर चुके हों और अपनी रचना की गूढता समझने के संबंध में भी चाहे उन्हें नैराश्य ही रहा हो, पर न भवभूति को नैराश्य था न घनआनंद को। वे वाणी की, सहृदय की वाणी की, प्रशस्ति यों करते हैं—

आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
बात-सरूप अनूप अरूप है भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।
बात को घात सुभाव बिचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि बीच बसे घनआनँद मौन बखान सु देखि लै॥

वाणी की गति अत्यंत सूक्ष्म है जो अन्य विधि से असंभव या दुःसंभव है उसे अपनी सूक्ष्मेक्षिका से वाणी संभव कर दे सकती है, और बात की बात में संभव कर दे सकती है। किसी आँख के मूँदने में कितने रहस्य हैं इसका उद्घाटन वाणी कर सकती है। एक साथ सोना और जागना वाणी ही से देखा जा सकता है। वाणी या काव्य स्वयम् एक दर्शन है, दृष्टि है। उसकी रूपरेखा सूक्ष्म है, वह अलेख का, निराकार का, लेखा-जोखा भी प्रस्तुत कर सकती है। ब्रह्म का, निर्गुण ब्रह्म का, साक्षात्कार वाणी ही से संभव है। वह निराकार अनुभूति का विषय हो चाहे न हो, पर वाणी का विषय तो हो ही सकता है, हुआ ही है। जगत् भले ही अनिर्वचनीय हो,

पर वह (ब्रह्म) अनिर्वचनीय नहीं है। वह अज्ञेय चाहे हो, पर अवाच्य नहीं है। अच्छी से अच्छी, ऊँची से ऊँची स्थिति को सर्वत्र वाणी ही बात की बात में बतला सकती है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ वाणी अपनी विशेषता न दिखला दे। जो और प्रकार से इंगित नहीं किया जा सकता वाणी उसे इंगित करती है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' को, अज्ञेय-अपरिमेय को, इन शब्दों से इंगित करनेवाला कौन है, वाणी ही न! जो मन का, चित्त का, बुद्धि का विषय न बन सके उसे भी वाणी का विषय बनना ही पड़ता है। वह मन, चित्त, बुद्धि का विषय नहीं है इसे वाणी ही तो बतलाती है। वाणी नेत्रों में कान लगा सकती है, और उन कानों को मौन की पुकार वाणी ही सुना सकती है, मौन के बखान को वाणी ही दिखा सकती है। वाणी क्या नहीं कर सकती?

घनआनंद की आवृत अर्थ-संपत्ति की, उनके मौन की, विशेषता बताते हुए वाणी की विशेषता तक पहुँचना पड़ा। इसका कारण यह है कि उनकी विरह-साधना और काव्य साधना में समरसता है। 'बिरही बिचारन की मौन में पुकार है' यहीं तक उनकी वाणी नहीं है, वह स्वयम् 'मौन की पुकार' में लीन है, 'उर मौन में मौन के घूँघट में' अपने को छिपाए हुए है। ठीक इसी प्रकार विरही विषम प्रेम की साधना में विषम परिस्थितियों का सामना करता है तो कवि भी विषम प्रेम की अभिव्यक्ति में विषम शब्दसाधना करता है। घनआनंद की रचना की यह वैषम्यमूलकता या विरोध-वृत्ति केवल शब्दसाधना नहीं है। प्रेम की विषमता और इस विरोध-वृत्ति में साम्य है। हिंदी के अन्य मध्यकालीन स्वच्छंद कवियों में विरोध-वृत्ति सार्वत्रिक न होकर क्वाचित्क है। घनआनंद की रचना में यह सार्वत्रिक है, यहाँ तक कि उनके कीर्तन के कोरे भक्तिभावित पदों में भी यह बहुधा मिल जाती है। इस विरोध-वृत्ति के लिए उन्होंने लक्षणा का सहारा लिया है और लक्षणा के जैसे चमत्कार उन्होंने दिखलाए हैं, हिंदी-साहित्य के प्राचीन काल के किसी कवि में उतने लाक्षणिक वैलक्षण्य तो हैं ही नहीं, आधुनिक काल के जिन छायावादी कवियों में इस विलक्षणता के दर्शन प्रभूत परिमाण में होते हैं उनमें भी वह विशेषता नहीं है जो घन-आनंद के प्रयोगों में मिलती है।

पहली ध्यान देने की बात यह है कि घनआनंद की कविता भले ही फारसी-काव्य और सूफी साधना की प्रेरणा से हिंदी में निर्मित हुई हो, पर

उन्होंने ज्यों की त्यों अनुकृति नहीं की। फारसी के मुहावरे उठाकर उन्होंने हिंदी में नहीं धर दिए। वे फारसी-प्रवीण थे, उन्होंने फारसी में एक मसनवी भी लिखी है, पर वे व्रजभाषा-प्रवीण भी थे। व्रजभाषा के प्रयोगों के आधार पर नूतन वाग्योग संघटित कर लेने के लिए भाषा-प्रवीण भी थे। घनआनंद के प्रयोग व्रजभाषा के प्रयोग तो हैं ही, नवीन प्रयोग भी एकदम नए नहीं हैं, व्रजी के प्रवाह के अनुकूल गढे गए हैं। उनका अतःकरण भारतीय था, वेश-भूषा भी भारतीय थी। ढंग-ढर्रा कुछ बाहरी रहा हो तो हो, पर वह भी कृष्ण-राधा के प्रेमतत्त्व में सर्वात्मना भारतीय बन बैठा।

इस भारतीयता के भाषागत सौंदर्य के लिए लाक्षणिक प्रयोगों का भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। फारसी में और उसकी अनुकृति पर उर्दू में जिस प्रकार की लाक्षणिकता दिखाई देती है वह भारतीय लाक्षणिकता से भिन्न है। फारसी-उर्दू में जिस लाक्षणिकता का विकास हुआ वह मुहावरों को आधार बनाती है। मुहावरों में प्रयोजनवती और रूढि दोनों प्रकार की लक्षणाएँ हो सकती हैं, पर अधिकतर लक्षणाएँ रूढि के खाते में जाती हैं। जिस प्रकार का प्रयोग बहुत दिनों से होता चला आ रहा हो उसी को अनेक प्रकार के मिश्रण द्वारा नवीन रूप में लाना फारसी-उर्दू की विशेषता है। मुहावरों के अधिक प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि फारसी-उर्दू में रचना लक्षणाप्रधान होती है। लक्षणाप्रधान होने पर भी परंपरा के आश्रय में रहने के कारण व्यंजना में अर्थात् उन लाक्षणिक प्रयोगों से निकलनेवाले व्यंग्यार्थ में सलंचयक्रमता स्पष्ट रहती है और एक साथ अनेक व्यंग्यार्थों के उपस्थित होने पर भी सदेह के लिए स्थान नहीं रहता। हिंदी में आधुनिक युग में अँगरेजी-साहित्य के संपर्क के कारण जिस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किए जाने लगे उनमें रूढ़ि के बदले प्रयोजनवती पर अधिक ध्यान है। प्रत्येक कवि अपने नए नए प्रयोजन के लिए नई नई लक्षणाएँ करता है। परपरा का साथ न होने से ऐसे स्थल प्रायः सामने आ जाते हैं कि उनके व्यंग्यार्थों में सदेह बना रहता है। अँगरेजी भाषा लक्षणाप्रधान है, फारसी से भी अधिक। वह परपरा के निर्वाह का आग्रह नहीं करती। फल यह है कि किसी आधुनिक छायावादी कवि के प्रयोगों के सबंध में ऐसे स्थल प्रायः आ जाया करते हैं जहाँ व्यंग्यार्थों में से किसी एक का निश्चय करना कठिन हो जाता है। भारतीय भाषा लक्षणाप्रधान न होकर व्यंजनाप्रधान

पर वह (ब्रह्म) अनिर्वचनीय नहीं है। वह अज्ञेय चाहे हो, पर अवाच्य नहीं है। अच्छी से अच्छी, ऊँची से ऊँची स्थिति को सर्वत्र वाणी ही बात की बात में बतला सकती है। कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ वाणी अपनी विशेषता न दिखला दे। जो और प्रकार से इंगित नहीं किया जा सकता वाणी उसे इंगित करती है। 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' को, अज्ञेय-अपरिमेय को, इन शब्दों से इंगित करनेवाला कौन है, वाणी ही न! जो मन का, चित्त का, बुद्धि का विषय न बन सके उसे भी वाणी का विषय बनना ही पड़ता है। वह मन, चित्त, बुद्धि का विषय नहीं है इसे वाणी ही तो बतलाती है। वाणी नेत्रों में कान लगा सकती है, और उन कानों को मौन की पुकार वाणी ही सुना सकती है, मौन के बखान को वाणी ही दिखा सकती है। वाणी क्या नहीं कर सकती ?

घनआनंद की आवृत अर्थ-संपत्ति की, उनके मौन की, विशेषता बताते हुए वाणी की विशेषता तक पहुँचना पड़ा। इसका कारण यह है कि उनकी विरह-साधना और काव्य साधना में समरसता है। 'विरही बिचारन की मौन में पुकार है' यहीं तक उनकी वाणी नहीं है, वह स्वयम् 'मौन की पुकार' में लीन है, 'उर-भौन में मौन के घूँघट में' अपने को छिपाए हुए है। ठीक इसी प्रकार विरही विषम प्रेम की साधना में विषम परिस्थितियों का सामना करता है तो कवि भी विषम प्रेम की अभिव्यक्ति में विषम शब्दसाधना करता है। घनआनंद की रचना की यह वैषम्यमूलकता या विरोध-वृत्ति केवल शब्दसाधना नहीं है। प्रेम की विषमता और इस विरोध-वृत्ति में साम्य है। हिंदी के अन्य मध्यकालीन स्वच्छंद कवियों में विरोध-वृत्ति सार्वत्रिक न होकर क्वाचित्क है। घनआनंद की रचना में यह सार्वत्रिक है, यहाँ तक कि उनके कीर्तन के कोरे भक्तिभावित पदों में भी यह बहुधा मिल जाती है। इस विरोध-वृत्ति के लिए उन्होंने लक्षणा का सहारा लिया है और लक्षणा के जैसे चमत्कार उन्होंने दिखलाए हैं, हिंदी-साहित्य के प्राचीन काल के किसी कवि में उतने लाक्षणिक वैलक्षण्य तो हैं ही नहीं, आधुनिक काल के जिन छायावादी कवियों में इस विलक्षणता के दर्शन प्रभूत परिमाण में होते हैं उनमें भी वह विशेषता नहीं है जो घनआनंद के प्रयोगों में मिलती है।

पहली ध्यान देने की बात यह है कि घनआनंद की कविता भले ही फारसी-काव्य और सूफी साधना की प्रेरणा से हिंदी में निर्मित हुई हो, पर

उन्होंने ज्यों की त्यों अनुकृति नहीं की। फारसी के मुहावरे उठाकर उन्होंने हिंदी में नहीं धर दिए। वे फारसी-प्रवीण थे, उन्होंने फारसी में एक मसनवी भी लिखी है, पर वे व्रजभाषा-प्रवीण भी थे। व्रजभाषा के प्रयोगों के आधार पर नूतन वाग्योग संघटित कर लेने के लिए भाषा-प्रवीण भी थे। घनआनंद के प्रयोग व्रजभाषा के प्रयोग तो हैं ही, नवीन प्रयोग भी एकदम नए नहीं हैं, व्रजी के प्रवाह के अनुकूल गढे गए हैं। उनका अंतःकरण भारतीय था, वेश-भूषा भी भारतीय थी। ढंग-ढर्रा कुछ बाहरी रहा हो तो हो, पर वह भी कृष्ण-राधा के प्रेमतत्त्व में सर्वात्मना भारतीय बन बैठा।

इस भारतीयता के भाषागत सौंदर्य के लिए लाक्षणिक प्रयोगों का भेद स्पष्ट कर लेना चाहिए। फारसी में और उसकी अनुकृति पर उर्दू में जिस प्रकार की लाक्षणिकता दिखाई देती है वह भारतीय लाक्षणिकता से भिन्न है। फारसी-उर्दू में जिस लाक्षणिकता का विकास हुआ वह मुहावरों को आधार बनाती है। मुहावरों में प्रयोजनवती और रूढि दोनों प्रकार की लक्षणाएँ हो सकती हैं, पर अधिकतर लक्षणाएँ रूढि के खाते में जाती हैं। जिस प्रकार का प्रयोग बहुत दिनों से होता चला आ रहा हो उसी को अनेक प्रकार के मिश्रण द्वारा नवीन रूप में लाना फारसी-उर्दू की विशेषता है। मुहावरों के अधिक प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि फारसी-उर्दू में रचना लक्षणाप्रधान होती है। लक्षणाप्रधान होने पर भी परंपरा के आश्रय में रहने के कारण व्यंजना में अर्थात् उन लाक्षणिक प्रयोगों से निकलनेवाले व्यंग्यार्थ में संलक्ष्यक्रमता स्पष्ट रहती है और एक साथ अनेक व्यंग्यार्थों के उपस्थित होने पर भी संदेह के लिए स्थान नहीं रहता। हिंदी में आधुनिक युग में अँगरेजी-साहित्य के संपर्क के कारण जिस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग किए जाने लगे उनमें रूढ़ि के बदले प्रयोजनवती पर अधिक ध्यान है। प्रत्येक कवि अपने नए नए प्रयोजन के लिए नई नई लक्षणाएँ करता है। परंपरा का साथ न होने से ऐसे स्थल प्रायः सामने आ जाते हैं कि उनके व्यंग्यार्थों में संदेह बना रहता है। अँगरेजी भाषा लक्षणाप्रधान है, फारसी से भी अधिक। वह परंपरा के निर्वाह का आग्रह नहीं करती। फल यह है कि किसी आधुनिक छायावादी कवि के प्रयोगों के संबंध में ऐसे स्थल प्रायः आ जाया करते हैं जहाँ व्यंग्यार्थों में से किसी एक का निश्चय करना कठिन हो जाता है। भारतीय भाषा लक्षणाप्रधान न होकर व्यंजनाप्रधान

है। इसका अर्थ यह है कि उसके लाक्षणिक प्रयोगों का व्यंग्य बहुत कुछ नियत है। लक्षणा से एक व्यंग्य निकलने पर दूसरा व्यंग्य, फिर तीसरा व्यंग्य इस प्रकार अनेक व्यंग्य निकलते जाते हैं। एक साथ कई व्यंग्यार्थ सामने आकर प्रायः संदेह नहीं खड़ा करते।

घनआनंद ने मुहावरों के प्रयोग की पद्धति निश्चय ही फारसी की प्रेरणा से ग्रहण की है। पर फारसी के मुहावरों की योजना नहीं की, जैसा उर्दू वालों ने किया—फारसी के बहुत से मुहावरे चुपचाप देशी भाषा के रूप में उल्था करके रख दिए। उन्हीं की कृतियों की छानबीन करके उर्दू का कोश प्रस्तुत करनेवाले 'फरहगे आसफिया' के संपादक इसी से उर्दू के मुहावरों को फारसी के मुहावरों का उल्था कहते हैं, यद्यपि उर्दू में भी सबके सब फारसी से उड़ाए हुए मुहावरे नहीं हैं। आजमगढ में ही यह सब होते देख स्वर्गीय पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय का हिंदी-ज्ञान तिलमिला उठा और उन्होंने 'चोखे चौपदे', 'चुभते चौपदे' से ही संतोष न कर 'बोलचाल' नाम की पुस्तक ही लिख डाली, जिसमें हिंदी के मुहावरों का संग्रह ही नहीं उनके प्रयोग द्वारा मार्मिक रचना भी की गई है। घनआनंद ने हिंदी के मुहावरों का प्रयोग करके, उसके चलते मुहावरों का विनियोग करके, जो चमत्कार उत्पन्न किया है और साथ ही जिस भावना तक सहृदय को पहुँचाया है वह स्थान स्थान पर दर्शनीय है—

रावरे पेट की बूझि परै नहीं रीझि पचाय कै डोलत भूखे।

एक ही उदाहरण से उनके प्रयोग की विशेषता स्पष्ट हो जाएगी। पेट की न बूझ पड़ना, पचाना और भूखे डोलना तीनों प्रयोग लाक्षणिक हैं। किसी के पेट की बात समझ में तभी नहीं आ सकती जब उसके पेट में अन्य पेटों से विलक्षणता हो। यदि कोई निरंतर खाता हो और खाए को पचाकर भूखा फिरता हो तो अचरज होने की बात ही है। निरंतर खानेवाला यदि भूखा फिरता है तो उसकी पाचनशक्ति या तो बहुत अधिक है या उसे कोई रोग है। रोग होने पर उसका प्रभाव बाहरी अंगों पर स्पष्ट दिखाई देता है। वे पीले पड़ जाते हैं, रक्त नहीं बनता, मोटा होने के बदले वह दिन-दिन दुबला होता जाता है, उसे भस्मक रोग से ग्रस्त समझना पड़ता है। प्रिय में ये लक्षण व्यक्त नहीं हैं इससे स्पष्ट है कि पाचन-शक्ति ही बढकर है। प्रिय रीझ पचाता चला जा रहा है। एक रीझ, दूसरी रीझ, तीसरी, चौथी

रीझों की परंपरा उसके सामने आती है, वह पचाता जा रहा है। फिर भी उसकी बुभुक्षा शांत नहीं, नए नए प्रेमियों को खोजता फिरता है, एक की रीझें पचा गया, दूसरे की पचा गया, तीसरे की पचा गया। रीझ पचाने की कोई चीज नहीं है कोई खाद्य नहीं है। अभिधेयार्थ बैठता नहीं, इसलिए पचाने का अर्थ '(रीझ से) प्रभावित न होना' करना पड़ता है। एक प्रेमी के रीझने से प्रभावित नहीं, दूसरे के रीझने से प्रभावित नहीं। रीझ उसके मन पर कोई प्रभाव ही नहीं डालती। इसलिए 'पेट' का अर्थ 'मन' करना पड़ता है। भूखे डोलने का अर्थ 'नए नए प्रेमियों की रीझ की खोज में प्रवृत्त रहना' मानना पड़ता है। घनआनंद ने चलते मुहावरों से, नित्य व्यवहार के प्रयोगों से, साधारण वाग्योगों से असाधारण कार्य-साधन किया है। यहाँ अर्थपरंपरा एक के अनंतर दूसरी आपसे आप निकलती है। आपके पेट अर्थात् मन की बात समझ में नहीं आती। क्यों नहीं समझ में आती? इसी से कि इस प्रकार का प्रभावग्रहणपराङ्मुख कदाचित् ही कोई मिले। इससे आप सहृदय नहीं हैं; असहृदय हैं, क्रूरस्वभाव हैं, वज्र-कठोर हैं। ऐसे निर्दय से प्रेम! अपना अभाग्य! अपने पास रीझ ही संपत्ति थी, उससे कुछ सिद्धि नहीं, अतः जीवन भर दुख भोगना ही हाथ। इसी क्रम से अनेक अर्थ—एक से दूसरा, दूसरे से तीसरा—निकलते रहते हैं।

प्रिय की बुभुक्षा का तो यह हाल, प्रेमी की बुभुक्षा का इससे भी विकट हाल। पूरा भस्मक रोग ही हो गया है—'देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं'। भस्मक रोग वह है जिसमें रोगी सामान्य भोजन का कई गुना करने लगता है। पर उसकी भूख शांत नहीं होती। वह नित्य दुबला होता जाता है। उसके शरीर में रक्त नहीं बनता। ऐसे रोगी से लंघन नहीं कराया जाता। भोजन देते हैं, औषध करते हैं। क्रमशः उसका रोग शांत होता है। लंघन करने से तो रोग असाध्य हो जाता है। यदि ऐसे को यह रोग हो जो बड़ा चटोर हो, पेटू हो तो रोग दुःसाध्य रहता है। पेटू भी कई प्रकार के होते हैं—साधारण और असाधारण। असाधारण पेटू के लिए तो भारी कठिनाई होती है। यहाँ आँखें केवल पेटनी, पेटू नहीं हैं, निपेटनी हैं, 'नितराम् पेटू' हैं। फिर भी कभी कभी नहीं नित्य लंघन और रोग भस्मक! असाध्य स्थिति स्पष्ट है। 'भसमी' शब्द से ही भस्मक रोग का संकेत कर दिया गया है। कई शब्दों के अर्थ वाच्य से लक्ष्य-व्यंग्य आपसे आप हो जाते हैं। आँखें प्रियदर्शनेप्सु

हैं, अतिदर्शनेप्सा है उनमें, पर प्रिय के दर्शन कभी नहीं होते। विरह की दाहक स्थिति, भीषण जलन आँखों में। प्रिय के दर्शन के अंजन से कुछ लाभ हो सकता है, पर वह अप्राप्य। इसलिए अब आँखें रहें इसमें सदेह है। प्रियदर्शन ही से सतोष हो सकता है, पर वह भी दुर्लभ। प्रिय के रूप पर रीझा है प्रेमी, प्रेम का कारण रूपलिप्सा है। आँखों को हुए अधिक कष्ट से यह सकेत मिलता है। यहाँ 'भस्मी' शब्द से सहसा भस्मक रोग पर सबका ध्यान नहीं जा सकता, पर ध्यान न भी जाए तो पेट की भस्मी व्यथा, बुभुक्षा, भीषण बुभुक्षा अर्थ पर पहुँचने में कोई बाधा नहीं है। जहाँ तीखी बुभुक्षा पर ध्यान गया सारी योजना स्पष्ट है। केशवदास में कोई शब्द पारिभाषिक अर्थ से सबद्ध हुआ तो उस शास्त्र का ज्ञान बिना हुए अर्थ ही नहीं खुलेगा। घनआनद में यह बात नहीं है। घनआनद में जहाँ कोई पारिभाषिक शब्द भी आ पड़ा है वहाँ भी प्रसगप्राप्त अर्थ बलात्कृत नहीं होता।

वाणी का प्रयोग जैसा यह कवि कर गया, कोई क्या करेगा! अपनी विरह-वेदना की असीमता को न जाने कितने प्रकार से इन्होंने व्यक्त किया है। कहते हैं—

जो दुख देखति हौं घनआनँद रैनि-दिना बिन जान सुतंतर।
जान वई दिन-राति बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर॥

प्रिय के वियोग में जो कष्ट हो रहा है वह कष्ट, वह वेदना, कालावच्छिन्न है। जिस समय वह पीड़ा सही जा रही है उस समय जैसी व्यथा हो रही है, उसके अनतर फिर किसी दिन या किसी रात में जब उसकी अनुभूति की जाएगी तो वैसी अनुभूति नहीं हो सकेगी। जिस समय अनुभूति हुई उसी समय अनुभूति का वह प्रकृत रूप अनुभूत था। उसके अनतर स्वयम् अनुभव करनेवाला भी चाहे तो उसका वैसा ही अनुभव नहीं कर सकता। स्मृति के समय उस विरहानुभूति का प्रकृत रूप कथमपि अनुभूत नहीं हो सकता। जिसका अनुभव ही पुनः नहीं किया जा सकता उसे वचनों के द्वारा कहना तो और भी कठिन है। अनुभव करनेवाले को ही कहना हो तो भी वह कुछ कह सके। अनुभव हृदय में और कहना जीभ को। भला जीभ उसे क्या कह सकेगी? फलतः अनुभूत दशा और कथित रूप में दिन और रात का अतर हो जाता है।

जहाँ अनुभूति की यह स्थिति हो उस मनुष्य के सयोग और वियोग को पतग और मीन से मिलाना घनआनद की असहृदयता जान पड़ती है। मनुष्य

चेतन प्राणी ही नहीं है, वह चेतन सृष्टि का सर्वोच्चम प्राणी है। सृष्टि के विकास में वह सबसे अंत में अपनी विकसित चेतना लेकर अवतीर्ण हुआ है। वह अपने लिए सुख के साधन एकत्र करने में ही अन्य प्राणियों से विशिष्ट नहीं है। दुःख के सहने में भी वह अन्यों से बहुत बढा-चढा है। रीतिकाल के शास्त्रपरंपरानुयायी 'बिछुरनि मीन की औ मिलनि पतंग की' को आदर्श मानते थे। घनआनद ने इसी से इसका खंडन किया है—

मरिबो बिसराम गनै वह तौ यह बापुरो मीत-तज्यौ तरसै।
वह रूप-छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै।
घनआनँद कौन अनोखी दसा मति आवरी बावरी ह्वै थरसै।
बिछुरैं-मिलैं मीन-पतंग-दसा कहा मो जिय की गति कौं परसै॥

कहाँ तो 'बिछुरैं-मिलैं मीन-पतंग-दसा' को कोई आदर्श दशा, सबसे ऊँची दशा, मान रहा है। आदर्श वही होता है जहाँ तक सामान्यतया पहुँचा न जा सके। मीन और पतग की साधना दूसरों की दृष्टि में चाहे जितनी ऊँची हो, पर घनआनद की दृष्टि में वह इतनी नीची है कि मनुष्य की संयोग-वियोग-साधना का स्पर्श भी नहीं कर सकती, बराबर होना तो दूर, ऊँची होना असंभव। उसके लिए तर्क देते हैं कि मीन तो प्रिय से वियुक्त होते ही मरण में विश्राति लेता है, पर मनुष्य प्रिय से वियुक्त होने पर उसके लिए बराबर तरसता रहता है। अन्यों ने अतर यह समझ रखा है कि मीन प्रिय के वियोग में मर जाता है और मनुष्य मरता नहीं इसलिए उसका विरह घटकर है। स्थिति यह है कि विरही मरण से बढकर पीड़ा सहता रहता है और इस आशा में जीता है कि प्रिय से भेंट होगी। पर मीन तो मरा और सारे कष्टों से उसे छुट्टी मिली। उसमें पीड़ा के सहने की शक्ति नहीं, वह अशक्त विरही है। उसकी एवम् मनुष्य की क्या बराबरी। रहा पतंग। वह प्रिय के रूप को देखकर उसकी छटा से आकृष्ट होकर अपने को सँभाल नहीं पाता। इसलिए उसमें, दीपशिखा में, जाकर वह गिर पड़ता है। मीन विरह नहीं सँभाल पाता, पतंग रूपछटा नहीं सँभाल पाता। ऐसा उतावला मनुष्य नहीं होता। वह प्रिय के रूपतेज से तपता रहता है। फिर भी उसकी रूपछटा देखता रहता है और साथ ही आँसू बरसाता रहता है। उसके तेज से तपने और आँसू बरसाने से यह स्पष्ट है कि वह पीड़ा पा रहा है उसकी वेदना पतंग की वेदना से, जो उसे दीपशिखा में जलने से होती है, कहीं बढकर है। फिर भी वह रूपज्वाला में भस्म होकर शरीर का परित्याग नहीं

प्रेम को महोदधि अपार हेरिकै बिचार
बापुरो हहरि वार हीँ तें फिरि आयो है।
ताही एकरस ह्वै बिबस अवगाहैँ दोऊ
नेही हरि-राधा जिन्हैँ देखैं सरसायौ है।
ताकी कोऊ तरल तरंग-सग छूट्यौ कन
पूरि लोकलोकनि उमगि उफनायौ है।
सोई घनआनँद सुजान लागि हेत होत
ऐसे मथि मन पै स्वरूप ठहरायौ है॥

प्रेम का महोदधि ऐसा अपार है कि उसका पार पाना तो दूर विचार (ज्ञान) इसी तट से, वार से ही, लौट आता है। ज्ञान या बुद्धि द्वारा प्रेम के महासागर का पार पाना कठिन है। उस प्रेमसागर में प्रेम से विवश होकर एकरस राधा और कृष्ण अवगाहन करते हैं। प्रेम का यह समुद्र उन्हें देखकर उसी प्रकार सरसाता है, बढता है, जिस प्रकार चद्र को देखकर सागर में तरगें उठती हैं, ज्वार आता है। उस प्रेमसागर की तरग का एक एक कण इतना विशाल है कि अनेक लोकों में जो प्रेम छाया हुआ है वह भी उसके कण मात्र से कम है। वह कण स्वयम् ऐसा विशाल समुद्र है कि सारे लोकों में प्रेम को पूरित करने पर भी वह उफनाता रहता है। उन लोकों की सीमा में न समा सकने के कारण वह उबरता है। भू-लोक में उसी कण का एक अश है। जगत् के जितने प्रेम हैं उसी के अंग हैं। घनआनद और सुजान का प्रेम भी उसी कण के स्पर्श से हुआ है। प्रेम के इस स्वरूप की कल्पना मन को मथकर की गई है। यहाँ जिस परम भाव या महाभाव के रूप में प्रेम की चर्चा की गई है वह भक्ति-सप्रदायों की प्रेम-साधना का स्वरूप है। उस परम भाव के अतर्गत सब प्रकार की सत्ताएँ आ जाती हैं। भक्त भावात्मक या प्रेमात्मक सत्ता को ही परम भाव मानते हैं। इसी से ज्ञान उसकी सीमा में प्रवेश नहीं कर पाता। यह प्रेम या इस प्रेम की साधना साधारण नहीं—

चदहि चकोर करै सोऊ ससि-देह धरै
मनसाहू रै एक देखिबे कौं रहै द्वै।
ज्ञानहूँ तें आगैं जाकी पदवी परम ऊँची
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।

जान घनआनँद अनोखो यह प्रेमपंथ
भूले ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै।
बुरो जिन मानौ जौ न जानौ कहूँ सीखि लेहु
रसना के छाले परैं प्यारे नेह-नाव छ्वै ॥

ब्रह्म स्वयम् द्विधा होकर इस प्रेम-साधना में अवतीर्ण होता है। वह स्वयम् साधक बन जाता है, प्रेमी बन जाता है और प्रिय की ओर वैसे ही आकृष्ट होता है जैसे चद्र की ओर चकोर। प्रेम की साधना इतनी ऊँची साधना है कि इसके लिए स्वयम् ब्रह्म को जीव का रूप धरकर उसमें लगना पड़ता है, लीला करनी पड़ती है। साध्य रहने में वह सुख या आनद नहीं जो साधक बनने में है। यह परम भाव ज्ञान से आगे है, उसकी सीमा समाप्त हो जाने पर इसका आरंभ होता है। यह रसात्मक साधना है। इस साधना की विशेषता है कि जो सासारिक विषय-भोग में पडे हुए हैं यदि कहीं इसकी ओर आकृष्ट हुए तो उन भोगियों का भोग इस महासागर में डूब जाता है। विषयी अपने विषय-भोग का परित्याग इसमें सहज ही कर देते हैं। यह राग की वह दिव्य भूमि है जहाँ पहुँचकर परम राग का उदय होता है और जगत् के साधारण राग उसके सामने नगण्य और तुच्छ दिखाई देते हैं। इसी से इस प्रेममार्ग की साधना विलक्षण बताई जाती है। जो इसमें अपने को सर्वात्मना लीन कर देते हैं वे ही इस मार्ग में चलते हैं। जिन्हें अपनी सुध-बुध बनी हो वे इसमें नहीं चल सकते। सुध-बुध ज्ञान से सबद्ध है। इस मार्ग पर ज्ञान का दखल है ही नहीं। इस प्रेममार्ग का नित्य लक्षण है परम संताप की साधना। इस प्रेम का नाम लेने पर ही जीभ में छाले पड़ जाते हैं। इसलिए कि विरह की वेदना का, परम ज्वाला-मयी वेदना का, जीभ ने अनुभव किया कि वह संतप्त हुई। जहाँ प्रेम की चर्चा में ही यह स्थिति है वहाँ उसकी साधना करना, उसके मार्ग पर चलना कितना कठिन है केवल कल्पना से ही जाना जा सकता है। इसी से इस प्रेम-साधना का नित्य लक्षण है विरह। कुंज में जो गोपियाँ श्रीकृष्ण के छिपने पर व्याकुल होती हैं उसमें छिपने में कम से कम आँख से ओझल हो जाना तो स्पष्ट है। यदि यह बताया जाय कि राधा और कृष्ण के प्रेम की चरम सीमा भक्ति-सप्रदाय की साधना इस रूप में मानती है कि प्रियाजू के निकट रहते हुए भी संयोग में वे यह अनुभव करने लगते हैं कि प्रिया वहाँ नहीं हैं और व्याकुल हो जाते हैं। स्वयम् प्रियाजू उन्हें बारंबार समझा-

कर यह अनुभूति कराने में बहुत देर में समर्थ होती हैं कि मैं यहीं हूँ, स्थानांतर में नहीं। भावसाधना या रससाधना सगुण में ही अपने प्रकर्ष में हो सकती है। जो ज्ञान का विषय हो सकता है वह प्रेम का विषय भी हो सकता है यह तर्क भी स्वयम् ज्ञान ही है, प्रेम नहीं। निर्गुण और सगुण ब्रह्म के दो रूपों में मध्यकालीन भक्तों को आपत्ति नहीं है। आपत्ति इस अंश में है कि निर्गुण सबकी साधना का विषय हो सकता, साधारण जनों की साधना का विषय हो सकता। भावात्मक सत्ता न होने के कारण वह उनके भावों के टिकाने का समुचित आलंबन नहीं हो सकता। वह विरही की पुकार से द्रवीभूत नहीं हो सकता—

तोहि सब गावैं एक तोही कौं बतावैं वेद
पावैं फल ध्यावैं जैसी भावनानि भरि रे।
जलथलव्यापी सदा अंतरजामी उदार
जगत में नावँ जानराय रह्यौ परि रे।
एते गुन पाय हाय छाय घनआनँद यौं
कैधौं मोहिं दीस्यौ निरगुन ही उघरि रे।
जरौं बिरहागिनि मैं करौं हौं पुकार कासौं
दई गयौ तू हू निरदई ओर ढरि रे॥

उस प्रेम की साधना के लिए ज्ञान की दृष्टि अपेक्षित नहीं है। प्रेम की साधना से पीड़ा भी मधुर हो जाती है। माधुर्य का कारण यह है कि प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचने पर जगत् के द्वंद्व-भाव का विनाश हो जाता है। ज्ञान भेद करानेवाला है प्रेम या राग अभेद उत्पन्न करनेवाला है। राग-द्वेष जगत् के द्वंद्व हैं। परम राग या महाराग की भूमिका में प्रवेश करने पर केवल राग रह जाता है। हर्ष और विषाद तो केवल स्वादवाद रहते हैं। हर्ष का अर्थात् आनंद का पूर्ण अनुभव बिना विषाद की अनुभूति के नहीं हो सकता, इसलिए विषाद भी आनंद की साधना का अंग बन जाया करता है। प्रेम की ऐसी परम दृष्टि जिसे हो उसी की दृष्टि दृष्टि है अन्यथा अन्य आँखें मोरपंख में बनी आँखों की भाँति ही जड़ हैं—

मोरचंद्रिका सी सब देखन कौं धरे रहैं
सूछम अगाध-रूप साध उर आनहीं।
जाहि सूझ बिनहूँ सो देखि भूली ऐसी दसा
ताहि ते बिचारे जड़ कैसें पहिचानहीं।

जान प्रानप्यारे के बिलोकें अबिलोकिबे कौं
हरष-बिषाद स्वादबाद अनुमानहीं।
चाह मीठी पीर जिन्हैं उठति अनदघन
वेई आँखैं साखैं और पाँखैं कहा जानहीं॥

प्रेम का स्वरूप अत्यंत सूक्ष्म और उसकी गंभीरता अगाध है। वह रूप जिन्हें दिखता है जब वे भी अपने को भूल जाया करते हैं, तब जड़ उस प्रेम को क्या पहचान सकेंगे। प्रिय के दर्शन पर, उसके संयोग में भी, उसको आगे भी देखते ही रहने की लालसा के कारण हर्ष और विषाद स्वादवाद के रूप में होते हैं। संयोग में भी वियोग की स्थिति संयोग की परम साधना के लिए ही होती है। इस प्रकार की मीठी पीड़ा जिनकी आँखों में हो, जिनके हृदय में यह मधुर वेदना हो वे ही नयनवत हैं, अन्यथा और कुछ। घन-आनंद की इस 'मधुर वेदना' को महादेवी वर्मा की 'परम पीड़ा' से मिला देखिए, दोनों में वही अंतर है जो ब्रह्म की सगुण और निर्गुण धारणा के कारण संभाव्य है।

घनआनंद 'विरही बिचारन की मौन मैं पुकार है' क्यों कहते हैं, यह कदाचित् कुछ स्पष्ट हो गया होगा। यही कारण है कि वे ससार के प्राणियों से किसी प्रकार की सहायता की अपेक्षा नहीं करते। उनकी वेदना को केवल हरि ही जान सकते हैं—

पहिचानै हरि कौन
मोसे अनपहिचान कौं।
त्यौं पुकार मधि-मौन
कृपा-कान मधि-नैन ज्यौं॥

ससार के व्यक्ति विरही की पुकार इसलिए नहीं सुन पाते कि उसकी पुकार मौन में रहती है। विरही स्वयम् तो कुछ कहता नहीं, जो उसकी विरहावस्था से देख-समझकर जान ले वही उसकी वेदना को हृदयंगम कर सकता है। पर मौन की पुकार सुनने के लिए ससारियों के पास कान कहाँ। जब नेत्रों में ही कान हों तभी तो कोई उसे सुने। ऐसी दृष्टि जगत् के किसी व्यक्ति के पास नहीं, होगी तो भी काम सर नहीं सकता। इसलिए कि यदि किसी ने नेत्रों के कान से पुकार सुन भी ली तो वह उस वेदना के परिमार्जन का उपाय करने की शक्ति कहाँ पाएगा! उसके जान लेने से तो काम नहीं

चलेगा। किसी ने जान लिया कि अमुक विरही है इतने से ही तो विरही का कष्ट दूर नहीं हो सकता। जब जानकार में समानुभूति हो तो कदाचित् ऐसा कुछ हो सके। पर विरही की सी वेदना का अनुभव करनेवाला शीघ्र जगत् में मिलता नहीं। यदि ऐसा भी मिल जाए तो भी कठिनाई है। इसलिए कि यदि कोई समानुभूति करनेवाला मिला तो वह समानुभूति करके रह जाएगा। पहले तो विरही कुछ कहता नहीं। 'इस वेदना में पड़े हम कष्ट झेल रहे हैं इससे हमें उबारो' यह भला कोई विरही क्यों कहने लगा, जब कि उसकी साधना मौन-साधना है। अपनी ओर से उसके कष्टनिवारण का कोई प्रयास करे तो भी क्या? उस कष्ट के निवारण का सामर्थ्य उसमें कहाँ से आएगा। पर हरि के नेत्रों में 'कृपा' के कान लगे होते हैं। वे पुकार सुनते ही नहीं, कष्ट दूर करने के लिए कृपा भी करते हैं। कृपा किसी आपन्न के प्रति की जानेवाली वह अनुकूलता है जो अयाचित हो। याचित अनुकूलता का नाम 'अनुग्रह' है। भरत राम से दोनों प्रकार की अनुकूलता पाने का उद्घोष तुलसीदास के मानस में यों करते हैं—

कृपा अनुग्रह अंबु अघाई।

राम ने याचित अनुकूलता ही नहीं दिखाई, जिसकी अपेक्षा थी उसे स्वयम् अयाचित भी कर दिया। कृपा की वारिधारा और अनुग्रह के वारि-प्रवाह दोनों से भरत तृप्त हो गए। परिपूर्ण अनुग्रह और कृपा दोनों की प्राप्ति उन्हें हुई। 'ग्रह—ग्रहण—याचना' तब 'अनुग्रहण—अनुकूलता-प्रदर्शन'।

घनआनद की कृति में रहस्यात्मक प्रवृत्ति की झलक सूफी-भावना और फारसी-साहित्य की प्रेरणा से प्रस्तुत होने का प्रमाण उपस्थित करती है। पर रहस्य किस प्रकार सगुण-साधना में विलीन हो गया है इसका पता भी उनकी रचना स्थान-स्थान पर देती है—

अंतर हौ किधौं अंत रहौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जौ घनआनँद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं॥

घनआनद की रचना की सारी विशेषताएँ भूमिका के छोटे आकार में नहीं बताई जा सकतीं उनके लिए ग्रंथ की ही आवश्यकता है। प्रस्तुत ग्रंथ में

उनकी सारी विशेषताओं का सूक्ष्म और अनुसंधानवरिष्ठ उद्घाटन किया गया है। घनआनद की विशेषताओं के उद्घाटन के कुछ लघुप्रयास इसके पहले भी हो चुके हैं। पर वे लघुप्रयास मात्र हैं। जितने ललितविस्तर से और जितनी अधिक विशेषताओं का उद्घाटन गौड़जी ने किया है वह हिंदी में घनआनद की आलोचना का सर्वप्रथम महाप्रयास है। इस ग्रंथ और इस अनुसधान के सबंध में भी कुछ 'वार्ता' है। मैं स्वयम् काशी विश्वविद्यालय में कभी अनुसधाता था और मेरे निरीक्षक थे स्वर्गीय आचार्य रामचद्र शुक्ल। मेरे अनुसंधान का विषय था—'अलकारशास्त्र के परिवेश में भावों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन (साइकोलाजिकल स्टडी आव् इमोशंस इन दि लाइट आव् अलकारशास्त्र)। अभी अनुसंधान की अवधि समाप्त भी नहीं हो पाई थी कि मुझे वहीं प्राध्यापक-पद पर कार्य करने का अवसर मिल गया। जब तक मैं अपने अनुसधान की परिसमाप्ति करूँ तब तक गुरुदेव दिवंगत हो गए। किसी कोने से टीका-टिप्पनी हुई कि यह विषय हिंदी-साहित्य से कम, सस्कृत-साहित्य से अधिक और मनोविज्ञान से विशेष सबद्ध है। इससे समीक्षा के परितोषार्थ मैंने विषय का परिवर्तन कर दिया। इस बार मेरे अनुसंधान का विषय हुआ 'मध्यकालीन स्वच्छद काव्यधारा' (रोमाटिक स्कूल आव् मिडीवल एज)। यह विषय और इसकी सक्षिप्त विषय-सूची भी विश्वविद्यालय की अनुसंधान-समिति से स्वीकृत हो गई। इस सिलसिले में 'स्वच्छंद काव्यधारा' के कवियों के ग्रंथों का आलोड़न करते करते उनके संपादन की आवश्यकता का अनुभव हुआ। उसमें लग जाने से अतिकाल हो गया और गुरुकल्प सभी मनीषी दिवंगत हो गए। गौड़जी जब अनुसधान में प्रवृत्त हुए तो मैंने 'घनआनद' पर अन्वेषण करने का सुझाव दिया। जब उनके परामर्शदाताओं की मुखमुद्रा इतने मात्र से सुमुखता की नहीं हुई तो उसके साथ 'मध्यकालीन स्वच्छद काव्यधारा' और जोड़ लेने का प्रस्ताव किया गया। मेरा विषय डी० लिट्० के लिए स्वीकृत था। पर गौड़जी को नियम के परिपालन से प्रस्तुत प्रबंध के महाप्रयास पर भी पी-एच्० डी० की ही उपाधि मिली। 'उपाधि' की अधिक चर्चा बेकार है।

मैं घनआनंद पर आलोचना लिखने के लिए प्रतिश्रुत था, 'घनआनद—ग्रथावली' की भूमिका में स्पष्ट लिख चुका हूँ। गौड़जी ने यह भी कर दिया—मनोहर, गवेषणा की गरिमा से गुरु। यहीं यह बतला देना भी आवश्यक है कि यह ग्रंथ मुद्रित होकर भी मेरे आसरे समयातिक्रांति करता

पहला परिच्छेद

(जीवन-वृत्त, समय और सुजान)

१—जीवन-वृत्त

कविवर आनदघन जी का जीवन वृत्त उनकी कविता की भाति गूढ एवं रहस्यमय-सा है। निश्चित और शृखलाबद्ध जीवनी कहीं भी प्राप्त नहीं होती है। इधर उधर बिखरी किंवदतियों तथा प्रमाणों को सकलित कर कवि के जीवन-वृत्त का निर्णय करना पड़ता है।

सब से पहले गदार्दतासी के 'इस्त्वार दल लितरेत्यूर एँ ऐंदुस्तानी' में जिसका हिंदी-साहित्य-सबधित अंश डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय द्वारा 'हिंदुई साहित्य का इतिहास' नाम से अनूदित हुआ है, 'आनद' नाम के एक कवि का उल्लेख मिलता है। इसके विषय में इतिहासकार का कथन है कि वह लोकप्रिय गीतों का रचयिता था और उसके कुछ पद्य डब्ल्यू प्राइस द्वारा 'हिंदी ऐंड हिंदुस्तानी सेलेक्शंस' नामक पुस्तक में संगृहीत हुए थे।[1] इस उल्लेख से निश्चियपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि आनद नाम का व्यक्ति आनंदघन ही है या अन्य कोई। लोकप्रिय गीतों की रचना आनदघन की पदावली हो सकती है। पर यह सब अनुमान मात्र है।

इसके अनतर महादेवप्रसाद ने अपने साहित्यभूषण में आनदघन का सतोषजनक मात्रा में विवरण दिया था। पर वह ग्रथ उपलब्ध नहीं है। उसको आधार मान कर सर जार्ज ग्रियर्सन ने अपने 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर आफ हिंदुस्तान' में इनका विवरण दिया है। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ठा० शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज' का भी उपयोग किया था। दोनों के प्रमाण पर आनंदघन का विवरण देते हुए ग्रियर्सन ने इन्हें जाति के कायस्थ तथा बादशाह बहादुरशाह का मुशी बताया है। मृत्यु से पूर्व ये कार्य-मुक्त होकर वृन्दावन चले गए थे और वहीं नादिरशाह के मथुरा आक्रमण में मारे गए। ग्रियर्सन ने कोकसार के लेखक आनदघन को, जिसका समय सरोज के अनुसार सन् १६५४ है, इनसे अभिन्न माना है। साथ ही यह भी लिखा है कि येही कभी कभी अपना नाम घनआनद लिखते थे।[2]

१—हिंदुई साहित्य का इतिहास पृ० ६

शिवसिंह सरोज ने घनानद और आनदघन दो कवि दिए हैं। आनंदघन के नाम से दो सवैये उद्धृत किए हैं। एक तो "आपुहि ते तन हेरि हँसे तिरछे करि नैनन नेह के चाउ में," से आरभ होता है। यह सवैया 'घन-आनद ग्रथावली' के प्रकीर्णक भाग में २६ वा पद्य है। दूसरा सवैया यह है—

जैहै सबै सुधि भूलि तुम्हें फिरि भूलनि मो तन भूलि चितै है।
एक को आँक बनावत मेटत पोथिय काँख लिए दिन जै है।
साँची हौं भापति मोहि कका की सों प्रीतम की गति तेरी हू ह्वै है।
मोसों कहा इठलात अजासुत कैहौं ककाजी सों तोहूँ सिखैहै॥

× × × ×

यह पद्य आनदघन की अब तक की प्राप्त रचनाओं में नहीं मिला, और नाही इसमें कवि का कहीं नाम है। साथ ही आनदघन की सी भाषा-शैली या भाव-शैली भी इसमें नहीं है। आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र का इस विषय में विश्वास है कि यह प्रसिद्ध कवि केशव की पुत्र-वधू की रचना है। उन्होंने जब विज्ञानगीता और प्रबोधचद्रोदय का भाषानुवाद किया तो उनके सुपुत्र यौवनावस्था में ही वेदात विरक्त हो गए। इस पर उनकी युवती भार्या ने बकरे को सबोधित कर अपने पति की विरक्तावस्था का परिचय श्वसुर महोदय को कराया था। सरोज ने आनंदघन को दिल्लीवाले लिखा है।

घनआनंद को पृथक कवि मानते हुए उनके नाम से यह सवैया उद्धृत किया है—

गाइहौं देवी गनेस महेस दिनेसहि पूजत ही फलपाइहौं।
पाइहौं पावन तीरथ नीर सु नेकु जहीं हरि कों चित लाइहौं।
लाइहौं आछे द्विजातिन कों अरु गोधन दान करों चरचाइहौं।
चाह अनेकन सा सजनी घनआनद मीतहि कंठ लगाइहौं॥

× × ×

इस में घनआनद का नाम है पर सवैया की शैली आनदघन कवि की शैली से नहीं मिलती। अतः श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र का तो यही विश्वास है कि यह पद्य भी किसी रीति कवि का है, जो क्रिया-विदग्धा नायिका की उक्ति में लिखा गया है। पर ऐसी कोई विशेष बात भी इस पद्य में नहीं दीखती जिसके कारण यह घनआनद का न हो सके। सवैया अलकार शैली से लिखा गया है। घनआनद भी अपनी प्रारभिक अवस्था में रीति-परपरा

के अनुयायी थे। उनके इस शैली के अनेकों पद्य संग्रह में विद्यमान हैं। अस्तु। इस पद्य के उनके होने या न होने से विशेष अंतर नहीं पड़ता। सरोजकार ने इनका समय संवत् १७१५ माना है।[१] साथ ही लिखा है कि कालिदासहजारा में इनके पद्य देखने को नहीं मिलते कालिदासहजारा संवत १७४६ में पूर्ण हो गया था।

महाराजा श्री रघुराजसिंह जू देव ने अपने 'भक्तमाल' में (सवत् १६००-१६३६) घनआनद के जीवन-वृत्त का अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण दिया है और अपने कथन का आधार मथुरा की जन-श्रुति बताई है।

घनानंद की कथा अनेका। ब्रज में विदित अहै सविवेका ॥
घनआनंद के विपुल कवित्ता। अबलौं हरत कविन के चित्ता ॥

विवरण इस प्रकार है। दिल्ली का कोई शाहजादा मथुरा में आया था। पर मथुरियों ने जूतों की माला पहना कर उसका सत्कार किया। इस पर वह अत्यधिक कुपित हुआ और दिल्ली से उसने अपनी सेना बुला ली। सेना ने मथुरावासियों को मारा-काटा। जब यह मार-काट हो रही थी तो घनानद वशीवट में बैठे भगवान की भावना सखी-भाव से कर रहे थे। उनके हाथ में पान का बीड़ा था। खाने ही वाले थे कि भगवान के रास-विलास का ध्यान आ गया और उसी में लीन हो गए। बीड़ा हाथ में ही लगा रहा। भावना में ही लीन रहते उन्हें दिन और रात बीत गए। गिरधारी श्रीकृष्ण ने भावना के बीच में ही स्वय आकर अपना हाथ फैला कर वह बीड़ा घनानद के मुख में लगा दिया। इस बीड़ा से जो मुखराग हुआ था वह सब ने देखा था।

'सोइ बीरी मुख मेलिगौ लगे मुरावन सोइ।
सोइ बीरी की रागमुख प्रगट लख्यौ सब कोइ।'

ऐसे साक्षाद्धर्मा महात्मा को भी यवनों ने तलवार से काट डाला पर घनानद जी के प्राण नहीं निकले इस समय उन्होंने स्वय भगवान से प्रार्थना की कि हे नदकुमार और किस लिए मुझे ससार में जीवित रखते हो क्यों नहीं बुलाते हो।

'कौन हेतु राखै ससारा। क्यों न बुलावै नदकुमारा ॥'

प्रार्थना के बाद यवनों से कहा कि इस बार फिर तलवार मारो। अब की बार मेरा सिर अवश्य कट जावेगा यवनों ने ऐसा ही किया। घनानद

१—शिवसिंह सरोज सप्तम सस्करण पृ० ३८०

जी का सिर धड़ से पृथक हो गया। मरते समय उनके शरीर से रक्त नहीं निकला।

'घनआनद तन कढ्यौ न लोहू, सो चरित्र लखि परयौ न कोऊ', इस विवरण से दो बातों का पता लगता है। एक तो आनद सखी-भावना के भक्त थे, दूसरे इनकी मृत्यु यवनों के हाथ से हुई। श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने भक्तमाल के इस किंवदंती-मूलक विवरण के आधार पर कवि के समय का निर्धारण करने का प्रयत्न किया है। उनके अनुसार शाहजादे का मथुरा में अपमान होने की घटना औरंगजेब के समय की है और उसका संबंध या तो औरंगजेब से या फिर उसके मथुरास्थित फौजदार मुर्शिदकुलीखाँ तुर्कमान अथवा अबुलनबीखाँ के साथ घट सकती थी। मुर्शिदकुलीखा बड़ा अत्याचारी शासक था। उसके विषय में मसीरुल उमरा नामक पुस्तक में लिखा है कि--

'कृष्ण के जन्म समय पर मथुरा से जमुना के दूसरे पार गोवर्धन पर हिंदू पुरुषों और स्त्रियों का भारी जमाव होता है। खान धोती पहन कर और माथे पर तिलक लगा कर हिंदू की सूरत में वहाँ घूमा करता। जहाँ उसने किसी चाँद को लजाने वाली खूबसूरत औरत को देखा कि वह बाघ की तरह लपका और पहले से ही जमना में खड़ी नौका पर बैठ कर आगरे की ओर भाग गया। औरत के रिश्तेदार शर्म के मारे प्रकट नहीं करते थे कि उनके साथ क्या हुआ।'

ऐसे शासकों के साथ प्रजा का दुर्व्यवहार होना संभव है। फलतः यह घटना सन् १६६० के आस-पास घट सकती है आदि। इसी समय घन-आनद की मृत्यु हुई होगी, ऐसा अनुमान श्री शंभुप्रसाद बहुगुना का है। उन्होंने ना० प्र० सभा की सन् १६१७, १८ की 'प्रीतिपावस' की खोज रिपोर्ट को अपनी बात के पोषण में उपस्थित किया है, जिसमें 'प्रीतिपावस' का समय सन् १६५८ अनुमान किया गया है। बहुगुना जी ने यह सब क्लिष्ट कल्पना व्यर्थ ही की है। आनदघन की मृत्यु का समय तो निश्चित-रूप में प्रमाणांतरों से प्राप्त होता है जो इसके अनंतर का है। इसे हम आगे देखेंगे।

जीवनी के संबंध में ही इससे और अधिक विवृतरूप में आनदघन जी के विषय में गोस्वामी श्री राधाचरण जी ने अपने एक छप्पय में लिखा है। छप्पय इस प्रकार है—

दिल्लीश्वर नृप निमित एक ध्रुपद नहिं गायौ।
पै निज प्यारी कहे सभा को रीझि रिझायौ॥
कुपित होय नृप दिए निकास वृंदावन आए।
परम सुजान सुजान छाप पद कवित बनाए॥
'नादिरशाही ब्रज रज मिले कियन नेकु उच्चार मन।
हरि भक्ति वेलि सिंचन करी घनआनद आनदघन॥'

कवि के साथ सुजान का संबंध था। उसके प्रेम के कारण दिल्ली से उसके निर्वासन की बात स्पष्टरूप से गोस्वामी राधाचरण जी ने ही सब से पूर्व लिखी है। औरों ने इस विषय में जो कुछ लिखा है वह उन्हीं के अनुकरण पर। राधाचरण जी के अनुसार दिल्लीश्वर नृपति के लिए जो ध्रुपद नहीं गाया वह नृपति कौन था—यह स्पष्ट नहीं होता। दूसरे सुजान छाप से पद और कवित्त दोनों बनाने की बात इस में कही गई है। वास्तव में जो पदावली इनकी उपलब्ध हुई है उसमें सुजान छाप नहीं है। वह केवल कवित्तों में ही है। तीसरी विशेष बात यह सुस्पष्ट होती है कि कवित्त और पदों का रचयिता एक ही है, दो नहीं। इसी के प्रसंग में छप्पय के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि जो प्रेमी 'घनआनद आनदघन' था उसी ने हरिभक्ति वेलि का सिंचन किया, अर्थात् प्रेमी कवि ही बाद में भक्त बन गया था। आनदघन ने अपने नाम के रूपक आनद के घन को लेकर जैसे समस्त कविता की रचना की है उसी की ओर छप्पय की अंतिम पंक्ति संकेत करती है। 'हरि भक्ति वेलि सिंचन करी घन आनद आनदघन' इस प्रकार गोस्वामी जी के पद्य में भले ही सन्-संवत् का उल्लेख नहीं है, पर कवि के जीवन की प्रमुख घटना का स्पष्ट उल्लेख है और चार निश्चित संकेत इनके विषय में प्राप्त होते हैं। श्री वियोगीहरि ने अपने 'कवि कीर्तन' में (संवत् १९८०) इसी विषय में एक पद्य लिखा था जिसका आधार गोस्वामी राधाचरण जी का ही छप्पय था।[1]

पद्य इस प्रकार है।

घनआनद सुजान जान को रूप दिवानो
वाही के रंग रंग्यौ प्रेम फंदनि अरमानो

१—वियोगीहरि ने ब्रजमाधुरीसार में स्पष्ट लिखा है कि आनदघन जी की जीवनी के संबंध में किसी पुस्तक में कोई मनोरंजनक वृत्त नहीं मिला। थोड़ा वृत्तान्त जो ऊपर लिखा गया है वह हमें प० राधाचरण गोस्वामी द्वारा प्राप्त हुआ है।

बादशाह के हुक्म पाय नहिं गायौ इक पद
छपी सुजान के कहे चाव सों गाए ध्रुपद

× × ×

बादशाह ने कोपि राज्यतें याहि निकार्यौ
वृंदावन में आय बेष वैष्णव को धारयौ

× × ×

प्यारे मीत सुजान जान सों नेह लगायौ
लगन बान तें बिंध्यौ विरह रस मत्र जगायो[1]

× × ×

इसके साथ ही नीचे फुटनोट दिया है। सुजान एक वेश्या थी, विरक्त वैष्णव होने पर घनानद जी ने सुजान के नाम को श्रीकृष्ण पर घटाया और अपने प्रत्येक छद में सुजान नाम जोड़ कर अपनी प्रेमपरता का पूर्ण परिचय दिया। 'वेष वैष्णव को धारयौ' पर नोट दिया है 'निंबार्क सप्रदाय के वैष्णव'। विशेष बात जानने के लिए व्रजमाधुरीसार का सकेत किया है जिसमें विशेष वृतात इतना ही अधिक है कि यहाँ कवि का जन्म संवत् १७४६ वि० माना है।

इस तरह आनदघन जी के जीवन के विषय में निश्चित वृत्तातों का स्रोत रघुराजसिंह जू की भक्तमाल और राधाचरण गोस्वामी का छप्पय है। दोनो स्रोत किंवदती पर ही आधारित हैं, किसी ऐतिहासिक प्रमाण पर नहीं। भक्तमाल में तो किंवदती का स्पष्ट उल्लेख किया भी है।

श्री शभुप्रसाद बहुगुना ने अपनी पुस्तक 'घनआनद' में एक और किंवदती का उल्लेख किया है कि महाराज सूरजमल के दरबार में देव तथा घनआनद का वाद-विवाद इस बात पर कभी हुआ कि दोनों में से किस का कविता श्रेष्ठ है। घनानद जी ने देव को उत्तर दिया कि आप जग बीती कहते हैं मैं आप बीती कहता हूँ।[2] घनआनद और देव की भेंट तो सदिग्ध ही है। इस प्रकार की बातें अन्य कवियों के विषय में भी सुनी जाती हैं।

१—कवि कीर्तन—प्रथम सस्करण पृ० ३३-३४,

२—बहुगुना जी ने इस किंवदती को माधुरी कार्तिक विक्रमी स० १९८१ सन् १९२४ में भवानीशकर याज्ञिक लखनऊ के लेख पर प० मदनलाल जी मिश्र की टिप्पणी पृ० ५३४ से लिया है।

जैसे पद्माकर और ठाकुर कवि का अपनी अपनी कविता पर वाद-विवाद हिम्मतबहादुर के यहाँ सुना जाता है। पद्माकर ने ठाकुर कवि को कहा कि तुम्हारी कविता हल्की है तो ठाकुर ने उत्तर दिया कि इसलिए यह उड़ी-उड़ी फिरती है। ऐसी किंवदंतिया में साहित्यिक आलोचना को सजीवता प्रदान करने के लिए घटना की कल्पना कर ली जाती है। यथार्थतः घटना सत्य नहीं होती। ऐसी ही बात इस किंवदंती के विषय में प्रतीत होती है, अस्तु।

आनंदघन जी के जीवन से संबंधित यह किंवदंती ही एक मात्र प्रमाण है। पर 'नामूलात् जनश्रुतिः' के अनुसार किंवदंतियों में थोड़ा-बहुत सार सभी में रहता है। यह तो दो प्रमाणों ने, जिसमें से एक इनकी रचनाओं के अतः-साक्ष्य से प्राप्त हुआ है और दूसरा भड़ौवा छंद हैं, और अधिक विश्वसनीय बना दी है। आनंदघन जी को किंवदंती में निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित बताया जाता है। यही उनकी रचनाओं से पूर्णतया प्रमाणित हो गया है कि वे निंबार्क संप्रदाय के अंतर्गत सखी-भाव के उपासक थे।[१] सुजान नाम की कोई वेश्या थी और उससे आनंदघन का प्रेम हुआ इसका साक्ष्य 'जस कवित्त' नामक ग्रंथ से प्राप्त हुए आनंदघन संबंधी चार भड़ौवा छंद करते हैं। जस कवित्त ग्रंथ संवत् १८१२ वि० का लिखा हुआ है। इसलिये उसके छंदों को कवि के समकालीन होने से प्रामाणिक मानना चाहिए। भड़ौवा छंद मान्यवर पं० श्री भवानीशंकर याज्ञिक लखनऊ से लेखक को प्राप्त हुए हैं।

छंदों के पूर्व में लिखा है।

'कायथ आनंदघन महा हरामजादा हो। सुजान की फंदा में आयो। परंतु अपजस वाको थिर है। ताको वर्णन।

(१)

कबहूँक सुजावत में छुवती तिहि आनंद कों तब हौं भरतौ।
तब रँगतो कोहुक अंगन पै निज देह तिही रस सों भरतौ।
कहूँ चौकि कैं मागिन जो गहती तब हौं उन हाथन मों मरतौ।
यह ईस कहूँ घनआनंद कों जु सुजान-इजार की जूँ करतौ॥

१—विशेष विवरण संप्रदाय के प्रसंग में देखिए।

बादशाह के हुक्म पाय नहिं गायौ इक पद
छप्पै सुजान के कहे चाव सों गाए ध्रुपद

× × ×

बादशाह ने कोपि राज्यतें याहि निकार्‌यौ
वृंदावन में आय वेष वैष्णव को धारयौ

× × ×

प्यारे मीत सुजान जान सों नेह लगायौ
लगन वान तें बिंध्यौ विरह रस मन्त्र जगायो[1]

× × ×

इसके साथ ही नीचे फुटनोट दिया है। सुजान एक वेश्या थी, विरक्त वैष्णव होने पर घनानंद जी ने सुजान के नाम को श्रीकृष्ण पर घटाया और अपने प्रत्येक छंद में सुजान नाम जोड़ कर अपनी प्रेमपरता का पूर्ण परिचय दिया। 'वेष वैष्णव को धारयौ' पर नोट दिया है 'निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव'। विशेष बात जानने के लिए व्रजमाधुरीसार का संकेत किया है जिसमें विशेष वृतांत इतना ही अधिक है कि यहाँ कवि का जन्म संवत् १७४६ वि० माना है।

इस तरह आनंदघन जी के जीवन के विषय में निश्चित वृत्तांतों का स्रोत रघुराजसिंह जू की भक्तमाल और राधाचरण गोस्वामी का छप्पय है। दोनों स्रोत किंवदंती पर ही आधारित हैं, किसी ऐतिहासिक प्रमाण पर नहीं। भक्तमाल में तो किंवदंती का स्पष्ट उल्लेख किया भी है।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने अपनी पुस्तक 'घनआनंद' में एक और किंवदंती का उल्लेख किया है कि महाराज सूरजमल के दरबार में देव तथा घनआनंद का वाद-विवाद इस बात पर कभी हुआ कि दोनों में से किस का कविता श्रेष्ठ है। घनानंद जी ने देव को उत्तर दिया कि आप जग बीती कहते हैं मैं आप बीती कहता हूँ।[2] घनआनंद और देव की भेंट तो संदिग्ध ही है। इस प्रकार की बातें अन्य कवियों के विषय में भी सुनी जाती हैं।

१—कवि कीर्तन—प्रथम संस्करण पृ० ३३-३४,

२—बहुगुना जी ने इस किंवदंती को माधुरी कार्तिक विक्रमी सं० १९८१ सन् १९२४ में भवानीशंकर याज्ञिक लखनऊ के लेख पर प० मदनलाल जी मिश्र की टिप्पणी पृ० ५३४ से लिया है।

जैसे पद्माकर और ठाकुर कवि का अपनी अपनी कविता पर वाद-विवाद हिम्मतबहादुर के यहाँ सुना जाता है। पद्माकर ने ठाकुर कवि को कहा कि तुम्हारी कविता हल्की है तो ठाकुर ने उत्तर दिया कि इसलिए यह उड़ी-उड़ी फिरती है। ऐसी किंवदंतिया में साहित्यिक आलोचना को सजीवता प्रदान करने के लिए घटना की कल्पना कर ली जाती है। यथार्थतः घटना सत्य नहीं होती। ऐसा ही बात इस किंवदनी के विषय में प्रतीत होती है, अस्तु।

आनदघन जी के जीवन से सबंधित यह किंवदंती ही एक मात्र प्रमाण है। पर 'नामूलातु जनश्रुतिः' के अनुसार किंवदंतियों में थोड़ा-बहुत सार सभी में रहता है। यह तो दो प्रमाणों ने, जिसमें से एक इनकी रचनाओं के अतः-साक्ष्य से प्राप्त हुआ है और दूसरा भडौवा छद हैं, और अधिक विश्वसनीय बना दी है। आनदघन जी को किंवदती में निंबाक संप्रदाय में दीक्षित बताया जाता है। यही उनकी रचनाओ से पूर्णतया प्रमाणित हो गया है कि वे निंबार्क सप्रदाय के अंतर्गत सखी-भाव के उपासक थे।[1] सुजान नाम की कोई वेश्या थी और उससे आनदघन का प्रेम हुआ इसका साक्ष्य 'जस कवित्त' नामक ग्रंथ से प्राप्त हुए आनदघन संबंधी चार भडौवा छद करते हैं। जस कवित्त ग्रथ सवत् १८१२ वि० का लिखा हुआ है। इसलिये उसके छदों को कवि के समकालीन होने से प्रामाणिक मानना चाहिए। भडौवा छद मान्यवर प० श्री भवानीशंकर याज्ञिक लखनऊ से लेखक को प्राप्त हुए हैं।

छंदों के पूर्व में लिखा है।

'कायथ आनदघन महा हरामजादा हो। सु ब्रज की कटा में आयो। परतु अपजस वाको थिर है। ताको वर्णन।

(१)

कबहूंक खुआवत में छुवती तिहि आनंद कों तब हौं भरतौ।
तब रेंगतो कोहुक अगन पै निज देह तिही रस सों भरतौ।
कहूं चौंकि कै मागिन जो गहती तब हौं उन हाथन मों मरतौ।
यह ईस कहूं घनआनद कों जु सुजान-हजार की जूं करतौ॥

१—विशेष विवरण सप्रदाय के प्रसग में देखिए।

बादशाह के हुक्म पाय नहिं गायौ इक पद
छप्पै सुजान के कहे चाव सों गाए ध्रुपद

× × ×

बादशाह ने कोपि राज्यतें याहि निकारयौ
बृंदाबन में आय वेष वैष्णव को धारयौ

× × ×

प्यारे मीत सुजान जान सों नेह लगायौ
लगन बान तें बिंध्यौ विरह रस मन्त्र जगायो[1]

× × ×

इसके साथ ही नीचे फुटनोट दिया है। सुजान एक वेश्या थी, विरक्त वैष्णव होने पर घनानद जी ने सुजान के नाम को श्रीकृष्ण पर घटाया और अपने प्रत्येक छद में सुजान नाम जोड़ कर अपनी प्रेमपरता का पूर्ण परिचय दिया। 'वेष वैष्णव को धारयौ' पर नोट दिया है 'निंबार्क संप्रदाय के वैष्णव'। विशेष बात जानने के लिए व्रजमाधुरीसार का सकेत किया है जिसमें विशेष वृतात इतना ही अधिक है कि यहाँ कवि का जन्म सवत् १७४६ वि० माना है।

इस तरह आनदघन जी के जीवन के विषय में निश्चित वृत्तातों का स्रोत रघुराजसिंह जू की भक्तमाल और राधाचरण गोस्वामी का छप्पय है। दोनों स्रोत किंवदती पर ही आधारित हैं, किसी ऐतिहासिक प्रमाण पर नहीं। भक्तमाल में तो किंवदती का स्पष्ट उल्लेख किया भी है।

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने अपनी पुस्तक 'घनआनद' में एक और किंवदती का उल्लेख किया है कि महाराज सूरजमल के दरबार में देव तथा घनआनद का वाद-विवाद इस बात पर कभी हुआ कि दोनों में से किस का कविता श्रेष्ठ है। घनानद जी ने देव को उत्तर दिया कि आप जग बीती कहते हैं मैं आप बीती कहता हूँ।[2] घनआनद और देव की भेंट तो सदिग्ध ही है। इस प्रकार की बातें अन्य कवियों के विषय में भी सुनी जाती हैं।

१—कवि कीर्तन—प्रथम सस्करण पृ० ३३–३४,

२—बहुगुना जी ने इस किंवदती को माधुरी कार्तिक विक्रमी स० १९८१ सन् १९२४ में भवानीशकर याज्ञिक लखनऊ के लेख पर प० मदनलाल जी मिश्र की टिप्पणी पृ० ५३४ से लिया है।

जैसे पद्माकर और ठाकुर कवि का अपनी अपनी कविता पर वाद-विवाद हिम्मतबहादुर के यहाँ सुना जाता है। पद्माकर ने ठाकुर कवि को कहा कि तुम्हारी कविता हल्की है तो ठाकुर ने उत्तर दिया कि इसलिए यह उड़ी-उड़ी फिरती है। ऐसी किंवदंतिया में साहित्यिक आलोचना को सजीवता प्रदान करने के लिए घटना की कल्पना कर ली जाती है। यथार्थतः घटना सत्य नहीं होती। ऐसी ही बात इस किंवदती के विषय में प्रतीत होती है, अस्तु।

आनदघन जी के जीवन से सबधित यह किंवदती ही एक मात्र प्रमाण है। पर 'नामूलातु जनश्रुतिः' के अनुसार किंवदंतियों में थोड़ा-बहुत सार सभी में रहता है। यह तो दो प्रमाणों ने, जिसमें से एक इनकी रचनाओं के अतः-साक्ष्य से प्राप्त हुआ है और दूसरा भडौवा छंद हैं, और अधिक विश्वसनीय बना दी है। आनदघन जी को किंवदती में निंबार्क सप्रदाय में दीक्षित बताया जाता है। यही उनकी रचनाओं से पूर्णतया प्रमाणित हो गया है कि वे निंबार्क सप्रदाय के अंतर्गत सखी-भाव के उपासक थे। [१] सुजान नाम की कोई वेश्या थी और उससे आनदघन का प्रेम हुआ इसका साक्ष्य 'जस कवित्त' नामक ग्रथ से प्राप्त हुए आनदघन संबधी चार भडौवा छद करते हैं। जस कवित्त ग्रथ सवत् १८१२ वि० का लिखा हुआ है। इसलिये उसके छदों को कवि के समकालीन होने से प्रामाणिक मानना चाहिए। भडौवा छद मान्यवर पं० श्री भवानीशंकर याज्ञिक लखनऊ से लेखक को प्राप्त हुए हैं।

छदों के पूर्व में लिखा है।

'कायथ आनदघन महा हरामजादा हो। सु ब्रज की कटा में आयो। परतु अपजस वाको थिर है। ताको वर्णन।

(१)

कबहूक खुबावत में छुवती तिहि आनद कौं तब हौं भरतौ।
तब रेंगतो कोहुक अगन पै निज देह तिही रस सौं भरतौ।
कहू चौंकि कै मागिन जो गहती तब हौं उन हाथन मौं मरतौ।
वह ईस कहूँ घनआनद कौं जु सुजान-हजार की जूं करतौ॥

१—विशेष विवरण सप्रदाय के प्रसग में देखिए।

(२)

करै गुरु निंदा वह हुरकिनी की बंदा महा,
निरघिनी गदा खात पानीर औ नान है।
बैन को चुरावै वाको मजमून लावै कूर,
कविता बनावै गावै रिजौली सी तान है।
सुरा-घट-सोखी देह मास ही सों पोखी, विप्र
गेयन को दोषी रूप धरे अभिमान है।
पाप को भवन, करै अगम गमन ऐसो,
मुढिया आनदघन जानत जहान है।

(३)

ढफरी बजावै ढोम ढाढी सम गावै, काहू
तुरकै रिझावै तब पावै झूठौ नाम है।
हुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक है
तजि राम नाम वाकों पूजै काम धाम है।

× × × ×

लोहा ज्यौं लगाम जैसे चलनी को चाम है।
पीवै भग-कुंडा संग राखै × × × × × (अश्लील शब्द)
मसुडा आनदघन मुंढा सरनाम है।

(४)

मुदित आनदघन कहत विधातासों यों,
खाल को आसन दी जो गारी मोहि गावैगी।
मो मुख की पीक-दान करियौ सुजान प्यारी,
हुरकिनी तुरकिनी थुकै सुखियावैगी।
धोती को इजार दुपटी को पेशवाज और,
देहुगे रुमाल ताकौ पूछना बनावैगी।
पगिया पाँयदाज कीजियौ गरीबनिवाज
भरि गएँ मो मन पलिंग पर आवेगी।[1]

---

[1]—आनंदघन जी ने अपने काव्य में ऐसे भाव दिए हैं जिन में सुजान के व्यवहार की वस्तुओं के भाग्य से उन्होंने ईर्ष्या व्यक्त की है, मढौवा की इन व्यंग्योक्तियों का उनही की ओर से संकेत हो सकता है यथा आरसी के भाग पर ईर्ष्या—

इन छदों के रचयिता का नामादि अज्ञात है। जंगनामा ग्रथ के रचयिता श्रीधर उपनाम मुरलीधर भड़ौवा लिखा करते थे। वे घनआनद के सम-कालीन थे और मुहम्मदशाह रंगीले के दरबार में बताए जाते हैं। संभवतः इनके रचयिता वे ही हैं। यदि यही सत्य हो तो भड़ौवाकार की उक्ति भड़ौवा होते हुए भी किसी प्रमाणिक तथ्य की ओर सकेत करती है। अतः ये प्रामाणिक माने जाने चाहिए। इनसे निम्न लिखित निष्कर्ष निकलता है—

१—कवि का असली नाम आनदघन था छंदोनुरोध से उसीको 'घनआनद' लिखा जाता था।[1]

२—वह जाति का कायस्थ था और अपने प्रारम के जीवन में मदिरा मासादि का सेवन करता था। उसका यवनों से संपर्क था।

३—सुजान नाम की किसी यवनी मे उसका प्रेम था।

४—वह बाद में साधु हो गया था, सभवत निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित था।

५—वह गान-विद्या में निपुण था।

६—मुहम्मदशाह के मीरमुशी या किसी अन्य उच्च पद के अधिकारी होने की बात प्रमाणिक नहीं लगती। यदि वह सत्य होती तो भड़ौवाकार के लिए वह उपयुक्त सामग्री थी, छदों में उसका प्रकारातर से उल्लेख होता।

रघुराजसिंह जू तथा राधाचरण गोस्वामी ने जैसा किंवदती के आधार पर इनका वृतात लिखा है उस में आनदघन मुहम्मदशाह के मीरमुंशी नहीं है। उनका संवध यवनों से राधाचरण जी ने गान-विद्या द्वारा दिखाया है। भक्तमाल में उनके उत्तर जीवन की कथा है। उसी किंवदती से भड़ौवा छदों का वृत्त मिलता है। दूसरे प्रकार की जनश्रुति लाला भगवानदीन जी को प्राप्त हुई थी। राधाचरण जी की जनश्रुति की विवेचना उन्होंने सब से पूर्व की थी। वे हिंदी साहित्य के समस्त कायस्थ कवियो की जीवनी तथा

अधरासव पान के छाक छके कर चापि कपोल सवाद पगे
घनआनद भीजिरहे रिझवार लगे मन अग अनग दगे
करि खडन गडन मडन दै निरखे तें अखडित लोभ लगे
सुखदान सुजान समान महा सु कहा कहौं भ रनी भाग जगे

१—छदों के प्रारभ के वाक्य तथा अत के तीनों छदों में कवि का नाम इस ढग से दिया है कि वह आनदघन ही लगता है

कृतियों की खोज करना चाहते थे। उसी प्रसग से आनदघन जी उनके अनुसंधान के विषय बने। अध्ययन तथा पूछताछ से जो उन्हें पता चला उसका विवरण उन्होंने 'लक्ष्मीपत्रिका में प्रकाशित किया था जिसका सार यह है :—

'आनदघन जी का जन्म लगभग सवत् १७१५ में हुआ था और मृत्यु सवत १७९६ में हुई। ये दिल्ली के रहने वाले भटनागर कायस्थ थे। फारसी भलीभांति जानते थे। जनश्रुति इन्हें अबुलफजल का शिष्य बताती है। किसी छोटे ओहदे से बढते-बढते ये बादशाह मुहम्मदशाह के खासकलम (प्राइवेट सेक्रेटरी) हो गए। इन्हें बचपन ही से रास-लीला देखने का बड़ा शौक था। महीनों तक व्यय का भार अपने ऊपर लेकर दिल्ली में ये रास-लीला करवाते थे। स्वय भी किसी-किसी लीला में भाग लेते थे। इससे इन्हें हिंदी भाषा सीखने तथा साधुओं की संगति करने का शौक लग गया। उससे कविता करने लगे। करते-करते वह निपुणता प्राप्त करली जो हिंदी कवियों के समक्ष है। अभी तक इनके पद रासधारियों की मडली में गाए जाते हैं। रास की भावना का इन पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये श्रीकृष्ण की लीलाओं में ही लीन रहने के लिए दरबार तथा गृहस्थी से नाता तोड़कर बृदाबन चले आए और वहाँ पर व्यासवश क किसी साधु से दीक्षा लेकर वहीं उपासना में मग्न हो गए। प्रायः कहीं न कहीं वशीवट के आस-पास रहा करते थे। और वहीं किसी वृक्ष के तले आसन जमाए ध्यान-मग्न हो कभी-कभी तो कई-कई दिन समाधि में ही बिता देते थे। 'सुजान सागर' ब्रजवास में ही रचा गया। लालाजी के विवरण में विशेष उल्लेखनीय बात एक तो यह है कि यहाँ सुजान के प्रेम का कोई प्रसग नहीं है। दूसरे आनदघन जी का व्यक्तित्व इस जनश्रुति में गौरवपूर्ण माना गया है। वे मुहम्मदशाह के मीर-मुशी हैं। फारसी क इतने विद्वान हैं कि अबुलफजल के शिष्य माने जाते थे। तीसरे विराग का कारण रासमडली द्वारा भक्ति का उदय है। भक्ति का उद्रेक ही कवि को काव्य-प्रेरणा देता है।

जार्ज ग्रियर्सन ने जो विवरण दिया है उसमें भी सुजान वेश्या का प्रसग नहीं है, नाहीं उनके मीरमुशी होने की बात है। इस तरह जनश्रुतियाँ तो दो प्रकार की मिलती हैं। एक में वे वेश्या-प्रेमी से भक्त बनते हैं दूसरे में प्रारभ से ही उनका भक्ति का विकास होता है। पर प्रतीत होता है लाला भगवानदीन को काई भ्रातिपूर्ण जनश्रुति प्राप्त हुई है। काव्य-रचना के अतः-

साक्ष्य तथा भड़ौवा छंदों से इनका सुजान वेश्या से प्रेम स्पष्ट है। मीरमुंशी होना अवश्य सदिग्ध है। मुहम्मदशाह रंगीले के संबंधित किसी इतिवृत्त में इनका नाम नहीं आता। मुहम्मदशाह की तो दैनिक डायरी भी कुछ दिनों की है। उसमें भी इनका कोई समाचार नहीं प्राप्त होता। यदि ये मीर-मुंशी जैसे उच्च कर्मचारी होते और राजदर्बार से संबंधित कोई घटना इनसे होती तो उसका उल्लेख इतिहास में होना संभव था। इस से यही कह सकते कि ये देहली के कोई साधारण नागरिक थे। मिश्रबंधुओं ने अपने इतिहास मिश्रबंधुविनोद में इन्हें वेश्या-प्रेमी बताया है। वे लिखते हैं:—

"लोग घनानद को बेसिक समझते हैं। यह विचार इनकी स्फुट-रचना देखने से उठता है। परंतु जान पड़ता है कि उमर ढलने पर उनके चित्त में ग्लानि हो कर निर्वेद उत्पन्न हुआ, जिससे वे श्रीवृंदावनधाम जाकर निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होकर ब्रज-वास करने लगे। यह भाव इनकी इस रचना से दृढ होता है।" आचार्य रामचंद्र शुक्ल न इनके जीवन-वृत्त के विषय में मिश्रबंधुविनोद तथा राधाचरणगोस्वामी का छप्पय प्रमाण माना है। लाला भगवादीन की खोज को विश्वसनीय नहीं समझा। उनकी मीरमुंशी वाली बात सत्य मान कर यही जीवन-वृत्त लिखा है कि आनंदघन बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे। दर्बार के कुचक्रियों ने इन्हें शहशाह द्वारा गाना गाने के लिए बाधित किया। इन्होंने नहीं गाया और अपना प्रेमिका सुजान नर्तकी के कहने से गा दिया। इस पर शहशाह ने कुपित होकर इन्हें दिल्ली से बाहर निकाल दिया। सुजान ने इनका साथ नहीं दिया। ये वृंदावन जाकर निंबार्क संप्रदाय में दीक्षित होगए और कवित्त सवैयों वाली रसात्मक कविता में सुजान और आनदघन के व्यक्तिगत प्रेम को प्रतीक बना कर कविता करते हुए प्रेम-भक्ति में मग्न रहने लगे। शुक्लजी ने इनकी मृत्यु नादिरशाही मार-काट में ही लिखा है कि जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उनसे कहा कि वृंदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है। उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हें आ-घेरा और 'जर जर जर' अर्थात् 'धन लाओ' चिल्लाने लगे। घनानद जी ने शब्द को उलट कर 'रज रज रज' कह कर तीन मुट्ठी वृंदावन की धूलि उन पर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या। कहते हैं, सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला। मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था।

बहुत दिना की अवधि आस पास परे,
खरे अरबरनि भरे है उठि जान को।
कहि कहि आवन छबीले मन भावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को।
झूठि बतियान के पतियान तें उदास ह्वै कै,
अब ना फिरत घनआनद निदान को।
अधर लगे हैं प्रान, करि कै पयान जान,
चाहत चलन ये सदेसो लै सुजान को।

हिं० सा० इतिहास पृ० ३३५, ३६

इस में जर वाली किंवदती, प्रतीत होता है, कवि के व्रज रज में अत्यधिक भक्ति-भाव प्रदर्शन के कारण चल पड़ी है। आनदघन जी ने अपनी भक्ति-भावना में व्रजवास, व्रजरज, व्रजरस, आदि का बड़ा महत्त्व वर्णन किया है। इसी प्रकार मरते समय कवित्त लिखने की बात भी प्रामाणिक नहीं लगती। आनदघन जी का संत-जीवन अत्यत विरक्त अवस्था का बीता है। यह उनकी निबंधात्मक रचनाओं से व्यक्त होता है। उन में सुजान का नाम वे भूल गए थे। प्रतीत होता है कि निबध उनके उत्तर-जीवन की तथा कवित्त सवैये पूर्व जीवन की रचनाएँ हैं। ऐसी स्थिति में यह छद उनकी अतिम रचना नहीं कहा जा सकता। अतः वह फारसी शैली से लिखा हुआ जान पड़ता है, जिस में जीवित कवि अपने को मृतक मान कर कब्र में से बोलता है।

इनके जन्म-स्थान आदिका कुछ पता नहीं चलता। जगन्नाथदास रत्नाकर ने इन्हें बुलंदशहर जिले का बताया है। श्री शभुप्रसाद बहुगुना को कोकसार के लेखक आनद कवि की इनके साथ अभिन्नता का सदेह हो गया था। कोकसार का लेखक आनद कवि का जन्म-स्थान कोट हिसार था।

कायथ कुल आनंद कवि वासी कोट हिसार
कोक कला सब चूरि कै जिन यह कियौ विचार

अतः बहुगुना जी ने यह सभावना प्रकट की है कि यदि घनानद ने कभी कोक की रचना आनद नाम से की हो और वह यही कोकमजरी निकले तो घनानद के जन्म-स्थान का भी पता उनके समय के साथ साथ चल जाता है। बहुगुना जी का तात्पर्य यही है कि घनानद कोट हिसार के निवासी हो सकते

है। पर यह कोरी कल्पना ही है। कोकसार का लेखक आनंद है, आनंदघन नहीं। उसका समय इनके समय से भिन्न है। अतः यह प्रश्न ही नहीं उठता। आनंदघन जी ने अपने भक्तिकाल में व्रज-वृंदावन में रहने का उल्लेख स्पष्ट किया है पर अपने जन्म स्थान का कहीं संकेत नहीं किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में जो देशी शब्दों का व्यवहार किया है, उस से अवश्य बुलंदशहर के पूर्वी भाग के निवासी वे लगते हैं। ये शब्द आजकल भी इस क्षेत्र में बोले जाते हैं। शब्दावली यह है। सोबर—(प्रसूतिका गृह), टेहुले—(विवाह, जन्मगाठ आदि पर किए जाने वाले आचार), गरैंठी—(पूर्ण से कुछ ही कम भरा हुआ पात्र), बरहे—(जंगल), सल—(पता या ज्ञान), संजोखे—(संध्या तथा रात्रि के मध्य का काल), गोहन—(साथ), नाज—(अन्न), न्यार—(चारा), पैछर—(पैर का शब्द), झरा—(सब के सब, समस्त) आदि। इन्होंने जो मुहावरे व्यवहृत किए हैं उनसे उनका नागरिक होना ही अनुमित किया जा सकता है। मुहावरे प्रायः ऐसे ही हैं जो व्रजभाषा के नागरिक द्वारा व्यवहार में लाए जाते हैं। इनका विस्तृत विवेचन भाषा के प्रसंग में किया जावेगा। इसी प्रकार इनके अप्रस्तुतों का स्वरूप भी ग्रामीण नहीं है। उदाहरण के लिए फानूस का दीपक, किले पर शत्रु का अभियान, राजा की दुहाई फिरना, वेड़ियाँ, लेखक, फेंटा, झवा, चुम्बकपत्थर, पतंग, द्यूतक्रीड़ा, ताला, जाल, पाश, भस्मक-रोग आदि।

सुजान का सौंदर्य, उसके प्रसाधन का प्रकार तथा साधन, उसकी चेष्टाएँ, नृत्य, गान, सुरापान आदि सब नागरिक हैं। राधा के वर्णन में भी नागर-भाव कवि के हृदय में विद्यमान रहा है। इससे यही अनुमान होता है कि इनका जन्म तथा निवास नगर में ही हुआ था। बुलंदशहर के व्रज-भाषा भाषी भाग के किसी कस्बे में जन्में हों और बाद में देहली चले गए हों—यह बहुत संभव लगता है।

उपर्युक्त प्रमाणों से इनके जीवन-वृत्त का यह स्वरूप लेखक को प्रतीत होता है। आनदघन जी बुलंदशहर जिले के किसी व्रजभाषा क्षेत्र से मिले हुए कस्बे में जन्मे थे। बाद में देहली चले गए। जाति के कायस्थ थे। गायन-कला में अच्छे निपुण थे। सुजान नाम की किसी यवनी वेश्या से इनका प्रेम हो गया। किसी दिन दिल्ली के शहंशाह मुहम्मदशाह ने इन्हें दरबार में गाना गाने के लिए कहा। पर ये इतने स्वाभिमानी तथा मनमौजी व्यक्ति

थे कि शहशाह के कहने पर भी इन्होंने गाना नहीं गाया। सुजान प्रेमिका ने कहा तो इतनी तन्मयता से गाया कि दर्बार उसमें आनद-विमोर हो गया।[1] शहशाह ने कुपित होकर इन्हें दिल्ली से बाहर निकाल दिया। ये वृ दावन में निंबार्क सप्रदाय में दीक्षित होकर सखी-भाव की उपासना में लग गए।

भक्तवर नागरीदास जी किशनगढ के महाराज सावतसिंह जी से इनकी बड़ी मित्रता थी। उनके साथ ये जयपुर आदि स्थानों में गए थे। नागरीदास जी ने अपनी 'मनोरथ मजरी' इन्हीं की प्रेरणा से लिखी थी। इन्होंने रचना के अंत में लिखा है कि

"युगल रुप आसव छके परे रीझ के पानि।
ऐसे सतन की कृपा मोपै कुदंपति जान।
परम मित्र आज्ञा दई मेरेहू हित वास।
नवल मनोरथ मंजरी करी नागरीदास॥"

कीर्तन करने में इनको विशेष रुचि थी। इनकी कीर्तन की मडली थी, जिसमें हरिदास, बद्रीदास, मुरलीदास आदि महात्मा समिलित थे।

नागरीदास जी इनको बडे आदर की दृष्टि से देखते थे इन्होंने इनके सतसग की प्रशसा तथा कामना दोनों व्यक्त की हैं। इसके लिए वे तन, मन का भी न्यौछावर करने के इच्छुक थे।

१—आनदघन को संग करन तन मन को वार्यौ। नागर समुच्चय पृ २५ प० ५
२—आनदघन हरिदास आदि सों सत सभा मधि। वही पृ० ३३ पद्य ४२
३—आनदघन हरिदास आदि सतन वच सुनि सुनि। वही पृ० १०५
४—एक वार नागरीदास जी भक्त मडली के साथ गोवर्धन गए थे। आनदघन उनके साथ थे

1—सुधासर सग्रह' में अधो लिखित सवैया सुजान के नाम से प्राप्त होता है इसमें किसी प्रवीण की हिम्मत बधाने का भाव व्यक्त किया गया है

वेदहू चारि की बात को बाचि पुरान अठारह अग मैं धारौ
तिनहू आप लिखै समझै कवितान की रीति में वारतैं पारौ
राग कों आदि चिती चतुराई सुजान कहै सब याही के लारौ
हीनता होय जो हिम्मत की तो प्रवीनता लै कहा कूप मैं डारौ

सुधासर पन्ना २३४

बहुत सभव है यह सवैया उसी समय से सबधित हो जब आनदघन ने दरबार में गाना गाया था।

आये चलि तिहिं ठां रसिक झुंड । जहाँ राधा कुंड अरु कृष्ण कुंड ॥
उतते सुनि उमगे रसिक वृंद । उठि चले सामुहें बढ़ि अनंद ॥
(अनंद = आनंदघन)

तहाँ रूपे सूर समुत्त सम्हारि । बहि चले परस्पर प्रेम वारि ॥
तहाँ वटीदास अरु मुरलिदास । मनु महारथी ये प्रेम रास ॥

नागरीदास जी के जीवन चरित्र में बा० राधाकृष्णदास जी ने लिखा है कि हमारे यहां एक अत्यंत प्राचीन चित्र है जिस में नागरीदास और घनानंद जी एक साथ विराजते हैं।

स्थान

ऊपर बताया जा चुका है कि इनके जन्म स्थान का कोई पता नहीं चलता। वृंदावन में रहने का इन्होंने स्वयं अनेकत्र वर्णन किया है। वृंदावन में जमुना के किनारे गोकुलघाट पर और रमण रेती में ये रहा करते थे। ब्रज-वास की इन्होंने भूरि भूरि प्रशंसा बार बार की है। निबंध रचनाएँ सब मिलाकर ब्रज महिमा का वर्णन करती हैं। ब्रज रज के ये विशेष भक्त थे। इनका मत है कि श्रीकृष्ण और राधा के दर्शन ब्रजरज से अँजी आखों को ही हो सकते हैं। ब्रह्मरस तथा परमार्थ ब्रजरज में ही समोया हुआ है। ये नंद-गाव में भी कुछ समय रहे थे।

नंद गांव बरसाने बसौं। सोभा निरखौं हरसौं लसौं।

ब्रज गलियों में मौन धारण किए प्रेम समाधि में ये घूमा करते थे

ब्रज बीथिन बन बागनि फिरौं। छकौं थकौं ब्रज हेरौं हिरौं॥

नीचे कवि की उन उक्तियों का उद्धरण दिया जाता है जिन में उसने अपने निवास तथा ब्रज प्रेम को प्रकट किया है।

तरनितनूजा तोहिं तकौं। चंचलता तजि
भजि नंदलालहिं मन करि तेरे तीर थकौं॥
आ० घ० पदा० १९

यह वृन्दावन यह जमुना तीर, यह
सारग राग। यह भाग भरी भूमि, यह
तरुलता भूमि, ये विहग बड़ भाग॥
आ० घ० पदा० १४४

जो तुम दियौ है ब्रजवास तौ पूरन करौ
यह आस। रसिक संग अभंग निरखत
रहौं रासविलास घ० ग्र० २६०

थे कि शहशाह के कहने पर भी इन्होंने गाना नहीं गाया। सुजान प्रेमिका ने कहा तो इतनी तन्मयता से गाया कि दर्बार उसमें आनद-विमोर हो गया।[1] शहशाह ने कुपित होकर इन्हें दिल्ली से बाहर निकाल दिया। ये वृ दावन में निंबार्क सम्प्रदाय में दोक्षित होकर सखी-भाव की उपासना में लग गए।

भक्तवर नागरीदास जी किशनगढ के महाराज सावतसिंह जी से इनकी बड़ी मित्रता थी। उनके साथ ये जयपुर आदि स्थानों में गए थे। नागरीदास जी ने अपनी 'मनोरथ मजरी' इन्हीं की प्रेरणा से लिखी थी। इन्होंने रचना के अंत में लिखा है कि

"युगल रुप आसव छके परे रीझ के पानि।
ऐसे सतन की कृपा मोपै कुदंपति जान।
परम मित्र आज्ञा दई मेरेहू हित वास।
नवल मनोरथ मंजरी करी नागरीदास॥"

कीर्तन करने में इनको विशेष रुचि थी। इनकी कीर्तन की मडली थी, जिसमें हरिदास. वद्रीदास, मुरलीदास आदि महात्मा समिलित थे।

नागरीदास जी इनको बडे आदर की दृष्टि से देखते थे इन्होंने इनके सतसग की प्रशसा तथा कामना दोनों व्यक्त की हैं। इसके लिए वे तन, मन को भी न्यौछावर करने के इच्छुक थे।

१—आनदघन को संग करन तन मन को वार्यौ। नागर समुच्चय पृ २५ प० ५
२—आनदघन हरिदास आदि सौं सत सभा मधि। वही पृ० ३३ पद्य ४२
३—आनदघन हरिदास आदि सतन वच सुनि सुनि। वही पृ० १०५
४—एक वार नागरीदास जी भक्त मडली के साथ गोवर्धन गए थे। आनदघन उनके साथ थे

१— सुधासर सग्रह' में अधो लिखित सवैया सुजान के नाम से प्राप्त होता है इसमें किसी प्रवीण की हिम्मत वधाने का भाव व्यक्त किया गया है

वेदहू चारि की वात को वाचि पुरान अठारह अग मैं धारी
चित्रहू आप लिखै समझै कवितान की रीति में वारतै पारी
राग कौ आदि चिती चतुराई सुजान कहै सव याही के लारी
हीनता होय जो हिम्मत की तो प्रवीनता लै कहा कूप मैं डारी

सुधासर पत्रा २३४

वहुत सभव है यह सवैया उसी समय से सवधित हो जब आनदधन ने दरवार में गाना गाया था।

आये चलि तिहिं ठा रसिक झुंड । जहाँ राधा कुंड अरु कृष्ण कुंड ॥
उततें सुनि उमगे रसिक वृंद । उठि चले सामुहैं बढ़ि अनंद ॥
(अनंद = आनदघन)
तहाँ रुपे सूर समुख सम्हारि । बहि चले परस्पर प्रेम वारि ॥
तहाँ बद्रीदास अरु मुरलिदास । मनु महारथी ये प्रेम रास ॥

नागरीदास जी के जीवन चरित्र में बा० राधाकृष्णदास जी ने लिखा है कि हमारे यहां एक अत्यंत प्राचीन चित्र है जिस में नागरीदास और घनानद जी एक साथ विराजते हैं ।

स्थान

ऊपर बताया जा चुका है कि इनके जन्म स्थान का कोई पता नहीं चलता । वृंदावन में रहने का इन्होंने स्वय अनेकत्र वणन किया है । वृंदावन में जमुना के किनारे गोकुलघाट पर और रमण रेती में ये रहा करते थे । ब्रज॰ वास की इन्होंने भूरि भूरि प्रशसा बार बार की है । निबंध रचनाएँ सब मिलाकर ब्रज महिमा का वर्णन करती हैं । ब्रज रज के ये विशेष भक्त थे । इनका मत है कि श्रीकृष्ण और राधा के दर्शन ब्रजरज से अँजी आखों को ही हो सकते हैं । ब्रह्मरस तथा परमार्थ ब्रजरज में ही समोया हुआ है । ये नद-गाव में भी कुछ समय रहे थे ।

नद् गाव बरसाने बसौं । सोभा निरखौं हरसौं लसौं ।

ब्रज गलियों में मौन धारण किए प्रेम समाधि में ये घूमा करते थे

ब्रज बीथिन बन बागनि फिरौं । छकौं थकौं ब्रज हेरौं हिरौं ॥

नीचे कवि की उन उक्तियों का उद्धरण दिया जाता है जिन में उसने अपने निवास तथा ब्रज प्रेम को प्रकट किया है ।

तरनितनूजा तोहिं तकौं । चंचलता तजि
भजि नंदलालहिं मन करि तेरे तीर थकौं ॥
आ० घ० पदा० १५

यह वृन्दावन यह जमुना तीर, यह
सारंग राग । यह भाग भरी भूमि, यह
तरुलता झूमि, ये विहग बड़ भाग ॥
आ० घ० पदा० १४४

जो तुम दियौ है ब्रजवास तौ पूरन करौ
यह आस । रसिक संग अभंग निरखत
रहौं रासविलास घ० अ० २६०

लीला अंकुर उपजै मन मैं।
यतें मचलि पऱ्यौ ब्रज बन मैं॥
अनु० च० ३८

ब्रजबन बसिबै कौ यह फल है।
जिन मिलि दरसतु रूप अमल है॥
वही ४८

गौर श्याममय ब्रजवन देखौं।
ठौर ठौर लीला अवरेखौं॥
प्रे० प० १०६

कृष्णचंद्र की यह ब्रज देखौं।
मेरे नैन भाग अवलेखौं॥
धा० च० ४२

मोकौं यह ब्रज लागतु प्यारौ।
दीसत दीखै श्याम उजारौ॥
या यमुना में नितही न्हाऊँ।
या जमुना तजि कहूँ न जाऊँ॥
जमुना के तट फूल्यौ फिरौं।
हेरि तरंगनि रंगनि हरौं॥
गोकुल घाट पियौ जिन पानी।
जमुना रस महिमा तिम जानी॥
जमुना जमुना जमुना कहौं।
धीर समीर तीर वसि रहौं॥
जमुना मौकौं सब कुछ दियौ
दरसि परसि सरसान्यौ हियौ॥
यमुना यश २२, २७,३७, ५३, ५४

आनंद घन वृंदावन बसै॥
महा मधुर रस धारा रसै॥
नंदगाव बरसाने बसौं।
सोभा निरखौं हरसौं लसौं॥
दुहूँ घरनि की चारौं ओर।
गावत फिरौं साँझ अरु भोर॥ ब्र० प्र० १, २
ब्रजबसि ब्रजबासिनि की आस॥
सुफल भयौ मेरौ ब्रज वास॥

हौं या ब्रज अरु यह ब्रज मेरो
सुबस लह्यौ ब्रजवास वसेरौ ॥
ब्रज स्वरूप ११२, ११३

मोकों यह ब्रज सदा सुहाई।
मन दृग वाछित लियौ दुहाई ॥
राति धौस एकै ब्रज दीसै।
ब्रज रस परसि नवाऊ सीसै ॥
वही १०२, १०३

इनके घरनि सदा त्यौहार।
नित नित ब्रज में हित व्यौहार ॥
यह सुख देखि हिये हँसि खेलि।
वरनौ ब्रज मंडन कर केलि ॥
या ब्रज कौ सुख हौं ही जानौं।
या ब्रज वसि जस रसहि वखानौं ॥
वही ७

ब्रज वीथिन वन वागनि घिरौ।
छकौं थकौं ब्रज हेरौं हिरौ ॥
अहो भाग्य या ब्रज कौ लखौ।
ब्रज की सौंच न कवहूँ नखौ ॥
यह ब्रज वास न कवहूँ छूटै।
ब्रज रस वसु दैदै मन लुटै ॥
वही ६, ३६, ५४, १३१

३—स्वभाव

आनदघन जी के ग्रंथों में उनके उत्तर जीवन के स्वभाव तथा मनोदशा के दर्शन होते हैं। उन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये साधना की उच्च कोटि को प्राप्त कर चुके थे। नागरीदास जी जैसे श्रेष्ठ महात्मा इनका बड़ा सम्मान करते थे, वे इनके सत्संग के लिए लालायित रहते थे। व्रजवीथियों में यमुना के तट पर घूमते घूमते ये कभी हँस पड़ते थे कभी रो पड़ते थे। श्री कृष्ण के सयोग और वियोग का अनुभव इनके हृदय में सदा होता रहता-था। नेत्रों से जल वरसता और हृदय नवनीत सा कोमल हो जाता था।[१]

१—को जाने यह भेद जो गावै मेरो वैरागी जियरा।
ब्रज मोहन के वियोग सँजोग भरयौ है हियरा।
अँसुवनि जलसौं अधिक जगति जोति परेखनि होत मनौं वियरा।

ये यमुना के किनारे आनदमग्न घूमते रहते थे। उसकी तरगों को देख देख कर उल्लसित और ध्यानमग्न हो जाते थे।[1] रमणरेती में रज को आखों से लगा लगा कर उन्मत्त की तरह चारों ओर देखा करते थे। हृदय में भाव की तरगें उठती थीं और बेसुध होकर भगवत्प्रेम में मग्न हो जाते थे।[2] इनके विषय में यह किंवदती है कि यवनों ने जब इन्हें काटा तो ज्यों ज्यों शरीर पर तलवार के घाव होते थे त्यों त्यों ये ब्रजरज में लेटते जाते थे। स्वाभाविक दशा में अपनी इस स्थिति का वर्णन इन्होंने स्वय किया है। 'भावना प्रकाश' में उन्होंने लिखा है कि—

बूझे कछु बोलौ न आइ है।
रोम रोम अभिलाष छाइ है॥
ब्रजरज लोटि विकल ह्वै जै हौं।
बडी बेर तक की सुधि पै हौं।[2]

घनआनद ग्रथावली के आरभ में इनका एक चित्र भी दिया गया है। यह चित्र वृदावन निवासी ब्रह्मचारी ब्रजवल्लभशरण जी वेदाताचार्य के द्वारा कृष्णगढ से प्राप्त हुआ है। चित्र के नीचे यह छप्पय अकित है—

सकलगुण सुजान स्वामी जी श्री आनदघन जी।
वृदावन में अटल ह्वै वास कियौ आनदघन
रचें कटीली काव्य-स्तुति कछु परति न गाई।
अनुपम अक्षर जटित चोज चेटक सरसाई।
श्रवन परत हिय द्रवै छकनि झूलै सब झूलै।
मानौ मोहन मंत्र महा सुधि की सुधि भूलै।
गान कला में अति कुशल सुनत बढे आह्लाद मन।
वृदावन में अटल है वास कियौ आनदघन॥

इसमें भी उपर्युक्त स्वभाव का ही उल्लेख किया गया है।

४—चित्र परीक्षा

चित्र में इनकी लबी झुकी हुई नासिका, बडे नेत्र, ऊर्ध्व मस्तक और मूछे मुडी हुई हैं। सर पर साधुओं की सी टोपी पहने हैं। हाथ में सितार

१—यमुना यश २७

२—भावना प्रकाश—२०६, २१२

लेकर ध्यान मग्न हो गायन करने की मुद्रा में बैठे हैं। आँखें मुदी हुई हैं। सौम्य स्वभाव, प्रेमार्द्र हृदय तथा मनमौजी प्रकृति का आभास चित्र से लगता है।

चित्र के नीचे का छप्पय यह भी सिद्ध करता है कि चित्र हमारे विवेच्य कवि का ही है। साथ ही यह भी इस से प्रमाणित होता है कि पदावली तथा कवित्त सवैये के रचयिता एक ही व्यक्ति थे और उसका नाम आनदघन था। ये ही फटीली काव्य रचना करते थे जिसके सुनने से हृदय द्रवीभूत हो जाता था। और यही गान कला में अति कुशल थे। सुजान का सबंध इन्हीं से था तभी तो ये 'सकल गुन सुजान' थे।

५—समय

अब आनंदघन जी के समय पर विचार किया जाए। सब से पूर्व यह देखें कि आननघन की कविताओं का उद्धरण किस समय तक प्राप्त होता है। मिश्रबंधु विनोद में सकेत किया गया है कि सरदार कवि ने (समय सवत १९०२ से संवत १९४० तक) अपने 'शृंगार संग्रह' में घनानद के लग भग १५० छंद संगृहीत किए हैं[१]। व्रजनिधि ने (सवत १८२१ से सवत १८८० तक) अपने सपादित ग्रथ 'व्रजनिधि ग्रथावली' में इनके तीन पद सगृहीत किए हैं। 'सुधासर' को सगृहीत करने वाले मथुरावासी नवीन ने आनदघन के लगभग ३० कवित्त सवैये उद्धृत किये हैं। 'सगीत राग कल्पद्रुम' के संग्रहीता कृष्णानद व्यास ने तथा 'रागरत्नाकर' के सकलयिता श्री भक्तराम ने इनके अनेकों पद अपने संग्रहों में लिखे हैं। इन से विक्रम की १९ वीं शताब्दी के द्वितीय दशक तक आनदघन जी की कृतिया उद्धृत होती थीं यह भलीभाँति कहा जा सकता है। नागरीदासजी, कृष्णगढ के महाराज सावतसिंहजी ने अपने ग्रन्थों में आनंदघन की कविताएँ उद्धृत की हैं। इनकी 'पदमुक्तावली' में ४६३: १० पर ४ पद हैं, ५१: १० के पृष्ठ १४२ तथा ७७ पर २ कवित्त हैं। उनमें पहला है। 'प्रीतम सुजान मेरे हित के निधान' आदि तथा दूसरा है 'तब तो छवि पीवत जीवत हैं' इत्यादि[२]। 'वैराग्य सागर' ५१: १० पृ० १६६ तथा १७० पर दो पद हैं, इसी प्रकार २६४: ४२ पर इनके ६ पद हैं। नागरीदासजी का काव्यकाल स० १७८०-१८१६ तक माना जाता है। आनंदघनजी के जीवनवृत्त में यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि नागरीदासजी ने अपनी 'मनोरथ

१—मिश्रबंधु विनोद पृ० ११५३।

२—ये दोनों कवित्त घनआनद ग्रन्थावली के सुजानहित स० २४ तथा ३६ पर हैं।

मंजरी' इन्हीं की प्रेरणा से लिखी थी और वह सं० १७८०में पूरी हो गई थी[१]। इससे सं० १७८० में आनंदघनजी की विद्यमानता तथा सं० १७६० तक उनकी प्रसिद्धि का अनुमान होता है। घनानंद विषयक भडौवा छंद सं० १८१२ में बने 'जस कवित्त' नामक ग्रंथ में उद्धृत हैं। अतः इनका काल सं० १८१२ तक तो उद्धरणों के प्रमाण से ही पहुँचता है। लखनऊ के श्री भवानीशंकरजी याज्ञिक के पास एक पत्र लेखक ने देखा है जो दो इंच चौड़ा तथा ४ इंच लंबा है। उस पर घनानंद जी के २१ सवैये लिखे हुए हैं। २० पंक्तियाँ एक ओर तथा १६ दूसरी ओर हैं। लिपिकार का समय तो ज्ञात नहीं है पर इससे कवि की प्रसिद्धि का अनुमान भलीभाँति लग सकता है। सं० १८८० में रीवा नरेश महाराज रघुराज सिंह ने व्रज में इनकी अनेक कथाओं को प्रसिद्ध होते सुना था। इनके कवित्त भी उस समय लोगों को बहुत याद थे।

'घनआनंद की कथा अनेका। व्रज में विदित अहै सविवेका॥ व्रज में विदित कथा यह सारी। संक्षेपहि इत लिख्यौ विचारी॥ घनआनन्द के विपुल कवित्ता। अबलौं हरत कविन के चित्ता॥'' भक्तमाल।

इतिहासकारों में लालाभगवानदीनजी ने इनका जन्म सं० १७१५ तथा मृत्यु नादिरशाही हमले के समय सं० १७९६ में मानी है। उनका आधार शिव सिंह सेंगर का 'सरोज' है जिसमें आनंदघन दिल्लीवाले का समय सं० १७१५ माना है[२]। साथ ही सरोजकार ने यह भी लिखा है कि सं० १७४६ में बने 'कालिदास हजारा' ग्रन्थ में उन्होंने आनंदघन की कविताएँ नहीं देखीं। यदि कवि का जन्मकाल सं० १७१५ माना जाए तो 'कालिदास हजारा' के निर्माणकाल में ये लगभग ३०,३२ वर्ष के होगये थे। फिर इनकी सी उच्च काव्य-कला के व्यक्ति का हजारा में स्मरण न हो यह युक्ति संगत नहीं प्रतीत होता। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र तो शिवसिंह सरोज के सन् संवतों को काव्यकाल मानते हैं, जन्मकाल नहीं। वे सरोज में कवियों के नामों के आगे लिखे उ० का अर्थ उत्कर्ष करते हैं।[३] यदि यह मान लिया जाय तो सं० १७४६ तक आनंदघनजी ३० वर्ष कविता कर चुके थे। इस दशा में तो उनका नाम अवश्य हजारा में आना चाहिए था। दूसरे अभी हम देखेंगे कि आनंदघनजी

१—आ० रा० च० शुक्ल हि० सा० इतिहास प्र० संस्क० पृ० २४८। देखिये जीवन वृत्त प्रकरण।

२—शिवसिंह सरोज सप्तम संस्क० पृ० ४८०।

३—हिन्दुस्तानी भाग १३ अंक २ अप्रैल सन् १९४३ शिवसिंह सरोज के सन् सं० शीर्षकवाला लेख।

की मृत्यु स० १७९६ में न होकर सं० १८७७ में हुई थी। इनका जन्म फिर स० १७१५ मान लेने पर आयु १०२ वर्ष की बैठती है जो असाधारण है। ये मरे भी अकाल मृत्यु से थे। अतः इनका जन्मकाल १७१५ संवत् नहीं हो सकता।

'शिवसिंह सरोज' के द्वारा सकेत किए गए 'कालिदास हजारा' में,आनदघन के कवित्तों के न होने के आधार को ही लेकर बाद के इतिहासकारों ने इनका जन्म सं० १७४६ के लगभग माना है। 'मिश्रबधु विनोद' में स० १७७१ से इनका काव्यकाल माना है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने सं० १७४६ के लगभग जन्म होने का अनुमान किया है। प० विश्वनाथप्रसाद मिश्र को इस पर एक आपत्ति हुई है। आनदघनजी ने निम्बार्क सप्रदाय के श्री वृन्दावनदेवजी से दीक्षा ली थी यह उनकी परमहंस वशावली से स्पष्ट है। इस में निम्बार्क संप्रदाय की गुरु परपरा का प्रारंभ से वृन्दावनदेवजी तक ही वर्णन है। वृन्दावनदेवजी पर आकर कवि ने लिखा है कि वे मेरे लिए वृन्दावन में प्रकट हुए हैं, "जगतोहित मोहित प्रगट हरिविनोद निजधाम"[1]। इनका (वृन्दावनदेवजी) समय सांप्रदायिक इतिहास में स० १७५९ से १८०० तक है। श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है कि उनसे (श्री वृन्दावनदेवजी से) दीक्षा लेने का समय अधिक से अधिक स० १७५९ ही तक समव हो सकता है। यदि पूर्वोक्त अनुमित जन्मकाल (स० १७४६) ठीक माना जाय तो यह भी मानना पडेगा कि इनकी वय दीक्षा के समय १३ वर्ष की थी, जो इनके जीवनवृत्त को देखकर असंभव है। वृन्दावन पहुँचने के समय इनकी वय २५-३०की अवश्य माननी चाहिए। अतः इनका जन्म स० १७३० के आस पास समाव्य है।[2] मिश्रजी का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि स० १७५९ या १७५६ में वृन्दावनदेवजी सलेमाबाद चले गए थे वृन्दावन में नहीं रहे थे। उनके द्वारा वृन्दावन में दीक्षा इससे पूर्व हो सकती थी।

इस तरह स० १७३० में इनका जन्म मान लेने पर दीक्षा के समय २६ या २९ वर्ष के ये होते हैं जो इनके जीवनवृत्त को देखकर ठीक प्रतीत होता है। सुजान के प्रेम का प्रसंग यौवनकाल में ही समव है। इस मान्यता में परमहसवशावली में वर्णित शेषजी के साथ आनदघनजी का संपर्क भी ठीक

१—परमहंसावली ४४।

२—घ० ग्रा० ग्र० भूमिका पृ० ७५।

हो जाता है। शेषजी के विषय में परमहंसवंशावली में आनदघनजी लिखते हैं कि वे काशी के निवासी हैं और निगम तथा आगमों में प्रवीण हैं। उन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय का पूरा अवगम है। बडे पवित्र और कुलीन हैं।

काशी वासी सेषगन निगमागमन प्रवीन।
निंबादित्य अनुगम सबै परम पुनीत कुलीन ॥

ये शेष जयरामजी शेष हैं जो वृन्दावनदेवाचार्यजी के शिष्य थे और स० १८०० से १८६० तक निम्बार्क सप्रदाय के मदिरों का प्रबन्ध करते थे। इस प्रकार आनदघनजी का जन्म समय स० १७३० के आसपास अनुमित होता है।

मृत्यु उनकी नादिरशाह के हमले में बताई जाती है। ग्रियर्सन, राधाचरणजी तथा शुक्लजी के इतिहास ग्रंथों में यही लिखा हुआ मिलता है। यह कत्लेआम ११ मार्च सन् १७३६ को प्रारभ हुआ था। पर इतिहास ग्रन्थों में मथुरा पर नादिरशाह के हमले की बात कहीं नहीं लिखी गई है। वह दिल्ली तक ही सीमित रहा था। श्री राधाकृष्णदासजी ने नागरीदासजी के जीवनचरित्र में यह बताया है कि मथुरा पर हमला दुर्रानी का था। श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी ने इतिहास का प्रमाण देते हुए स्पष्ट लिखा है कि हमें मानना पड़ता है कि 'नादिरशाह के कत्लेआम में नहीं बल्कि अहमदशाह अब्दाली के मथुरा और वृन्दावन वाले कत्लेआम में घनानद का वध हुआ।'[1] अपनी स्थापना में आपने श्री एस० आर० शर्मा का इतिहास प्रमाण-रूप में उपस्थित किया है जिसमें यह स्पष्ट लिखा है कि भगवान की कृपा से यह विनाशकाड राजधानी के ऊपर लिखे मार्गों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान तक नहीं बढा। ऊपर लिखे भाग हैं, चादनी चौक, सब्जीमडी, दरीबा बाजार और जामामसजिद के आसपास के मकान जलाकर भस्म कर दिए थे। इससे नादिरशाह के आक्रमण में इनकी मृत्यु की बात सुनी सुनाई सिद्ध होती है। नादिरशाह अपने नृशस अत्याचारों के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। इसलिए ऐसे कृत्यों का उससे सम्बन्ध जुड जाता है। नादिरशाह ने कत्लेआम की आज्ञा ११ मार्च सन् १७३६ को दी थी। आनदघनजी ने अपनी पुस्तक मुरलिकामोद में स० १७६८ (सन् १७४१ ई०) का सकेत किया है।

१—ज्ञानवती त्रिवेदी—घ० ग्रा० पृ० ६३।

गोप मास श्रीकृष्ण पक्ष सुचि।
संवत्सर अठानवे अति रुचि ।।

इससे स्पष्ट है कि वे सं० १७९६ में नहीं मरे। यह अठानवे सं० १७९८ ही हो सकता है १६९८ नहीं। श्री वृन्दावनदेवजी से आनदघनजी की दीक्षा लेना तथा नागरीदासजी से उनकी मैत्री आदि तभी संगत होती हैं। नागरीदासजी के साथ इनकी मैत्री के अनेकत्र उल्लेख हैं। उन्होंने अपनी 'मनोरथ मजरी' इन्हीं की प्रेरणा से लिखी थी तथा उनके पद्य अपनी कृतियों में उन्होंने उद्धृत किए हैं यह पहले बताया जा चुका है। राधाकृष्णदासजी ने नागरीदासजी के जीवनचरित्र के प्रसग में यह लिखा है कि हमारे यहाँ एक अत्यन्त प्राचीन चित्र है जिसमें नागरीदासजी और आनदघनजी एक साथ विराजते हैं।[1] वह चित्र तो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ लेकिन जो चित्र इनका प्राप्त है वह भी कृष्णगढ से ही मिला है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चद ने सुजानशतक के आरंभ में चित्र चिपकाने के लिए एक चौकोर खाना बनाकर उसके ऊपर नीचे छापा है—'यह चित्र श्री आनंदघनजी का है जिसे श्री महाराज कुमार श्रीकृष्णदेवशरणसिंह ने अपने हस्त कमल से उनके लिखे हुए चित्र से छाया का चित्र बनाया है।"

कृष्णगढ के राजकवि जयलाल ने नागरीदासजी का ही सम-सामयिक आनदघनजी को माना है। यह उनके उद्धरणों से स्पष्ट किया जा चुका है। जयलाल ने अपने एक पत्र द्वारा राधाकृष्णदासजी को यह लिखा था कि जब नागरीदासजो वृन्दावन से कृष्णगढ गए थे तो आनंदघनजी उनके साथ थे। यद्यपि आनंदघन कृष्णगढ तक न जाकर जयपुर से ही वापिस आ गए थे। पत्र का आवश्यक अश राधाकृष्ण ग्रन्थावली पृष्ठ १७३ पर छपा है। नागरीदासजी की यह यात्रा चैत्र कृष्ण १२ सं० १८१३ को हुई थी यह 'नागर समुच्चय' में जयलाल ने ही लिखा है।

अठारह सै ऊपर सवत् तेरह जान।
चैत्र कृष्ण तिथि द्वादशी ब्रज ते कियो पयान ।।

इससे सं० १८१३ में नागरीदासजी के साथ राजस्थान को प्रस्थान करने वाले आनदघनजी सं० १७९६ में नहीं मरे यह स्पष्ट हो जाता है। अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण दो बार मथुरा वृन्दावन पर हुआ था। एक सं० १८१३

१—राधाकृष्ण ग्रन्थावली पृ० १७२।

हो जाता है। शेषजी के विषय में परमहंसवंशावली में आनदघनजी लिखते हैं कि वे काशी के निवासी हैं और निगम तथा आगमों में प्रवीण हैं। उन्हें निम्बार्क सम्प्रदाय का पूरा अवगम है। बडे पवित्र और कुलीन हैं।

काशी वासी सेषगन निगमागमन प्रवीन।
निंबादित्य अनुगम सबै परम पुनीत कुलीन ।।

ये शेष जयरामजी शेष हैं जो वृन्दावनदेवाचार्यजी के शिष्य थे और स० १८०० से १८६० तक निम्बार्क सप्रदाय के मदिरों का प्रबन्ध करते थे। इस प्रकार आनदघनजी का जन्म समय स० १७३० के आसपास अनुमित होता है।

मृत्यु उनकी नादिरशाह के हमले में बताई जाती है। ग्रियर्सन, राधाचरणजी तथा शुक्लजी के इतिहास ग्रथो में यही लिखा हुआ मिलता है। यह कत्लेआम ११ मार्च सन् १७३६ को प्रारभ हुआ था। पर इतिहास ग्रन्थों में मथुरा पर नादिरशाह के हमले की बात कहीं नहीं लिखी गई है। वह दिल्ली तक ही सीमित रहा था। श्री राधाकृष्णदासजी ने नागरीदासजी के जीवनचरित्र में यह बताया है कि मथुरा पर हमला दुर्रानी का था। श्रीमती ज्ञानवती त्रिवेदी ने इतिहास का प्रमाण देते हुए स्पष्ट लिखा है कि हमें मानना पड़ता है कि 'नादिरशाह के कत्लेआम में नहीं बल्कि अहमदशाह अब्दाली के मथुरा और वृन्दावन वाले कत्लेआम में घनानद का वध हुआ।'[1] अपनी स्थापना में आपने श्री एस० आर० शर्मा का इतिहास प्रमाण-रूप में उपस्थित किया है जिसमें यह स्पष्ट लिखा है कि भगवान की कृपा से यह विनाशकाड राजधानी के ऊपर लिखे भागों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान तक नहीं बढा। ऊपर लिखे भाग हैं, चादनी चौक, सब्जीमडी, दरीबा बाजार और जामामसजिद के आसपास के मकान जलाकर भस्म कर दिए थे। इससे नादिरशाह के आक्रमण में इनकी मृत्यु की बात सुनी सुनाई सिद्ध होती है। नादिरशाह अपने नृशस अत्याचारो के लिए इतिहास-प्रसिद्ध है। इसलिए ऐसे कृत्यों का उससे सम्बन्ध जुड़ जाता है। नादिरशाह ने कत्लेआम की आज्ञा ११ मार्च सन् १७३६ को दी थी। आनदघनजी ने अपनी पुस्तक मुरलिकामोद में स० १७६८ (सन् १७४१ ई०) का सकेत किया है।

१—ज्ञानवती त्रिवेदी—घ० आ० पृ० ६३।

गोप मास श्रीकृष्ण पक्ष सुचि।
संवत्सर अठानवे अति रुचि ।।

इससे स्पष्ट है कि वे स० १७९६ में नहीं मरे। यह अठानवे सं० १७६८ही हो सकता है १६६८ नहीं। श्री वृन्दावनदेवजी से आनदघनजी की दीक्षा लेना तथा नागरीदासजी से उनकी मैत्री आदि तभी संगत होती हैं। नागरीदासजी के साथ इनकी मैत्री के अनेकत्र उल्लेख हैं। उन्होंने अपनी 'मनोरथ मजरी' इन्ही की प्रेरणा से लिखी थी तथा उनके पद्य अपनी कृतियों में उन्होंने उद्धृत किए हैं यह पहले बताया जा चुका है। राधाकृष्णदासजी ने नागरीदासजी के जीवनचरित्र के प्रसग में यह लिखा है कि हमारे यहाँ एक अत्यन्त प्राचीन चित्र है जिसमें नागरीदासजी और आनदघनजी एक साथ विराजते हैं।[1] वह चित्र तो अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ लेकिन जो चित्र इनका प्राप्त है वह भी कृष्णगढ से ही मिला है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चद ने सुजानशतक के आरम में चित्र चिपकाने के लिए एक चौकोर खाना बनाकर उसके ऊपर नीचे छापा है—'यह चित्र श्री आनंदघनजी का है जिसे श्री महाराज कुमार श्रीकृष्णदेवशरणसिंह ने अपने हस्त कमल से उनके लिखे हुए चित्र से छाया का चित्र बनाया है।"

कृष्णगढ के राजकवि जयलाल ने नागरीदासजी का ही सम-सामयिक आनदघनजी को माना है। यह उनके उद्धरणों से स्पष्ट किया जा चुका है। जयलाल ने अपने एक पत्र द्वारा राधाकृष्णदासजी को यह लिखा था कि जब नागरीदासजी वृन्दावन से कृष्णगढ गए थे तो आनंदघनजी उनके साथ थे। यद्यपि आनंदघन कृष्णगढ तक न जाकर जयपुर से ही वापिस आ गए थे। पत्र का आवश्यक अश राधाकृष्ण ग्रन्थावली पृष्ठ १७३ पर छपा है। नागरीदासजी की यह यात्रा चैत्र कृष्ण १२ सं० १८१३ को हुई थी यह 'नागर समुच्चय' में जयलाल ने ही लिखा है।

अठारह सै ऊपर सबत् तेरह जान।
चैत्र कृष्ण तिथि द्वादशी ब्रज ते कियो पयान ।।

इससे स० १८१३ में नागरीदासजी के साथ राजस्थान को प्रस्थान करने वाले आनदघनजी सं० १७६६ में नहीं मरे यह स्पष्ट हो जाता है। अहमदशाह अब्दाली का आक्रमण दो बार मथुरा वृन्दावन पर हुआ था। एक सं० १८१३

१—राधाकृष्ण ग्रन्थावली पृ० १७२।

में और दूसरा स० १८१७ में। आनदघनजी दूसरे आक्रमण में ही मारे गए। अब्दाली का पहला आक्रमण १ मार्च सन् १७५७ से ६ मार्च सन् १७५७ तक रहा था। यह समय फाल्गुन शुक्ल १० से चैत्र कृष्ण प्रतिपदा स० १८१३ तक पड़ता है। जयलालजी के अनुसार आक्रमण के समाप्त होने के १२ दिन बाद अर्थात् चैत्र कृष्ण १२ को नागरीदासजी तथा आनदघनजी वृन्दावन से कृष्णगढ को जाते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे पहले आक्रमण में नहीं मारे गए।

इस मान्यता में एक आपत्ति उपस्थित होती है। चचा हित वृन्दावन-दासजी की 'हरिकलावेलि' में स० १८१३ के सर्वविध्वस का वर्णन किया गया है और उसी प्रसग में आनदघनजी की मृत्यु का भी उल्लेख है। उन्होंने लिखा है स० १८१३ में यवनों ने देश का नाश किया। लोगों पर बड़ी भारी विपत्ति आ टूटी। ऐसा प्रतीत होता था मानों हरि ही सृष्टि सहार के लिए उतर पडे हों।

अठारह सौ तेरहों बरष हरि यह करी।
जमन बिगोयौ देश विपति गाढ़ी परी॥
तब मन चिंता बाढ़ी साधु पतन करे।
हरि ही मनहु श्रृष्टि सँघार काल आयुध धरे॥

× × × ×

इस हृदय विदारक घटना का और अधिक वर्णन करने के बाद उन्होंने अपनी एक व्यक्तिगत घटना का वर्णन किया है। चैत्र सुदी एकादशी स० १८१४ को वे फरुखाबाद गगा के किनारे गए। वहाँ रात्रि को रास हुआ। रात के तीन पहर बीतने पर रासकर्ताओं ने आनदघनजी का एक ख्याल गाया। उसे सुनकर चचाजी का मन बड़ा विह्वल हो गया और वे सोचने लगे कि ऐसे सतजनों को भी यवनों ने आकर मार डाला। इससे उनका हृदय सोच से दब गया।

शहर फरुखाबाद जहाँ गए सुरधुनी पास।
चैत्र सुदी एकादशी तहाँ भयौ इक रास॥
तीन पहर रजनी गई वे कवि कीयौ गान।
तहाँ एक कौतुक भयौ जाकौ करो वखान॥
आनदघन को ख्याल इक गायौ खुलि गए नैन।
सुनत महा विह्वल भयौ मन नहिं पायो चैन॥

ऐसे हूँ हरि संत जन मारे जमननि आइ।
यह अति देख हियो भयौ लीनौ सोच दवाइ ॥"

यदि यह स्वीकार किया जाय कि वृन्दावनदासजी का शोक से व्याकुल होना सं० १८१४ का है तो फाल्गुन शुक्ल १०मी से लेकर चैत्र कृष्ण प्रतिपदा सं० १८१३ तक के उपद्रव में मारे जाने वाले आनदघनजी के विषय में चैत्र सुदी एकादशी सं० १८१४ को अर्थात् १६ दिन बाद चचा हितवृन्दावनदास का यह शोक स्वाभाविक हो जाता है। ऊपर स० १८१३ की विपत्ति का वर्णन कर उसके एकदम बाद इस घटना का उल्लेख करने से यही विश्वास होता है कि आनदघनजी की मृत्यु की घटना उसी समय हुई थी। पर जयलाल की उक्ति का विरोध पड़ता है। इसलिए यह अनुमान करना पड़ता है कि यह शोकानुभूति स० १८१८ की है जब उन्होने 'हरिकलावेलि समाप्त की थी। समाप्ति का समय कवि ने स्वय दिया।

अठारह सौ सत्रहों वर्षगत जानिये।
साढ वदी हरि वासर बेलि बखानिये॥

इस पुस्तक में आनंदघनजी की मृत्यु पर चचाहित वृन्दावनदासजी वर्तमानकालिक भाषा में शोक प्रकट करते हैं, उनका कवित यह है।

विरह सतायौ तन निबाह्यौ जब साँचौ पन।
धन्य आनदघन मुख गाई सोई करी है॥
एहो ब्रजराज कुँवर धन्य धन्य तुमहूँ कों।
कहानी की प्रभु यह जग में विस्तरी है॥
गाढौ ब्रजउपासी जिन देह अत पूरी पारी।
रज की अभिलाषा सों तहाँ ही देह धरी है॥
वृन्दावन हितरुप तुमहु हरि उड़ाई धूरि।
एपै साची निष्ठा जन ही की लखि परी है॥

× × ×

इस कवित्त की संगति बिठाने के लिए वृन्दावनदासजी के पहले वचन का उपर्युक्त अभिप्राय ही लगाना पडेगा। विनिगमक प्रमाणों के अभाव में इसी पर संतोष करना पड़ता है। अतः निश्चय यही है कि आनदघनजी की मृत्यु अब्दाली के दूसरे आक्रमण में स० १८१७ में हुई।

नाम

६—घनआनद या आनंदघन

आनदघन कवि की कविता ही नहीं उसका नाम भी दुरवबोध है। इसका कारण कवि द्वारा अपने नाम के विविधरूपों का प्रयोग करना है। शैली लाक्षणिक होने के कारण शब्द के व्युत्पत्यर्थ का कवि को ध्यान अधिक रहता है। बहुत से स्थलों पर तो कवि ने विरोधादि चमत्कार इसी प्रकार दिखाए हैं, जैसे "जीव सूख्यौ जाय ज्यौं ज्यौ भीजत सरवरी' में रात भीजने के वाच्यार्थ या व्युत्पत्यर्थ को लेकर जीव के सूखने का विरोध है। पर उसी का लक्ष्यार्थ 'रात बीतना' के साथ कोई विरोध नहीं। इस तरह शब्दों के वाच्यार्थ के प्रति सजग रहकर उनका प्रयोग करना इनकी शैली का एक अग है। इसके कारण कवि ने अपने नाम का कविता में प्रयोग सदा सार्थक और वाच्यार्थ के उपस्थापक के रूप में किया है। व्यक्तिवाचक सज्ञाएँ व्याकरण की दृष्टि से सार्थक नहीं होतीं। इन्हें इसीलिए 'यदृच्छा' शब्द कहा जाता है। जिस प्रकार किसान अपने बछडे का नाम 'डित्थ' रख लेता है और उस शब्द का न कोई अर्थ होता है और न उसकी अभिधेय में सगति होती है। इसी प्रकार के प्रायः सज्ञा शब्द माने जाते हैं। किसी व्यक्ति का 'लक्ष्मीपति' नाम हो तो नाम के वाच्यगुणो की सगति नामी में नहीं होती। कुछ ऐसे भी नाम होते हैं जो किसी प्रकार का समञ्जस अर्थ उपस्थित नहीं करते जैसे लक्ष्मीशकर। इसीलिए सज्ञा शब्दों के सबध में सस्कृत वैयाकरणों का यही नियम है कि उनकी आनुपूर्वी न बदलनी चाहिए और न उनके खडों के पर्यायों का प्रयोग करना चाहिए।[१] ऐसा करने से भ्रान्ति हो सकती है। पर फिर भी अकुशहीन कवि व्यक्तिवाचक नामों की आनुपूर्वी भी बदलते रहे हैं। उनके पर्याय भी देते रहे हैं और नामाश का प्रयोग समस्त के लिए करते रहे हैं। 'हिरण्याक्ष' के लिए 'हाटक लोचन' तथा सत्यभामा के लिए 'सत्या' या 'भामा' का प्रयोग सस्कृत के कवियों ने बहुत किया है।

आनदघन ने अपने नाम के प्रयोग में भी इसी स्वतत्रता का प्रयोग किया है। उन्होंने इसके पर्याय भी दिए हैं, आनुपूर्वी भी बदली है और अश का प्रयोग समस्त के अर्थ में भी किया है। इनके नाम के लिए प्रायः निम्नलिखित शब्दरूप व्यवहृत हुए हैं।

१—नागेशभट्ट—वैयाकरण मजूषा, शक्ति विचार प्रकरण।

आनँदघन,[1] अनंदघन,[2] आनद के घन,[3] आनंदपयोद[4] आनँद के घन,[5] आनदनिधान,[7] पयोदमोद,[8] आनद,[9] आनंदकद[10] आनद सदन[11] आनदमेघ[12], आनदमेह[13], आनदमुदीर,[14] आनदअमीवरस[15], मोदपरमपयोद[16], सच्चिदानंदघन[17], आनदमेह[18], घनआनद[19], आनंद के अंबुद[20], मोदमेह[21], आनंद अमृतकद[22] ।

इस प्रकार अपने नाम के लगभग २१ प्रकार के रूप कवि ने प्रयुक्त किए हैं। इनमें कई बातें विशेष उल्लेखनीय हैं ।

१—कवित्त सवैयों में घनआनद शब्द की प्रधानता है। यहाँ ६०० बार से ऊपर इस शब्द का प्रयोग हुआ है। पदावली और निबंध रचनाओं में आनदघन शब्द का व्यवहार प्रधान रूप से हुआ है। कहने को पदावली में भी दो स्थान पर घनआनद का प्रयोग हुआ है।[1] कवित्त सवैयों में तो घन आनद अपने विकृत रूपों के साथ सौ से ऊपर बार प्रयुक्त हुआ है, फिर भी कवित्त सवैयों में आनदघन तथा उसके विकृत रूपों का जितना प्रयोग है उतना घनआनद का पदावली-निबधों में नहीं।

२—आनदघन यह विशुद्ध रूप केवल तीन छप्पय छंदों में व्यवहृत हुआ है। अन्यत्र इसके विकृतरूप आनँदघन अनदघन आदि आए हैं ।

३—घनानद अपनेशुद्धरूप में कहीं व्यवहृत नहीं हुआ। उसका सानुस्वार रूप घन आनँद ही सर्वत्र आया है।

४—शब्दों की आनुपूर्वी दो प्रकार की है। आनंदपूर्वक तथा घन पूर्वक। इनमें से घन पूर्वक आनुपूर्वी के अधिक विकार जैसे 'मेघ आनंद' 'पयोद आनद' आदि आदिदेखने में नहीं आते। केवल एक स्थान पर 'पयोदमोद' का व्यवहार हुआ है। आनंदघन के ही सब विकृतरूप मिलते हैं।

५—विकार का कारण छन्दोनुरोध प्रतीत होता है। आनदघन या घनआनद अपने विशुद्धरूप में छन्दोनुकूलरूप नहीं है। इसीलिए कहीं आ को ह्रस्व बनाकर 'अनंदघन' किया गया है कहीं 'न' को ह्रस्व बनाकर 'नँ' किया गया है। यही हेतु पर्यायों के प्रयोग करने तथा आनुपूर्वी बदलने में

१—सुहि० ७८५, २ सुहि० १८७, ३. वही २४, ४ सुहि० ८७, ५. वही ६१ ६ वही ७५६ ७ ३५७ ८ १६७, ९. आ० ह० ३८ १० वही २६६ ११ ३२१, १२. ५१०, १३ वही ५१४, १४. वही ६७७, १५ वही ६७६।

१—देखिए आ० प० ५४० तथा १०४८।

प्रतीत होता है। आनदघन शब्द तगणात्मक होने से कवित्त सवैयों के अनुकूल नहीं। इसलिए उसकी आनुपूर्वी बदलकर सगणात्मक बनाया गया है। आगे भी सगण बन सके इसलिए 'आनद' के 'नं' को ह्रस्व कर दिया गया है।

"साळत वान समान हिये सुलहे घनआनंदजी सुख साधन" में भगण से सवैया प्रारभ होता है। इस पक्ति में पाचवा मगण 'है घन' का बनता है। इसके अनतर फिर भगण की ही आवश्यकता है। यदि 'न' को दीर्घ ही रक्खा जाये तो मगण की उपलब्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार 'घन आनद अपने चातिक को गुन बाध लै मोहन छोरियै जू" रस प्याय के ज्याय वढाय कै आस विसास में यौं विष घोरियै जू" में सगण सवैया है। 'घनआ' का एक सगण हो गया, दूसरा सगण 'न' को बिना ह्रस्व किए नहीं बन सकता। इस प्रकार कवित्त सवैयों की छन्दोनुकूलता 'आनदघन' या 'घन आनद' किसी शब्द में नहीं है। फ़लतः कवि ने ह्रस्व दीर्घ का स्वानुकूल परिवर्तन कर लिया है।

शब्दों के विविधरूपों के जान लेने के बाद यह जिज्ञासा होती है कि कवि को अपने नाम शब्द से अभिप्रेत अर्थ एक ही है या अनेक हैं। यदि अनेक हों तो अर्थानुरोध भी शब्द परिवर्तन का कारण हो सकता है। यदि एक ही अर्थ अभिप्रेत है तो परिवर्तन का कारण छन्दोनुरोध ही मानना पडेगा।

उपर्युक्त प्रयोगों की परीक्षा करने पर दो प्रकार के अर्थ कवि के अभिप्रेत प्रतीत होते हैं। एक तो 'आनद के बरसाने वाले बादल' तथा दूसरा 'घनीभूत आनदस्वरूप' या 'घनीभूत आनदवाला'। दोनों अर्थ आनदघन तथा घन-आनद आनुपूर्वियों में आए हैं। जैसे—

आनंद के वर्षयिता के अर्थ में आनदघन

बिरह नसाय दया हिये में बसाय आय।
हाय कब आनद को घन बरसाय हो॥

उसी अर्थ में घनआनंद

दुख धूम घुँघरि में घिरें घुटें प्रान खग।
अबलौं बचे है जो सुजान तनकौ ढरै॥
बरसि बरसि घनआनद अरस छाँडि।
सरस परस दै दहनि सब ही हरै॥'

आनदस्वरूप या आनंदवान के अर्थ में घन आनंद

घनआनद है दुख तापत पावत।
क्यों करि नाँवहि नाव धरौ॥

यह अर्थ बहुत थोड़े स्थलों में आया है। पहला अर्थ ही प्रायः व्यवहृत हुआ है।

इन दोनों शब्दों की अर्थ परंपरा पर विचार किया जाए तो घन आनद और आनंदघन दोनों ही शब्द उपनिषद् आदि वेदान्तग्रन्थों में ब्रह्म के स्वरूप बोधन के लिए प्रयुक्त होते हैं। सच्चिदानंदघन का खंड आनदघन है उसी के (ब्रह्म के) लिए कभी चिद्घनानद विशेषण प्रयुक्त होता है। उसका अंश 'घनानद' या आनँदघन' हो सकता है। दोनों नाम साधुओंमें अब भी प्रचलित हैं। ब्रह्म के चार गुण सत्ता, चैतन्य, घनत्व, तथा आनदस्वरूपता माने जाते हैं। उनमें से 'आनद'आनदस्वरूपता का, 'घन' घनस्वरूपता का बोधक होता है। इस प्रसग में घन का अर्थ घनीभूत तथा अविचाली दोनों ही होते हैं। लुहार जिस पर रखकर लोहे को पीटता है पहले वह 'घन' या कूट कहलाता था। आजकल तो उसे 'निहाई' (संस्कृत निःस्थायी) या ऐन (सस्कृत अयन) कहते हैं। और घन का अर्थ है बड़ा हथौड़ा। घन विशेषण द्वारा ही ब्रह्म को वेदान्तियों ने कूटस्थ अविचाली बताया है। कवि ने भी दर्शन प्रसिद्ध अर्थ में उसी आनुपूर्वी के साथ चारों विशेपणों का एक पद में प्रयोग किया है जैसे।

जै जै श्री वामन विशाल।
कृपासील महासील नरोत्तम नितहीं नित दीन दयाल।
सत्यंवद सत्वस्वरूप सत्यप्रतिज्ञ पूरन कृपाल॥
सच्चिदानदघन अनघत्रिविक्रम पद नख जल जग सुजस जाल[1]

उपर्युक्त अर्थ परपरा में घनानद में कर्मधारय तत्पुरुष समास माना जाता है। दोनों शब्द स्वतंत्र रूप से अपना अर्थ समर्पण करते हैं। कोई किसी का विशेपण नहीं बनता। साथ ही घनआनद यह असंहितरुप कभी प्रयुक्त नहीं होता। सस्कृत व्याकरण का यह प्रबल नियम है कि समस्त पद बिना सन्धि के नहीं रहता।[2]

कविने 'घन' शब्द को घनीभूत अर्थ में बहुत कम स्थलोंपर व्यवहृत किया है। प्रायः उसका बादल के अर्थ में प्रयोग किया है। आनुपूर्वी घनपूर्वक हो या आनदपूर्वक इन्होंने 'आनद के बादल' इसी अर्थ में प्रायः इसका व्यवहार

१—आ० प० ७३३

२—सिद्धान्त कौमदी समासाश्रय प्रकरण—"सहितै क पदे नित्या नित्या समासे।"

किया है। 'आनदघन' 'आनद के अंबुद' 'आनद अमीघरस' आदि प्रयोग भेदों से भी यही मान्यता पुष्ट होती है। आनदघन शब्द में तत्पुरुष समास माना है। घनपूर्वक आनुपूर्वी में भी आनद के घन अर्थ को ही प्रायः माना है। इस अर्थ में फारसी शैली से शब्द में तत्पुरुष समास माना जा सकता है जिसमें उत्तर पद पूर्व पद बन जाता है जैसे दर्देदिल। आनंदघनजी 'आँसू प्रवाह' के लिए 'प्रवाह आँसू' का प्रयोग करते हैं।[1] इस प्रकार देखने में यही आता है कि अर्थ का अनुरोध शब्द परिवृत्ति का कारण नहीं है। 'आनदघन' का भी उन्होंने आनंदस्वरूप अर्थ कहीं कहीं किया है जैसे—'जानप्यारे प्राननि बसत पै अनदघन बिरह बिसम दसा मूक लौं कहनि है' इससे 'आनदघन' और 'घन आनद' दोनों के ही अर्थ 'आनदस्वरुप' तथा आनद के मेघ' अर्थ कवि ने दिखाए हैं। इनमें मेघ वाला अर्थ प्रधान रूप से आया है।

ऐसी स्थिति में यह निर्णय कठिन हो जाता है कि कवि का वास्तविक नाम क्या था। प्राचीन ऐतिहासिकों ने दोनों ही प्रकार से इसे समझा है। राधाचरण गोस्वामीजीने 'भक्त बेलि सिंचन करी घनआनंद आनंदघन' में दोनों का ही प्रयोग किया है। वास्तविक नाम कौनसा है यह नहीं कहा जा सकता। शिवसिंह, मिश्रबन्धु तथा ग्रियर्सन ने आनदघन ही नाम माना है। आचार्य रामचद्र शुक्ल ने सबसे पहले इन्हें घन आनद लिखा है। इसके बाद बहुगुना जी ने अपनी पुस्तक का नाम 'घन आनंद' रक्खा। कवि के नाम के विषय में बहुगुनाजी की यह संभावना है कि इनका वास्तविक नाम 'आनद' था। इसी का विकसितरूप कवि ने 'आनदघन' तथा 'घनआनद' कर लिया है। इस सभावना में बहुगुनाजीने युक्तियाँ देते हुए कहा है कि केवल 'आनद' छाप से इनके कवित्त सवैये मिलते हैं। कवि राधा और कृष्ण दोनों का उपासक है। सुजान शब्द दोनों का ही विशेषण इन्होंने बनाया है। राधा के लिए 'आनद की निधि' तथा श्रीकृष्ण के लिए 'आनद को घन' शब्द का प्रयोग उसने किया है। बहुगुनाजी की आस्था है कि दोनों की भावना को प्रकट करने के लिए रसआनंद स्वरूप राधा का 'बोधक' आनद और कल्याणकारी वृष्टि करनेवाले कृष्ण अथवा घनश्याम का 'घन' शब्द लेकर अपना नाम आनदघन अथवा घनआनद कवि ने रख लिया। इस नाम में मूलनाम तो आही गया

१—सुहि० १६६।

२—घ० क० ३१।

साथ ही उसकी राधा और कृष्ण को भक्ति का संकेत भी हो गया। इस तरह युगल छवि की उपासना के कारण कवि ने अपना नाम आनंद से विकसित कर आनंदघन और घनआनंद दोनों रूपों में रक्खा है।[1]

बहुगुनाजी ने इनका संबंध रीतिकाल के प्रसिद्धकवि सोमनाथ शशिनाथ से किया है। शशिनाथ ने अपने वंशवर्णन में आनंदनिधि नामक किसी अपने पूर्वज का उल्लेख किया है। बहुगुनाजी का यह भी अनुमान है कि ये आनंदनिधि आनंदघन ही थे। शशिनाथ का वंश वर्णन इस प्रकार है।

सिद्धता में विमल वशिष्ठ मुनिवर से,
और ज्यौतिष में नीलकंठ मित्र दिनकर से।
तिनके पुत्र आनंदनिधि बड़े उजागर जानि,
तिनकौ जस सुदिगंत लौं महाउजागर आनि।

आचार्य श्री विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने भी इनके संग्रह ग्रंथ को 'घनआनंद ग्रन्थावली' नाम रक्खा है। 'घनआनंद' नाम खोज में 'घनआनंद कवित्त के प्रकट होने के बाद व्यवहृत हुआ प्रतीत होता है। वही इस नाम व्यवहार का मूल प्रमाण है। रघुराजसिंह जू ने रामरसिकावली में 'घनआनंद ही नाम माना है।

घनआनंद है नाम जिन सुनत हरत भव त्रास

चाचा हितवृन्दावनदास ने आनंदघन नाम लिया है।

'आनंदघन को ख्याल इक गायो खुलि गए नैन'

हरिकलावेलि :

भड़ौवाकार ने जो इनका समसामयिक था आनंदघन तथा घनआनंद दोनों ही नाम दिए हैं।

"वह ईस कहूँ घनआनंद कौं जौ सुजान हजार की जूं करतौ"
मुड़िया आनंदघन जानत जहान है।'

'सुधासार' संग्रह के संग्रहीता मथुरावासी नवीन ने 'आनंदघन जू के कवित्त' लिखा है, यद्यपि कवित्तों में इनका नाम घनआनंद ही अधिक आया है। "निम्बार्क माधुरी" में यही नाम दिया है। खोज में जितनी रचनाएँ प्राप्त हुई है उनमें 'घन आनंद कवित्त' को छोड़कर सबमें आनंदघन ही नाम माना गया है। ब्रजनाथ ने अपनी प्रशस्ति में घनआनंद

१—'घनआनंद' भूमिका पृ० ८४।

या आनदघनजी नाम दिया है। श्रीं काशीप्रसादजी जायसवाल तो घनआनद वास्तविक नाम तथा आनदघन उपनाम मानते थे। वियोग वेलि की भूमिका में उन्होंने ऐसा ही लिखा है।

इस दशा में कोई दो टूक निर्णय करना बड़ा कठिन है। फिर भी कुछ हेतु ऐसे हैं जिनसे एक ओर विचारों का झुकाव अधिक होता है। कवि ने 'आनद बरसाने वाला बादल' अर्थ ही प्राधान्यन लिया है। यह बताया जा चुका है। यह अर्थ रूपक-योजना का भी मूल समस्त कविता मे बना है—यह शैली के विवेचन में स्पष्ट किया जाएगा। ऐसा अर्थ 'आनदघन' आनुपूर्वी मे ही अधिक समज्जस होता है। दूसरे जितने रूप आनद पूर्वक आनुपूर्वी के मिलते हैं उतने घनपूर्वक के नहीं मिलते। घन पूर्वक के दो ही भेद प्रयुक्त हुए हैं। 'घनआनद' तथा 'पयोदमोद'। पर दूसरी आनुपूर्वी के १६ भेद मिलते हैं। अत. कवि का आग्रह आनदघन नाम पर अधिक प्रतीत होता है। यह आग्रह दो कारणों से ही हो सकता है। या तो यह कवि का वास्तविक नाम हो या काव्यनाम। फारसी साहित्य से प्रभावित आनदघन काव्य नाम का उपयोग करते हों यह सभावित है।

बल्कि कवि वास्तविक नाम से भी अधिक आग्रही अपने काव्य नाम पर होता है। अत. जायसवालजी का विचार कि आनदघन कवि का काव्यनाम है ठीक प्रतीत होता है। फिर घनआनद भी काव्यनाम का विकृत रूप है या कवि का वास्तविक नाम इस पर रघुराजसिंहदेव के प्रमाण से उसे वास्तविक नाम ही मानना चाहिए। 'घनानद कवित्त' पुस्तक का नामकरण भी उसी ओर सकेत करता है। व्यक्तिवाचक सज्ञा होने से घन-आनद मे सधि अवश्य होनी चाहिए पर छदोव्यवस्था के कारण असहित रूप का व्यवहार हुआ प्रतीत होता है।

७—आनंद और आनदघन

शिवसिह सरोज मे ही आनदघन और आनद दो कवि प्राप्त होते हैं। डाक्टर जार्ज ग्रियर्सन ने सबसे पहले दोनो की एकता स्वीकार की थी। इसी प्रकार राग कल्पद्रुम मे आनद और आनदघन का अभेद माना है। मिश्रबधु विनोद मे आनदकवि की दो पुस्तकें लिखी हैं 'कोकसार' और 'सामुद्रिक'। हमारे विवेच्य कवि ने अपना नाम आनदघन के अतिरिक्त केवल आनद भी रक्खा है—'ज्यों ज्यो उत आनन पै 'आनद' सु ओप और'। अतः आशका का होना स्वाभाविक है कि दोनो कवि एक हैं या भिन्न भिन्न।

खोज रिपोर्ट में आनंद कवि की 'कोकमंजरी' रचना उपलब्ध हुई है। यह कामशास्त्र पर लिखी पुस्तक है। इसके अंत में कवि ने अपना समय दिया है संवत १६६० की वसंत ऋतु।

ऋतु वसंत संवत सरस सोरह सौ अरु साठ।
कोक मंजरी यह करी धर्म कर्म करि पाठ॥

कवि ने अपना नाम भी बताया है।

कायथ कुल आनंद कवि वासी कोट हिसार
कोक कला हित रुचि करन जिन यह कियौ विचार।

इधर 'सुजानहित' आदि के लेखक आनंदघन कवि को किंवदंती प्रसिद्ध शायर अबुलफजल का शिष्य बताती है। इनका समय संवत १६०८ से १६५६ तक है। फिर यह संभव हो जाता है कि हमारे कवि ही कोकमंजरी के लेखक हों। सुजानहित में एक सवैया में कोकविद्या का अप्रस्तुतरूप में उल्लेख भी हुआ है।

"तरुनाई पै कोक पढ़ै सुघराई सिखावति है रसिकाई रसै।"

श्री शंभुप्रसाद बहुगुना ने इस आधार तथा अन्य इसी प्रकार के हेत्वाभास एकत्र कर प्रस्तुत कवि आनंदघन को सत्रहवीं शताब्दी विक्रमी का माना था। पर ये भूलभुलैया तभी तक विचारणीय थीं जब तक इनकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध नहीं हो सकती थीं। अब तो मूरलिकामोद' में कवि का समय स्पष्ट हो गया है इसलिए ये सब विवेचन कवि के समझने की सीढ़ियाँ मात्र हैं।

८--जैनधर्मी आनंदघन

आनंदघन नाम वाले एक दूसरे कवि और हैं जो जैनधर्मानुयायी हैं। पहले यह संदेह किया जाता था कि वैष्णव धर्मानुयायी सुजान प्रेमी आनंदघन और जैनधर्मी आनंदघन एक ही हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने इस विषय में सन् १९३८ में वीणा पत्रिका में एक लेख 'जैनधर्मी आनंदघन' शीर्षक से प्रकाशित किया था। उसमें दोनो को एक तथा रहस्यवादी माना था। इस संदेह की दृष्टि से ही विश्वनाथप्रसादमिश्र ने वैष्णव कवि आनंदघन की रचनाओं के साथ जैनी आनंदघन की रचनाएँ भी 'घन आनंद और आनंदघन' नाम से प्रकाशित की थीं और भूमिका में इसका उल्लेख किया कि दोनो कवि पृथक पृथक हैं।

एक स्वच्छंद प्रेम के कवि है दूसरे जैनधर्म के अनुयायी उदारभावना के कवि। वास्तव में जैनधर्मी आनदघन का वैष्णव आनदघन से कोई संबंध नहीं है। दोनों के समयों में लगभग सौ वर्ष का अतर है। काव्य रचना में तो कोई साम्य है ही नहीं।

जैनधर्मी आनदघन का दूसरा नाम लाभानद भी था। जैनधर्म के प्रसिद्ध विद्वान 'ज्ञान विमल सूरि' ने इनके बाईस स्तवनों का जो 'आनदघन चौबीसी' कहलाते हैं बालकपन से अभ्यास किया था। उन्होंने इन स्तवनों को लाभानदकृत बताया है। दूसरे विद्वान् देवचद्र ने अपनी 'विचार रत्नसार' पुस्तक में इनका एक पद्य उद्धृत कर उसे लाभानदकृत बताया है। ५२वें पद में स्वय भी कहा है—

'नाम आनदभन लाभआनदघन'

लाभानदजी के माता, पिता, स्थान आदि का ठीक ठीक पता नहीं चलता। रचनाओं का सवत् भी अज्ञात है। कवि का समय सवत् १६५० से १७१० तक प्रतीत होता है। आचार्य क्षितिमोहन सेन इनका समय सवत् १६१५ से १६७५ तक मानते हैं। जैन पडित श्री यशोविजय ने इनकी प्रशसा में अष्टपदी लिखी थी। यशोविजय जी ने मेड़ता नगर में इनके साथ कुछ समय बिताया था। इससे दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। यशोविजय जी का समय निश्चित है। बड़ौदा के दभाई नगर मे उनकी समाधि पर मृत्यु समय मार्गशीर्ष शुक्ल एकादशी सवत १७७५ लिखा है। यशोविजय द्वारा लिखी गई इनकी प्रशसा से पता चलता है कि ये आयु मे उनसे बडे थे। अतः विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का अतिम भाग या १८ वीं शताब्दी के आरभ मे इनका मृत्युकाल माना जा सकता है।

जैन साधुओं की परपरा में यह भी सुना जाता है कि इनकी भेंट दादू के शिष्य मस्कीन से हुई थी। दादू का जन्म समय १६०३ है तथा मृत्यु स० १६६० है। इसके बाद मस्कीन का समय आता है। इस हिसाब से ये मस्कीन से आयु मे छोटे थे।

इनके विषय मे दो आख्यान प्रसिद्ध हैं :—

१—'लाभानद जी कृत स्तवन एतला २२ दिसै छै यद्यपि बीजा हसे तोही आपणे हाथे न थी। आद्य यशोविजय भणे आनदघन लक्ष से उद्धृत।

१—कोई सेठ आनंदघन को वस्त्र भोजन दिया करते थे। एक बार आनंदघन के धर्म-व्याख्यान के समय सेठ के आने में देर हो गई। लोगों के अनुरोध करने पर भी ये सेठ की प्रतीक्षा में बैठे नहीं। अपना कार्यक्रम समय पर प्रारंभ कर दिया। इस पर सेठ ने कुछ बुरा माना तो आनंदघन जी ने उनके वस्त्रादि उतारकर फेंक दिए।

२—एक बार किसी रानी ने अपने पति के वशीकरण के लिए इनसे मंत्र माँगा। इन्होने उत्तर में लिख भेजा कि मैं तुम्हारे पति के विषय मे कुछ नहीं कर सकता। रानी ने इस लेख का ही मंत्र समझ लिया और तावीज में बाधकर गले में लटका लिया। अवसर वश उसका पति भी उसका वशवर्ती हो गया।

यशोविजय सूर ने जो पद्य इनकी प्रशसा में लिखे हैं उनमें से एक यह है :—

आनदघन को आनंद सुजस ही गावत
रहत आनद सुमति संग
सुमति सखि के संग नित नित दौरत
कबहूँ न होत दूर।
जस विजय कहे सुनो हो आनदघन
हम तुम या मिलै हजूर—यशोविजयकृत आ० घ० प० १

इनकी दो रचनाएँ आनदघन बहत्तरी तथा आनदघन चौबीसी उपलब्ध हैं। दोनों मुक्तक गीतो के संग्रह हैं। चौबीसी मे २२ ही पद्य हैं। और जब से इनका संग्रह उपलब्ध है तभी से इनकी संख्या २२ ही ज्ञात है। लोगों का तो यह विश्वास है कि इन्होंने 'चौबीसी' नाम २४ तीर्थकरो के कारण रखा होगा वास्तव में पद्य २२ ही लिखे हैं। इनमें से २२ तीर्थंकरों की स्तुतियाँ हैं। प्रत्येक के प्रारभ में तीर्थंकर का नाम दिया है।

'ऋषभ जिनेश्वर माहरोरे और न चाहू कंत
रीझयो साहब संग न परिहरे मांगे सादि अनंत।'

आ० चौबीसी पद १

परन्तु इनके भावों में साम्प्रदायिकता का संकोच नहीं है। कविता मे तीर्थंकरो के प्रति प्रेम भक्ति का प्रदर्शन किया गया है। दार्शनिक भाव भी

यत्र तत्र व्यक्त किए हैं। रहस्यवाद की शैली का कहीं कही प्रयो
हैं। उदोधन के एक पद मे कवि कहता है:—

"हे दुलहिन तू बड़ी बावली है। तेरा पति जागता है
है। हमारे पिया तो चतुर हैं और हम बिलकुल अज्ञानी।
होगा। चाहिए तो यही कि हम आनंदवर्षी प्रियतम के दर्शनो
होकर अपना घूँघट खोल उसे देखें"।[1] यहा दुलहनि
परमसत्ता। भाषा राजस्थानी है। संस्कृत तथा अपभ्रश की सी श
प्रयोग है।

६—नंदगांव के आनंदघन।

नदगाव के भी आनदघन एक कवि थे। इनका इतिहास
हमारे कवि से मिलता है कि दोनों वैष्णव हैं। नद गाव का
कवि ने भी किया है।

"नदगाव बरसाने बसौं, सोभा निरखौं हरसौं लसौं

पर नदगाव के आनदघन ब्राह्मण थे, ये कायस्थ। उनके व
नदगाव मे विद्यमान हैं। उनका इतिहास निश्चित रूप से ज्ञ
१५५३ में जब श्री चैतन्य महाप्रभु नदगाव पधारे थे तो उन्होंने
में भगवद्दर्शन किए थे उसके विग्रहो की स्थापना नदगाव के
ने की थी। वे श्री चैतन्य महाप्रभु से मिले भी थे। अतः
विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध ठहरता है। ये
आनदघन से १०० वर्ष से भी अधिक पहले के हैं।

नानक के टीकाकार अनदघन।

डाक्टर श्री केशरीनारायण जी ने 'सपूर्णानंद अभिनदन ग्रन
नद की रचनाओ पर लिखे एक विस्तृत लेख मे सवे
कि एक और भी आनघन हैं जो न जैनी हैं न प्रेमी औ
भक्त। वे नानक जी के 'जप जी' के टीकाकार हैं। यह टीका गु
मे लिखी प्राप्त है। डाक्टर साहब लदन सग्रहालय से उसकी
ले आए हैं। इस टीका के आरम्भ और अत मे कुछ पद्य हैं जि
अपने गुरु का नामोल्लेख किया है। ये सिक्खो के दसवें
परम्पराओं मे रामदयाल के शिष्य थे।

श्री गुरु राम दयाल चिदानद करुणा रवण।
ना घरनन उन्यार आनदघन वरनन करै ॥

टीका का विवरण तथा रचना काल संवत १८५४ है।

',गुरुनानक जपजी कियौ निजमत कौ निरधार
आनंदघन टीका करै ताकौ अर्थ विचार
संमित पुराण सति अर्द्धसत युगम अधिक है जासु
मानु मासु संकुपुरी कीन्हयो लिखन विलासु"

टीका की भाषा पञ्जाई है। श्री डाक्टर केशरीनारायण जी का विचार है कि आनंदघन पदावली में जो पजाबी के पद मिलते हैं तथा 'इश्कलता' में भी पजाबी का जो व्यवहार है वह सभवतः इन्ही पंजाबी आनदघन की रचनाएं हों। केवल नाम साम्य के कारण विभिन्न कवियों की रचनाओ का एकत्र सग्रह हो गया हो। पर पजाबी भाषा को रचनाओं का ब्रज की रचनाओं के साथ भावसाम्य वैसा ही है जैसा कवित्त सवैयो का पदावली से। अतः आनदघन पजाबी के पदों के इनके पदों के साथ मिलने की अधिक सभावना नहीं लगती। वृन्दावन में 'जपजो' के टीकाकर का प्रसंग दुष्कल्प ही है। इस तरह आनंदघन तीन हो जाते हैं, जैनो, नदगाव के, और वृन्दावनवासी सुजान प्रेमो।

"कालो ह्ययं निरवधि र्विपुला च पृथ्वी।"

आनदघन और ब्रजनाथ

आनदघन की रचनाओं के संग्रह करने वाले तथा उनके प्रशसक एक ब्रजनाथ नामक व्यक्ति हैं। 'घनआनंद कवित्त' इन्ही का सग्रह किया हुआ ग्रन्थ है। इन्हों ने आनदघन की प्रशसा कवि की ही शब्दाली में बड़े मार्मिक ढग से की है। प्रशस्ति में मुख्यतया दो भावो का उल्लेख है। एक तो आनदघन जी की कविता अपने समय के अन्य कवियों से विलक्षण सिद्ध की है, दूसरे प्रेमहीन व्यक्तियों की समझ मे आने वाली यह रचना नही है यह बताया गया है।

शिवसिंह सरोज मे एक ब्रजनाथ का उल्लेख है जो रागमाला के कर्त्ता बताए गए हैं। इनका कविता काल संवत १७८० है। 'धाम चमत्कार' में आनदघन जी ने स्वयं यह कहा है कि उन्होंने ब्रज और वृन्दावन के माहात्म्य का वर्णन ब्रजनाथ की प्रेरणा से किया है।

ब्रज सरूप कछु मनमें आयो
सो हठ कै ब्रजनाथ कहायो

धामचमत्कार

इससे ये आनदघन जी के समसामायिक ही प्रतीत होते हैं । 'घनआनद कवित्त' में जो समस्त रचनाओ का संग्रह नहीं है इसका कारण भी यही प्रतीत होते हैं कि इस सग्रह के वाद भी आनदघन जी कविता करते रहे होगे ।

प्रथम परिच्छेद (ख)

सुजान

यह बताया जा चुका है कि घनआनद जी की कोई प्रेयसी थी जिसके अनुरोध से उन्होने मुहम्मद शाह की सभा में 'धुरपद' गाया था और शहशाह के कहने से नहीं गाया था । इस प्रेयसी का नाम 'सुजान' था यह भी किवदन्ती है । निश्चित प्रमाण कोई नहीं । इस प्रकार की व्यक्तिगत प्रेम की किसी न किसी प्रकार की किवदन्ती प्रेम मार्गी सभी कवियों के साथ लगी हैं । बोधा, आलम, रसखान, ठाकुर सभी किसी न किसी स्त्री या पुरुष विशेष के प्रेम मे आसक्त कहे जाते हैं । इस प्रकार का आभास इनकी कविताओं में भी मिलता है । घन आनद ने अपने कविच और सवैयों में प्राय. 'सुजान' या उसके पर्याय का प्रयोग किया है । फलत यह आशा होती है कि इस शब्द के प्रयोगों का परीक्षण किसी निश्चित लक्ष्य पर पहुँचाएगा । पर नीचे दिए गए प्रयोग विवरण से किसी प्रकार के निर्णय पर पहुँचने की अपेक्षा ओर अधिक सदेह में पड़ जाते हैं । यह निर्णय नहीं कर सकते कि 'सुजान' कौन थी । १०५५ के लगभग पद घनआनद जी के उपलब्ध हो चुके हैं । उनमें 'सुजान' के दर्शन नहीं होते । ३५ उनकी निबंध रचनाए हैं उनमे से 'इश्कलता' मे सुजान तथा उसके विभिन्न पर्यायों का प्रयोग किया गया है । कविच सवैयो में भी ऋतुवर्णन, दर्शन और भक्ति के पद इसमे रहित हैं । सब मिला कर २५० वार 'सुजान' शब्द का प्रयोग हुआ है । विवरण निम्न प्रकार से है ।

'सुजान १८२ वार'
'जान १४८ वार'

'जानराय १० बार'
'जानी ८ बार'
'जानमनि २ बार'
'ज्यानी १ बार'

अर्थ भी एक नहीं है। ११ प्रकार के अर्थों में यह प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। इसका आभास नीचे के उदाहरणों से स्पष्ट होगा।

१—श्रीकृष्ण के अर्थ में

(क) काहे को सोच मरै जियरा परी तोहि कहा विधि बातन की है
है घन आनंद स्याम सुजान सम्हारिहु चातक ज्यौं सुख जी है

कृ० क० १५

(ख) साधन पुंज परै अनलेखें पैहौ अपने मन एको न लेख्यौ
तातें सबै तजि स्याम सुजान सों साहस औरें हिये अवरेख्यौ

वही १४

२—राधा के अर्थ मे

(क) हाहा हे सुजान आजु दीजै प्रान दान नेकु
आवत गुपाल देखि लीजै बनते बनैं

सुहि ४०७

(ख) गोकुल नरेस नद बंस को प्रसंस चंद
सोभा सुख कद प्रेम अमिय निवास है
सोहित चकोर चोंप तोहित मरयौ ही रहै
सुनिये 'सुजान' सौन माधुरी विसास है

× × × ×

जगत में जोति एक कीरति की होति है पै
तो तैं राधे कीरति के कुल को प्रकास है

सुहि० १३०

३—राधा और कृष्ण दोनों के अर्थ में

दोऊ अद्भुत देखौ रसिक 'सुजान' क्यों न
लेहिं देहिं स्वाद सुख आनँद अदेह को

सुहि० ४३३

४—प्रिय पुरुष के अर्थ में

काहू कजमुखी के मधुप है लुभाने जानै
फूले रसभूले घन आनद अनत ही
× × ×
सुन्दर 'सुजान' बिन दिन इन तम सम
बीतै तभी दारनिनों तारनि गनत ही

सुनि० २७

५—प्रेयसी स्त्री के अर्थ में

(क) तेरी सों ऐरी 'सुजान' तो आँखिन देखिये आँखि न आवति मोपै।

सुहि० १८५

(ख) अलबेली 'सुजान' के पायनि-पानि पऱ्यौ न टऱ्यौ मन मेरो छवा

सुहि० १३

६—ऐसे विशेषण रूप में जो स्त्री और पुरुष दोनों के लिए प्रयोक्तव्य हो

(क) रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यौं ज्यौं निहारियै
त्यौं इन आखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आन निहारियै
एक ही जीव हुतो सुतौ वाऱ्यौ 'सुजान' सकोच औ सोच सहारियै
रोकी रहै न दहै घन आनद बावरी रीझ के हाथनि हारियै

सुहि० ४१

(ख) घन आनंद मीत 'सुजान' लखें अभिलाखनि लाखनि भांति रई।

सुहि० १४५

७—ज्ञानी या चतुर के अर्थ में

(क) एजू 'सुजान' जनाऊ कहा बिन आरति ही अति या विधि आरत

सुहि० ४३९

(ख) हिय की गति जानन जोग 'सुजान' हो
कौन सी बात जो आहि दुरी

वही० ३८४

८—घन आनद या आनद घन विशेषण रूप में

(क) कहा कहौं आनद के घन के 'जान' राय हौजू
मिलेहू तिहारे अनमिलै की कुसल है

सुहि० ६१

(ख) नयौई रसिक घन आनद सुजान यह
किधौं प्यारी तेरे नैन सैन की निकाई है

सुहि० ६५

९--'जान' अर्थात् जीवन के दाता के अर्थ मे

(क) जीवहिं जिवाय नीके जानत सुजान प्यारे

सुहि ३५५

(ख) सब ही विधि जान करौ सुख दान
जियावत प्रान कृपातन हो

वही ३५१

१०—प्रेमी के अर्थ मे

नित लाज भरे हित ढार ढरे
निखरे सुखरे सुखदायक हैं

× × ×

घिरि घूँघट पैठत 'जान' हियो
निपटे निवटे नटनायक हैं

सुहि० ३७३

११--व्यक्ति वाचक सज्ञा के रूप में

(क) दुख धूम घूवरि में घिरै घुटे प्रान खग
अब लौ बचे हैं जो सुजान तन कौ ढरैं

सुहि० ५४

(ख) अधर लगे आनि करिकैं पयान प्रान
चाहत चलन ये संदेसौ लै सुजान कौ

वही ५४

शब्द का स्वरूप भी एक नही है । सुजान के अतिरिक्त पात्र पर्याय प्रयुक्त हुए हैं। जान, जानराय, जान, जानी, तथा जानमनि । इनकी प्रयोग सख्या पहले बताई जा चुकी है ।

जहा यह शब्द प्रयुक्त हुआ है वहा घन आनंद शब्द भी किसी न किसी रूप में मिलता है। ऐसे पद्य तो हैं जिन में 'घन आनंद' है सुजान नहीं। इसके विपरीत देखने में नहीं आया। जहा दोनो है वहा विशेष्य विशेषण भाव के तात्पर्य से प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं।

मीत सुजान अनीति करौ जिन हाहा न हूजियै मोहि अमोही।

× × ×

हौ घन आनंद जीवन मूल दई कित प्यासनि मारत मोही।

सुहि० ७

यहा पर 'घन आनद' कोरा कवि नाम ही नहीं है। वाक्य में वह साभिप्राय प्रयुक्त है। अन्यथा 'प्यसनि मारत मोही' वाक्याश निरर्थक हो जायगा। फलत. 'घनानद' को सुजान का विशेषण मानना पडेगा। इसके विपरीत

आस तिहारियै हो घन आनंद कैसें उदास भएं रहनो है
जान है होत इते पै अजान जौ तौ बिन पावक ही दहनो है

सुहि० ५

में घन आनद विशेष्य लगता है जान उसका विशेषण। इस विशेष्य विशेषण भाव से यह धारणा संदिग्ध हो जाती है कि 'घन आनद' प्रेमी है 'सुजान' प्रेयसी।

ऐसी स्थिति मे कवि के शब्द-प्रयोग की सहायता से किसी प्रकार के ऐतिह्य का निर्माण करना उचित नहीं हो सकता।

रचनाओं के परीक्षण से इतना निश्चिय अवश्य हो जाता है कि सुजान नाम की कोई स्त्री थी जिस पर घन आनद मुग्ध थे। उसके रूप-सौन्दर्य, विलास-चेष्टाए, वेश-भूषा, नृत्य-गान आदि का वर्णन जो कवि ने किया है वह स्वानुभूत, प्रत्यक्षदृष्ट है। सुजान के नाम से सब लिखा गया है जो पूर्वोक्त तत्व को प्रमाणित करता है।

सुसोत्थ सुजान का रूप वर्णन करते हुए कवि कहता है कि "रस के आलस्य मे मोई हुई सुजान सोकर उठी है। पीक परी पलकें अभी पूरी खुली नहीं है। मुख पर कुछ और ही चमक है। बाल मुख पर फैले हुए हैं। अँगड़ाती, जँभाई लेती, लज्जा अनुभव करती हुई वह दिखाई पड़ती है। अग अग मे कामदेव की दीप्ति झलक रही है। ओठों मे अर्ध-स्फुटित बातें है। इसपर लड़िकाई की आनि छलकती[1] सी है।

१—रस आरस सोय उठी कछु सोय लगी लसैं पीक पगी पलकैं।
घन आनद ओप बढ़ी मुख औरै जु फैलि फबी सुथरी अलकैं।
अगराति जम्हाति लजाति लखैं अंग अंग अनग दिपै झलकैं।
अधरानि में आधियै बात धरैं लड़कानि की आनि परैं छलकैं।

सुजान मदिरा पीती थी। उसके मद-डूबे सौंदर्य पर कवि मुग्ध हुआ है। वह हँसती है, झुक-झुककर झूमती है और चौंककर देखती है। पलक कुछ खुल जाते हैं और फिर ढक जाते हैं। जक सी लग जाती है। अपने को जब सँभाल नहीं सकती तो नशे में भड़क कर बकने लगती है। ऐसे में लज्जा भी मानों रीझकर एक ओर खड़ी हो जाती है।[१]

वह नाचती थी तो अपने घूघरे कटाक्षों से धूम मचा देती थी। अगों का मटकना, नाच का चटकना और उसकी विशेष प्रकार की भाव मुद्रा के पीछे पीछे नेत्र लग जाते थे। नाच की अच्छाई पर तो बुद्धिमानी बिक जाती। धनानद के प्राण उसके लाल तलुओ के नीचे नीचे लगे से डोलते थे।[२]

उसकी वाणी का सहज रूप इतना अच्छा था कि वीणा के बोल भी अच्छे नहीं लगते थे। हँस देती तो दाँतों की आभा से चदन को भी फीका कर देती। इसे देखकर घनानद जी का मन कामरस में डूब जाता था। स्वर मदिरा के समान मादक था। इसके लिए सुजान का कठ मानों सुराही थी, ओठ प्याले तथा पीनेवालों के कान कंठ थे।[३]

वह वीणा बजाती तो घनानदजी लट्टू हो जाते थे। वीणा उसके हाथ में रहती और गूँजता था इनका मन। वह वीणा बजाती कि इनका मन स्वर भरने लगता था। सुजान मींड़ चढाती और घनानद चौगुने रग से गरजने लगते। प्यार से तार खींचती तो सुघड़ाई भी मानो लज्जित हो जाती थी।[४]

सुजान गाती थी तो लोग लोट पोट हो जाते थे। मानों उसके स्वर बाण थे जो बिना कमान से छूटे ही लोगों को घायल कर देते थे।[५] स्वर इसका महीन था मोटा नहीं और जोश के साथ गाती थी मानो नाराज हो गई हो। इसका कारण था रूप का गर्व।[६]

१—दृग छाकन हैं छवि ताकन ही मृगनैनी जबै मधुपान छकै।
घन आनद भीजि हसै हुलसै झुकि झूलति घूमति चौंकि चगै।
पल खोलि ढकें लगि जात जकै न सम्हारि सकै बलकै स्वकै।
अलबेली सुजान के कौतुक पै अति रीझि इकौसी है लाज थकै।

२—सुहि० १२७

३—वही १२३. १८६

४—वही १३५

५—वही १११

६—रूप लाड़ जोबन गरुर चोप चटक नौ,
अनखि अनोखी तान गावै लै मिहीं सुरैं,

इसके भूपा सौंदर्य का अनेकत्र सामूहिक रूप से तथा एकैकशः वर्णन किया है जैसे उसकी साड़ी का, चूड़ियों का, छल्ले का आदि आदि। किसी दिन सजधज कर अपने मनभावन मीत घनानद जी को रिझाने के लिए चली। मजन किया। अजन लगाया। भूपण वस्त्र पहिने। भुइवा भौंहे टेढी तनकर शोभित हो गई। अग अग पर सौंदर्य की चमक छा गई। मानो शोभा की नदी उफनाकर चली हो। उसका देखने का ढग दुलार भरा था। वाणी अमृत सी मधुर थी और श्वासों से सुगधी निकलती थी।[1]

गौर वर्ण सुजान काली साड़ी पहनती तो ऐसी लगती मानों कालीघटा में विजली स्थिर हो गई है। अथवा चाँदनी की गोद में अमावस आ गई है। अथवा धूम पु ज मे अगिनी ज्वाला है जो आखों को शीतल लगती है या फिर शृगार ही छवि पर छा गया है।[2]

उसके गोरे हाथों पर पन्नी की पहुँचियाँ नीलमणि की बनी पछेलिया और सुदर चूड़ियों को देखकर तो कवि का मन सुजान के हाथों मे हो जाता था।[3]

उसकी क्षीण कटि, कोमल पैर 'तन' उदर तथा मद घूर्णित नेत्र, सहज कटाक्ष आदि का वर्णन भी आलकारिक ढग से किया गया मिलता है।[4]

उसके हास्य तथा लज्जा से जो सौंदर्य वृद्धि होती थी घनानद के भावुक हृदय ने उसे भी अकित कर दिया है। चद्रमा से भी अधिक सुंदर उसका मुख सहज प्रिय था पर घनानद के साथ हँसकर तो ऐसी लगती थी मानो चमेली की चौलरी माला वक्ष पर फैला दी गई हो। लज्जा के लिए घू घट निकालती लज्जा ही लज्जित हो जाती। आँखों में बातें हो ही जाती थीं वस्त्रावरण व्यर्थ रहते। शील की मूर्ति सुजान पर लज्जा का यह सौंदर्य इतना बरसता कि वह देखने से भी दिखाई न पड़ती थी।[5]

उसके आलिंगन, सुरत, सुरतात आलस्य, सुप्त सौंदर्य आदि के जो वर्णन किये हैं वे यथार्थ और अनुभूत लगते हैं। इन वर्णनो को पढकर यही अनुमान

१—वही १६७

२—वही २३८

३—वही ११५

४—[illegible] सु०हि० २०, १६, १०२, तथा १०६, ९८, ४०२

५—सु०हि० १५३, १५४।

होता है कि कवि ने अपनी प्रेयसी का वर्णन किया है कल्पित किसी नायिका का नहीं। ऐसे पद्य भी मिलते हैं जिन मे आनदघन जी के व्यक्तिगत जीवन की कहानी कही गई मिलती है और उन मे सुजान के विरह का ताप व्यक्त है। नीचे लिखा छप्पय देखा जाय। कवि अपनी दशा पर खेद अनुभव करता है कि उसके हृदय मे जैसी बीत रही है वह किसे बताये। हृदय जला जाता है। दुख-जाल घेरे हुए हैं। सुजान का दुसह वियोग और ध्यान मे उसी का सयोग सदा बना रहता है। समय बिताया नहीं जाता। मन इधर उधर भटकता है। देव की रचना देख कर मन खीजता है कि मुझ जैसे को बनाने से उसका क्या काम सरा।

कहिये काहि जताय हाय जो मो मधि बीतै।
जरनि बुझौं दुख जाल धकों निसि वासर ही तै।
दुसह सुजान वियोग बसौ ताही सँयोग नित।
वहरि पैर नहि समै गमै जियरा जित कौ तित।
अहो दई रचना निरखि रीझ खीझ मुरझौ सु मन।
ऐसी विरचि विरचि को कहा सर्यो आनदघन[1]

× × ×

इस पद्य में अध्यात्म दृष्टि चाहे कुछ भी अर्थ देखे पर यह भक्ति भाव की अभिव्यक्ति नहीं लगती। नाहीं परंपरागत विरह का वर्णन है। 'सुजान' शब्द ऐसे ढग से प्रयुक्त हुआ है कि वह पद्य के भाव को अपने ऊपर केन्द्रित करता है। कवि ने अपना दुख इसमें गाया है।

कुछ बाह्य प्रमाण भी ऐसे मिलते हैं जिन से अनदघन जी का सुजान से प्रेम प्रमाणित होता है। व्रज भारती आपाढ सवत १९९८ पृष्ठ ८ मे निम्न लिखित पद्य 'सुजान' सम्बन्धी प्रकाशित हुआ है इसमें ऐसे व्यक्तियो का जो बाद में बडे प्रसिद्ध सत बने हैं—वारागनाओं से प्रेम दिखाया गया है :

चिन्तामणि छोकरिया उस विल्व मगल छो सुरझाया।
रूपमजरी रूपधरया तब नंददास उरझाया।
फिर सुजान महबूब खूब से आनदघन मन माया
श्री हरिदेव सुजान सखी अब श्रीधरनू अपनाया

× × ×

१—वही २८६

सुजान महबूब से आनदघन का प्रेम इसी प्रकार था जिस प्रकार रूप-मजरी से नददास का, चिन्तामणि से विल्व मंगल का तथा सुजान सखी से श्रीधर का। पद्य के लेखक श्री हरदेव हैं। पद्य का 'महबूब' (प्रिय) शब्द विशेष विचारणीय है। 'इश्कलता में अनेकों वार इस शब्द का व्यवहार हुआ है। 'जिगर जान महबूब अमाने की वेदर्दी देंदा है' मे महबूब 'जान' अथवा सुजान का विशेषण है। ऊपर के पद्य में साहचर्य नियम से यह भी ध्वनित होता है कि सुजान कोई वेश्या थी। विल्व मंगल को अपने प्रेम-पाश मे बाधने वाली वेश्या ही थी।

लखनऊ के श्री भवानी शकर जी याज्ञिक से आनदघन के विषय में चार भडौवा छद प्राप्त हुए हैं जिन से सुजान के व्यक्तित्व और आनद घन के साथ उसके सम्बन्ध पर प्रकाश पड़ता है ।

पहले सवैया मे भगवान से आनदघन ने यह प्रार्थना व्यक्त की है कि वह उन्हे सुजान के इजारबन्ध को जू बना देता जिस से कभी सुजान खुजाने मे उन्हे छू लेती या कभी वही रेंगता हुआ उसके अगों का स्पर्श पा लेता। उसका रस पान (रक्त) भी कर लेता तथा कभी पकड़ा जाने पर उसके हाथ मे मरने का सौभाग्य भी पा जाता।

कबहुँ क खुजावत में छुवती तिहिं आनद को तब हौं भरतौ
तब रैंगतौं केहुक अंगन मै निज भाग तिही रस सौं भरतौ
कहूँ चौकि कै भाग न मो गहती तब हौं उन हाथन सौं मरतो
वह ईस कहूँ घन आनंद को जो सुजान इजार की जू करतौ

× × ×

इस पद्य मे घनानद के ऐसे कवित्त सवैयों की ओर कटाक्ष है जिन में वह सुजान के पैरो का झँवा अपने मन को बनाते हैं। अपने सिर को उसके परों पर घिसते हैं।

दूसरे कवित्त मे आनद घन को 'तुरकिनी' को बन्दा कहा है। तीसरे में कहा गया है "तुरकिनी सुजान तुरकनी को सेवक है, तजि रामनाम वाको पूजे काम धाम है।'

चौथे पद्य मे इसी प्रकार के जुगुप्सित अनेक सम्बन्ध घनानद और सुजान के व्यक्त किये हैं। सारा पद्य ही उद्धृत करना ठीक रहेगा।

मुदित आनद घन कहत विधाता सों यों, ग्वाल को आसन दीजो गारी मोहि गावेगी
मो मुख को पीकदान करियो सुजान प्यारी, तुरकिनी तुरकिनी थुकके सुख पावेगी

धोती को इजार दुपटो को पेशवाज और, देहुगे रूमाल ताको पूछना बनावेगी
परिग्धा पायन्दाज कीजियौ गरीवनिवाज, मरि गये नो मन पलंग पर आवेगी

× × ×

इस मे भड़ौवा कार की निंदा के झाड़ झकार में कुछ ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त होता है। यह तो सिद्ध होता ही है कि आनदघन का सुजान से प्रेम था। साथ ही वह हुरकिनी अर्थात् यवनी वेश्या, हुरकिनी थी, यह भी प्रमाणित हो जाता है। घनानद जी ने सुजान को ही भक्ति-जीवन मे भी पूज्य बनाया था, इसका भी सकेत—

'तजि राम नाम वाकौ पूजै काम धाम है'

में मिलता है। निष्कर्ष मे कहा जा सकता है कि 'आनदघन' 'सुजान' के प्रेम की कहानी सत्य है।

राग कल्पद्रुम में दो ऐसे राग मिलते हैं जो किसी सुजान के लिखे प्रतीत होते हैं। इनमें मुहम्मद शाह से भी उसका सम्बन्ध व्यक्त होता है। पहला पद्य इस प्रकार है—

किरपा करो रे मो मन सइयां तन मन धन
न्योछावर करहूँ परहूँ पइया।
मुहम्मदशाह सुजान अब कहि भाग हमारे जागे
लेहु बलैयां सुरजन सइयां।

दूसरा यह है

सिपत मणि अल्ला नवीयमणि मुहम्मद दोउ जगमणि
चत्र दिश मासूम पीरनमणि मुरतजा अली कीनः
वासर मणि दिनकर रजनीमणि चंद्र तारनमणिध्रुव
मलकनमणि जबंरइल यह सब जगत में लीनो वीनः।
पातालमणि शेष शेषमणि अवनी अवनिमणि नाम
नाममणि अरस अरसमणि कुरस लौहमणि कलमा
तुरंगमणि बुराक गजनमणि एरापत राजनमणि
इन्द्र गिरनमणि सुमेर चपलमणि मीन
किताबमणि कुरान दीनमणि कलमा अबदनमणि
आदम कामनमणि हवा रागनमणि भैरो भाषामणि

ब्रज की जोतिमणि दीपक दीपकमणि नार दोजक
शीतल भलो भिहिस्त एती मात 'सुजान' अस्तुति कीनी[1]

पहले पद्य में 'सुजान' मुहम्मद शाह से विनय करती प्रतीत होती है। सुजान को 'मुहम्मद शाह' का विशेषण माने तो 'परहु पइया' वाली पंक्ति का अर्थ समजस नहीं होता। यह राग का पद है। सुजान ने स्यात यह कभी मुहम्मद शाह के सामने गाया होगा। दूसरे पद्य में तो केवल 'सुजान' का यवनी होना प्रमाणित होता है।

घनानद के कुछ पद्य ऐसे भी हैं जिन में केवल सुजान का व्यवहार है घनानद का नहीं। सग्रहकारो ने उन्हें सुजान का समझ लिया है पर रचना शैली इन्हीं की है। नवीनकृत 'सुधासार सग्रह' में सुजान नाम से कुछ पद्य मिलते हैं जिन में निम्नलिखित सवैया निश्चिय रूप से आनदघन जी का है। शृ गार सग्रह मे उन्हीं के नाम से दिया भी है।

आपु ही तें तन हेरि हँसे तिरछे करि नैनन नेह के चाउ मैं
हाय दई सु विसारि दई सुधि कैसो जरौ सु कहौ कित जाउ मैं
मीत सुजान अमीत कहा यह ऐसी न चाहिये प्रीति के भाउ मैं
मोहनी मूरत देखिवे कौं तरसावत हौ बसि एकहि गाउ मैं[2]

× × ×

दो पद्य और हैं कि जिनमें एक सवैया है दूसरा कवित्त।

वेदहु चारि की बात कों वाचि पुरान अठारहु अग में धारै।
चित्र हूँ आप लिखै समझै कवितान की रीति मैं वार तैं पारै॥
राग कौं आदि जिती चतुराई 'सुजान' कहै सब याही के लारै।
हीनता होय जौं हिम्मत की तौप्रवीनता लै कहा कूप में डारै॥

× × × ×

पहलैं तौ नेनन सौं नैनन मिलाय फिर,
सैनन चलाय हरिलीनौ चित्त चाय चाय।
अब क्यो कहत गुरु लोगन की सक मोहिं,
मारत निसक काम कासौं कहौं जाय जाय।

---

[1]—घनानद ग्रन्थावली भूमिका पृष्ठ ६५ मे उद्धृत

[2]—देखिए घनानद ग्रन्थावली प्रकीर्ण २६।

एरे निर्दयी कान्ह कहत सुजान तोसों,
तेरे विन देखे आँखें लहै झर लाय लाय।
दूर जो वसाय तो परेखौ हूँ न आय
अरे निकट वसाय मीत मिलत न हाय हाय[1] ॥

यह दोनों पद्य घनानद की प्रेयसी द्वारा रचे माने जाते हैं[2]। राग कल्प-द्रुम के प्राप्त हुए पद्यों की रचना शैली इन पद्यों की शैली से भिन्न है। पहली रचना अत्यन्त साधारण है। ये पद्य अपेक्षाकृत परिष्कृत शैली में हैं। सुजान वेश्या के विषय मे कवयित्री होने की कोई किंवदन्ती तो प्राप्त नहीं होती है जैसी कि आलम के 'सेख' की है। इनके साथ ही प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने घनानद ग्रन्थावली की भूमिका में सुजान कृत ११ पद्यों का उल्लेख किया है। उन मे से एक तो यही है जो 'सुधासार' में प्राप्त है। 'पहले' तो नैनन सों नैनन मिलाये आदि और शेष दस आपने उद्धृत किए हैं, इन मे से दूसरा पद्य निम्न प्रकार है।

'हैत पगी रस भींनी चितौन चितै हम त्यौं अखियान में आवत।
रुप सलौनी दिखाय महा हिय में अति आनद को घन छावत ॥
सुजान ए प्रान लगे तुम ही सों सु क्यों निरमोही कहा तन तावत।
मोहनी डारि के मोहन जू यह मोहनी मूरत क्यों न दिखावत ॥[3]

× × × ×

यह पद्य घनानद का है। दूसरी पंक्ति में 'आनंद को घन' नाम भी दिया हुआ है। पहली पंक्ति में उनकी अभ्यस्त शब्दावली दिखाई देती है। भूल से सुजान के नाम कुछ पद्य संगृहीत हो गये हैं। शेप नौ कवित्तों की शैली वही है जो सुधासार के पद्यों की है। कवि का नाम 'सुजान कहै' या 'कहत सुजान' आदि शब्दों में आया है। यही शब्द उन दोनों पद्यों मे है। अतः यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये सभी पद्य एक 'सुजान' के लिखे हुए हैं। यह 'सुजान' मुहम्मद शाह की नर्तकी घनानंद की प्रेयसी ही है यह निश्चित प्रमाणों के अभाव में कहा नहीं जा सकता। इन्हीं में से एक पद्य में 'सुजान-राय' नाम आया है। इसे देख कर अनुमान किया जा सकता है कि 'सुजान-

---

१—सुधासार पत्रा २३४ नागरी प्रचारिणी सभा काशी खोज विभाग।
२—देखिये घनानद ग्रन्थावली भूमिका पृष्ठ ६२।
३—घनानंद ग्रथावली भूमिका पृ० ६२।

नाम से रचना करनेवाले का नाम 'सुजानराइ' है।[1] यह सुजानराइ 'पातुरराइ' की तरह वेश्या भी हो सकती है और दूसरा कोई पुरुष कवि भी। घनआनद ने भी सुजान के लिए 'जानराइ' पर्याय का प्रयोग किया है यह दिखाया जा चुका है। इसलिए यह भी सभव है कि इन्होंने ही कुछ रचनाएँ 'सुजान' या 'सुजानराय' नाम से की हों पर यह अनुमान ही है। निश्चित आधार के बिना यह निकर्ष निकालना कि घन आनद की प्रेयसी सुजान थी, उसी ने पद्य बनाये उसका पूरा नाम सुजानराइ था आदि सदिग्ध है। संभव यही लगता है कि 'कहत सुजान' आदि शैली से अपना नाम रखने वाला कोई दूसरा कवि है। राग कल्पद्रुम के दो राग भले ही नर्तकी सुजान कृत हों।

समस्त विमर्श का निष्कर्ष यही निकलता है कि घन आनदजी की प्रेमिका सुजान नर्तकी थी। इसलिए उसके नाच, गान, वेष-भूषा, सुरत, मदपान आदि का वर्णन इन्होने किया है। यह मुहम्मदशाह के दरबार में भी गायिका था जैसा कि रागकल्पद्रुम के रागों से व्यक्त होता है। उसका कवयित्री होना प्रमाण पुष्ट नहीं। घनआनद ने जो अपनी रचनाओं में सुजान के अनेकों पर्याय विविध अर्थों के साथ प्रयोग किए हैं उसका कारण कवि की प्रेम परक रहस्य दृष्टि है। भौतिक प्रेम को व्यापक आध्यात्मिक रूप देने की दृष्टि से व्यक्ति वाचक शब्द व्युत्पत्यर्थ के सहारे गुणवाचक विशेषण मान लिए हैं। सुजान का अर्थ सुजान (चतुर ज्ञानी) अथवा सु-जान जीवन देने वाला मान कर स्त्री, पुरुष, ईश्वर, मनुष्य, सभी के लिए उसका यथावसर प्रयोग किया है। यही नियम उनके अपने नाम के विषय मे लागू है। पद्य और निबंध रचनाओ मे जो 'सुजान' का परित्याग हुआ है उसका कारण भक्ति-जीवन का अपवाद प्रतीत होता है जो उन्हे सुजान की रट लगने से मिला होगा। इसका आभास हमे भडौआ की यह पक्ति देती है 'तजि राम नाम वाकौ पूजे काम धाम है।'

अतः सुजान शब्द के विविध तथा असार्वत्रिक प्रयोग से प्रेयसी की सत्ता मे आशंका करने की आवश्यकता नहीं।

---

[1]—तुम्हरे विरह ते विकल दिनरात गोपी रहीं मुरझाय कबहूँ न देखी हँसती। कोलाहल केलि जहाँ जहाँ कीन्हा तहाँ रची चीन्हा वा कालिन्दी कूल फुँगडार खजती। रावरे रहते ने लहत सब ठौर दिल भय उन्हें द्वारिका है मोनमई लमनी। मेरे लेखे यह ब्रज ऊजर सुजानराइ जिहां भोर वर्म कान्ह तिहीं ओर बसती।

दूसरा परिच्छेद

(रचनाओं का विवरण)

द्वितीय परिच्छेद

'रचनाएँ'

१. इतिहास तथा रचनाओं का विवरण,

आनद घन जी की कुछ रचनाओं का सर्व प्रथम प्रकाशन भारतेन्दु श्री हरिश्चन्द्र ने 'सुन्दरी तिलक' मे कराया था। इस के बाद सन् १८७० में उन्होंने ही 'सुजान सतक' नाम से इनके ११९ कवित्त प्रकाशित किए। सन १८९७ में श्री जगन्नाथदास रत्नाकर ने 'सुजान सागर' का प्रथम सस्करण काशी के हरि प्रकाश यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित किया। इन्होंने आनंघन के शब्दो की एक अनुक्रमणी भी तैयार की थी। वह काशी नागरी प्रचारिणी-सभा के 'रत्नाकर सग्रह' में अद्यावधि सुरिक्षित है। सन १९०७ में काशी प्रसाद जायसवाल ने 'वियोग वेलि' विरह लीला' नाम से नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित कराई थी। 'सुजान सागर में ही कुछ पद और मिला कर रसखान की कविताओं के साथ श्री अमीरसिंह के संपादन मे 'रसखान' और घनानद, पुस्तक काशीनागरी प्रचारिणी सभा द्वारा सन् १९२६ में प्रकाशित हुई। इसी का सक्षित सस्करण 'घनानद' रत्नावली नाम से भारत वासी प्रेस प्रयाग, ने भी प्रकाशित किया था।

अब तक के इन प्रकाशनो में कवि की समस्त उपलब्ध रचनाओ के सग्रह करने का तथा उनका वैज्ञानिक परीक्षण करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। सन् १९४३ मे लखनऊ के श्री शंभु प्रसाद 'बहुगुना' ने 'घन-आनद' नामक पुस्तक प्रकाशित की जिसमे २०५ कवित्त सवैये दोहे आदि और ५८ गेय पद हैं। पद्यो का विषय-क्रम से विभाजन किया है। उनके अपनी ओर से शीर्षक भी दिए हैं। कवि की जीवनी काव्यानुशीलन, आदि पर ८५ पृष्ठ की विशद भूमिका भी भावुकतापूर्णभाषा में आपने लिखी है। इसके अतिरिक्त 'वियोग वेलि' के ८१ पद्य और प्रेमपत्रिका के २६ पद्य भी इस में प्रकाशित है।

वहुगुना जी ने अपने समय की उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग किया था जिसका उल्लेख उन्होंने भूमिका में निम्न प्रकार से किया है—

१. नागरी प्रचारिणी सभा की प्रकाशित खोज रिपोर्ट।
२. श्रीभवानी शकर जी याज्ञिक के सग्राहालय की हस्त लिखित पुस्तकें।
३. श्री नवीन चन्द्रजी की 'वियोग वेलि' की प्रति।
४. कृष्णानद व्यास का राग सागरोद्भव।
५. व्रजनिधि ग्रंथावली।
६. नागर समुच्चय।
७. रसखान और घनानंद।
८. हिंदी साहित्य के इतिहास तथा शिवसिंह सरोज।
९ नागरी प्रचारिणी पत्रिका हिंदुस्तानी, सरस्वती, माधुरी, व्रज भारती आदि।
१०. व्रजमाधुरी सार।
११. कवि कीर्तन।

वहुगुना जी ने भूमिका में लिखा है कि 'छतरपुर दरबार में कहे जाने वाले वडे पोथे के विषय मे दरबार से पूछ ताछ की गई तो लायब्रेरियन साहब ने उत्तर के पत्र में लिख भेजा 'घनानंद की कोई रचना अथवा ऐसा कोई ग्रथ हमारे पुस्तकालय मे नहीं है।'

इसकी रचनाओं का एकत्र करने का तथा उसका वैज्ञानिक सपादन करने का एक मात्र श्रेय प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को ही दिया जावेगा। इनके परिश्रम से पूर्व कवि की रचनाओ का दशाश भी प्रकाशित नही था। आपने तीन पुस्तकें इनकी रचनाओं के सग्रह की प्रकाशित की हैं।

पहला घनानद कवित्त है जिसमें ५०५ पद्यों का सग्रह है। इन मे ३ दोहे तथा दो सोरठे हैं। शेप पाच सौ कवित्त सवैये हैं। इनमें भी सवैये २८८ हैं कवित्त २१४। यह कवि का सब से प्राचीन सग्रह है। उन्हीं के समकालीन उनके प्रशसक व्रजनाथ ने इसे सपन्न किया है। सपादक ने दो सवैये प्रारम मे और २ कवित्त तथा ६ सवैये अंत मे कवि तथा उसकी कृति-प्रशसा मे लिखे हैं। सग्रह उन्हीं का है इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होंने किया है। न जाने क्या कारण आउपस्थित हुआ था कि व्रजनाथ को इन पद्यो की रक्षा या संग्रह करने मे बड़ा कष्ट हुआ। उन्हे अपनी लज्जा बड़ाई तथा स्वभाव

तक इनके लिए खोना पड़ा। इस कष्ट के अनेक हेतुओं की कल्पना की जा सकती है। एक तो आनदघन की मृत्यु अकस्मात हुई थी। सभव है उनकी रचनाएँ एकत्र न रहीं हों। आनदघन जैसे प्रेमोन्मत्त कवि ने अपनी रचनाओं की सुरक्षा की उपेक्षा रक्खी हो और उनके जीवन के उपरात सग्रह का कार्य कठिन हो गया हो। व्रजनाथ की यह उक्ति कि 'कहै व्रजनाथ बहु जतननि आए हाथ,' ऐसे ही किसी कष्ट की ओर सकेत करती है। दूसरा कष्ट यह भी हो सकता है कि कवित्तों मे सुजान की छाप होने से वे वेश्या की प्रशंसा के समझे जाते हों और कवि समाज में इस लिए उनका आदर न होता हो। इस स्थिति में भी सपादक को सग्रह करने में कष्ट हो सकता है। व्रजनाथ की नीचे लिखी कष्टोक्ति में ऐसी ही किसी बात की ओर सकेत है। वे कहते हैं,

'मैं अति कष्ट सों छाने कवित्त ये लाज बड़ाई सुभाव कों खोयकों,
सो दुख मेरो न जाने कोऊ लै बखाने लिखाइयै मोहूकों गोयकों।

× × ×

लज्जा, बड़ाई तथा स्वभाव त्यागने मे तथा छिपकर लिखने मे तो काव्यकृति की किसी प्रकार की निन्दा ही कारण हो सकता है। व्रजनाथ तो यह सब इस लिए कर गए कि उनकी काव्य शैली तथा प्रेमानूभूति की सचाई एव मार्मिकता पर अत्यन्त मुग्ध थे। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'मैंने अनेकों दिन तथा रातें काव्य रस में 'मोय' कर बिताई हैं। इन कवित्तों का रस तो वही ले सकेगा जिसकी आखों मे प्रेम की चोट लगी होगी। पडित होने से यहाँ कार्य न चलेगा।

"कैसी करों अब जाहु कितै मैं बिताए हैं रैन दिना सब मोय कै।
'प्रेम की चोट लगी जिन आखिन सोई वहै कहा पडित होय कै॥

× × ×

यह भी कल्पना की जा सकती है कि लौकिकानुभूति के प्रेम के पद्यों को कवि ने आरम्भ मे लिखा हो और सत होने के बाद सीधी सरल वाणी मे गेयपद तथा लीलानिबधों की ही रचना करना ठीक समझकर पहली कविता की उपेक्षा करदी हो। कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि 'घनानद कवित्त' का सग्रह बडे कष्ट के साथ व्रजनाथ ने ही किया है।

विश्वनाथजी ने अपने सपादन का आधार श्री नवनीतजी चतुर्वेदी की प्रति को माना है। सपादक का विश्वास है कि प्रति अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन

वहुगुना जी ने अपने समय की उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग किया था जिसका उल्लेख उन्होंने भूमिका में निम्न प्रकार से किया है—

१. नागरी प्रचारिणी सभा की प्रकाशित खोज रिपोर्ट।
२. श्रीभवानी शकर जी याज्ञिक के संग्राहालय की हस्त लिखित पुस्तकें।
३. श्री नवीन चन्द्रजी की 'वियोग वेलि' की प्रति।
४. कृष्णानद व्यास का राग सागरोद्भव।
५. व्रजनिधि ग्रथावली।
६. नागर समुच्चय।
७. रसखान और घनानंद।
८. हिंदी साहित्य के इतिहास तथा शिवसिंह सरोज।
९ नागरी प्रचारिणी पत्रिका हिंदुस्तानी, सरस्वती, माधुरी, व्रज भारती आदि।
१०. व्रजमाधुरी सार।
११ कवि कीर्तन।

वहुगुना जी ने भूमिका में लिखा है कि 'छतरपुर दरबार में कहे जाने वाले बडे पोथे के विपय मे दरबार से पूछ ताछ की गई तो लायब्रेरियन साहब ने उत्तर के पत्र में लिख भेजा 'घनानद की कोई रचना अथवा ऐसा कोई ग्रथ हमारे पुस्तकालय में नहीं है।'

इसकी रचनाओं का एकत्र करने का तथा उसका वैज्ञानिक सपादन करने का एक मात्र श्रेय प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को ही दिया जावेगा। इनके परिश्रम से पूर्व कवि की रचनाओं का दशाश भी प्रकाशित नहीं था। आपने तीन पुस्तकें इनकी रचनाओं के सग्रह की प्रकाशित की हैं।

पहला घनानद कवित्त है जिसमें ५०५ पद्यों का सग्रह है। इन मे ३ दोहे तथा दो सोरठे हैं। शेप पाच सौ कवित्त सवैये हैं। इनमें भी सवैये २८८ हैं कवित्त २१४। यह कवि का सब से प्राचीन सग्रह है। उन्ही के समकालीन उनके प्रशसक व्रजनाथ ने इसे सपन्न किया है। सपादक ने दो सवैये प्रारभ मे और २ कवित्त तथा ६ सवैये अत मे कवि तथा उसकी कृति-प्रशसा मे लिखे हैं। सग्रह उन्ही का है इसका स्पष्ट उल्लेख उन्होने किया है। न जाने क्या कारण आ उपस्थित हुआ था कि व्रजनाथ को इन पद्यों की रक्षा या संग्रह करने मे बड़ा कष्ट हुआ। उन्हे अपनी लज्जा बड़ाई तथा स्वभाव

तक इनके लिए खोना पड़ा। इस कष्ट के अनेक हेतुओं की कल्पना की जा सकती है। एक तो आनदघन की मृत्यु अकस्मात हुई थी। संभव है उनकी रचनाएँ एकत्र न रहीं हों। आनदघन जैसे प्रेमोन्मत्त कवि ने अपनी रचनाओं की सुरक्षा की उपेक्षा रक्खी हो और उनके जीवन के उपरात सग्रह का कार्य कठिन हो गया हो। ब्रजनाथ की यह उक्ति कि 'कहै ब्रजनाथ बहु जतननि आए हाथ,' ऐसे ही किसी कष्ट की ओर सकेत करती है। दूसरा कष्ट यह भी हो सकता है कि कवित्तों मे सुजान की छाप होने से वे वेश्या की प्रशंसा के समझे जाते हों और कवि समाज में इस लिए उनका आदर न होता हो। इस स्थिति में भी संपादक को संग्रह करने में कष्ट हो सकता है। ब्रजनाथ की नीचे लिखी कष्टोक्ति में ऐसी ही किसी बात की ओर सकेत है। वे कहते हैं,

'मैं अति कष्ट सों ल्याने कवित्त ये लाज बड़ाई सुभाव कों खोयकों,
सो दुख मेरो न जाने कोऊ लै बखाने लिखाइये मोहूकों गोयकों।

× × ×

लज्जा, बड़ाई तथा स्वभाव त्यागने मे तथा छिपकर लिखने मे तो काव्यकृति की किसी प्रकार की निन्दा ही कारण हो सकता है। ब्रजनाथ तो यह सब इस लिए कर गए कि उनकी काव्य शैली तथा प्रेमानूभूति की सचाई एव मार्मिकता पर अत्यन्त मुग्ध थे। वे स्पष्ट कहते हैं कि 'मैने अनेकों दिन तथा रातें काव्य रस मे 'मोय' कर बिताई हैं। इन कवित्तों का रस तो वही ले सकेगा जिसकी आखों मे प्रेम की चोट लगी होगी। पडित होने से यहाँ कार्य न चलेगा।

"कैसी करों अब जाहु कितै मैं बिताएँ है रैन दिना सब मोय कै।
'प्रेम की चोट लगी जिन आखिन सोई वहै कहा पढित होय कै॥

× × ×

यह भी कल्पना की जा सकती है कि लौकिकानुभूति के प्रेम के पद्यो को कवि ने आरम्भ मे लिखा हो और संत होने के बाद सीधी सरल वाणी मे गेयपद तथा लीलानिबंधों की ही रचना करना ठीक समझकर पहली कविता की उपेक्षा करदी हो। कुछ भी हो इतना स्पष्ट है कि 'घनानंद कवित्त' का सग्रह बडे कष्ट के साथ ब्रजनाथ ने ही किया है।

विश्वनाथजी ने अपने संपादन का आधार श्री नवनीतजी चतुर्वेदी की प्रति को माना है। सपादक का विश्वास है कि प्रति अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन

है, शुद्ध स्पष्ट तथा व्याकरण समत तो है ही, जैसा कि पुस्तक के नाम से भी स्पष्ट होता है। उस में कवि के गेय पदों का सग्रह नहीं है। कृपाकंद निबंध के भी कुछ ही पद्य सगृहीत हो चुके हैं सब नहीं। दान लीला तो मध्य में छंद संख्या ४०२ से ४१२ तक आगई है। लीला निबंधों का इसमें सग्रह नहीं है। सग्रह का नाम 'घनआनद 'कवित्त' सग्रहकार का ही है या वाद में किसी का लिखा हुआ यह निश्चयपूर्वक तो नहीं कहा जा सकता। अनुमान यही होता है कि ब्रजनाथ जी ने ही यह नामकरण कर दिया था। उन्होंने इसी प्रकार के नाम की ओर अपने एक प्रशस्ति कवित्त में सकेत किया है।

चोर चित्त वित्त के कि पैठि बरजोर हियैं,
कैधों विलसत ये कवित्त घनजी के हैं।

ब्रजनाथ प्रशस्ति ३

घनजी के कवित्त स्यात् घनआनद कवित्त का ही सूचक है।

इसी पुस्तक (घनानद कवित्त) से हस्तलेख के आधार पर रत्नाकरजी ने 'सुजान सागर' प्रकाशित किया था। इसी के आधार पर बाबू अमीचन्दजी द्वारा सपादित 'सुजान रसखान' नामक पुस्तक का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी से हुआ था। इन दोनों प्रकाशनों में सग्रह की खडित प्रति का उपयोग हुआ है, वास्तव में नागरी प्रचारिणी सभा के तथा रत्नाकरजी के प्रकाशन के आधार भूत जो हस्तलेख है वह रत्नाकर सग्रह में भी विद्यमान है। वहा दो पुस्तकें हैं, एक मध्य में खडित है दूसरी अत में। इन दोनों को मिला लिया जाए तो सग्रह पूर्ण होजाता है। पर उन दोनों सपादकों ने यह नहीं किया। अत की खडित प्रति के आधार पर सपादन किया। मध्य में खडित हस्तलेख श्री नवनीत चतुर्वेदी का है। इसका उल्लेख तो रत्नाकरजी ने किया है पर प्रयोग उन्होंने नहीं किया प्रतीति होता। संभवत. उन्हें यह प्रति बाद में मिली है।

घनआनद कवित्त में जो छद-क्रम है उसी क्रम के हस्थलेख दो प्रकार के प्राप्त हुए हैं। एक तो ४५४ पद्यों के और दूसरे ५०५ पद्यों के। अतिम सग्रह प्रामाणिक तथा पूर्ण है।

घनआनंद कवित्त के सग्रह में ऊपरी दृष्टि से कवित्त सवैयों का साधारण सग्रह जान पड़ता है। पर ध्यान पूर्वक देखने से उन में कुछ व्यवस्था की गई है ऐसा भान होता है। सग्रह करने वालों ने विषय क्रम से ही उन्हें रक्खा है। यद्यपि बीच बीच में प्रायः उसके नियम भग हो जाते हैं पर फिर भी एक

भाव धारा का क्रम बना रहता है। इसके प्रारम्भ के दो पदो में आलंबन के रूप का वर्णन है। इसके अनतर छद सख्या ९८ तक विरह वेदना की विवृति है। फिर कवित्त सख्या २२३ तक प्रायः प्रेमोपालभ के पद हैं। इसके बाद पद्य संख्या ३२७ तक संयोग वर्णन है जिस मे सुजान के रूप, स्वभाव विलास, चेष्टाएँ, नाच, आसवपान, शयन आदि प्रसग तथा समिलन कालीन अभिलाष का वर्णन हुआ है। पद्य संख्या ३२८ से ३६० तक कृपा सबधी पद्य हैं जो 'कृपा कद निबध' के हैं। इनके अनतर श्री कृष्ण, राधा और गोपियो की विविध मधुर लीलाओं का पद्य सख्या ४२१ तक वर्णन हुआ है। कवि की प्रसिद्ध दान लीला भी इन्हीं मे आगई है। इस प्रसग को 'मधुरा भक्ति' कह सकते हैं। बाद के ८४ पद्यों में फिर लौकिक शृगार की आवृत्ति हुई है जिसमें मिलन, वियोग, उपालभ, रूप प्रभाव, अभिलाष आदि सभी विषय प्रकीर्ण रूप से आए हैं। इस भाग मे किसी प्रकार की व्यवस्था के दर्शन नहीं होते। सभवतः सग्रहकारने इस भाग को बाद मे जोड़ दिया हो। जिस व्यवस्था का ऊपर उल्लेख किया गया है वह अविच्छिन्न नहीं है। मध्य मध्य मे कुछ पद्य दूसरे प्रकार के आ जाते हैं पर विच्छेद ऐसा नहीं कि सग्रह मे कोई व्यवस्था ही न प्रतीत हो।

घनआनंद और आनंदघन

इनका दूसरा सग्रह प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्रने ही संवत् २००२ मे प्रकाशित किया। इसमे कवि की अन्य रचनाओ के संग्रह का प्रथम प्रयास है। यहाँ कवित्त सवैयों के अतिरिक्त कवि के ५०० पद 'वियोगवेलि, इश्कलता, यमुनायश, प्रीति पावस तथा प्रेम पत्रिका प्रकाशित की गई हैं। आनदघनजी जैनी की रचनाएँ भी साथ में तुलना की दृष्टि से प्रकाशित हैं। कुछ कवित्त सवैयों की आवृत्ति हो गई है, इसलिए छद सख्या बढकर ७०१ हो गई है। कवित्त सवैयों का इसमे मुख्य सग्रह 'सुजानहित प्रबंध' है। इस सग्रह के विषय मे सपादक महोदय का ध्यान है कि हितहरिवंशी सप्रदाय के किसी भक्त ने यह किया है। इसलिए इसके नाम मे 'हित' शब्द जुड़ा हुआ है।' 'प्रबध' शब्द इस सग्रह में प्रतीत होता है कवि के अन्य प्रयोगो के अनु-करण मे हुआ है। कवि ने वर्णनात्मक प्रबध जैसे 'प्रियाप्रसाद' या 'कृष्ण कौमदी को' 'प्रबध' कहा है यद्यपि ये सब वर्णनात्मक रचनाएँ हैं। 'सुजान हित प्रबंध' यह पूरा, नाम यदि कविकृत होता तो इसकी व्याख्या में कोई दोहा आदि अवश्य होता

जैसे 'प्रियाप्रसाद' आदि मे है।[१] पर जैसी भाव क्रम की व्यवस्था वर्णनात्मक निबंधों मे रहती है वैसी सुजानहित मे नहीं है, संग्रहकार ने कवि की समस्त रचनाओं में या उसकी चिंतनप्रवृत्ति मे भले ही प्रबंधन देखा हो। इसके एक हस्तलेख में 'प्रबंध' नाम है भी नहीं। केवल 'सुजान हित' ही शीर्षक है। पं० विश्वनाथ जी ने अपनी 'घन आनद ग्रथावली मे 'सुजानहित' ही नाम रख रक्खा है। इसमे छंदों का क्रम घनआनद कवित्त के क्रम मे भिन्न है। इसके हस्तलेख दो प्रकार के मिलते हैं। एक प्रकार मे हस्तलेखों मे ४४८ छंद हैं। दोहो सोरठो की गणना नहो की गई है। उन्हे भी गिननेमे ४५४ छंद होते हैं। दूसरे प्रकार के हस्तलेखो मे लगभग ५०० छंद संख्या मिलती है। और दोहो की गिनती करने से ५०५ छंद होते हैं। इसमे यही अनुमान किया जा सकता है कि पहले प्रकार के हस्तलेखो की परंपरा किसी अपूर्ण प्रति के आधार पर चल पड़ी है। 'घनानद कवित्त' से इसमे बड़ा भेद है। 'दान लीला' और कृपाकद निबंध' इसमे पृथक कर दिए हैं। घनानद कवित्त में वे मध्य मे ही अंतर्भूत हैं। छंदों का क्रम भिन्न है। इसके आधार के विषय मे श्री विश्वनाथ जी का विश्वास है कि 'घनानद कवित्त' की कोई अस्तव्यस्त प्रति ही सामने रखकर 'सुजानहित' संकलित हुआ है। इसलिए यह बा८ का किया हुआ जान पड़ता है। पर छंदों के क्रम को देखकर तो अनुमान यह होता है कि 'घनआनद कवित्त' इसका आधार नहीं है। यदि ऐसा होता तो संग्रह मे किसी न किसी प्रकार की व्यवस्था अवश्य होती। उसके अनुसार होती या उससे भिन्न। व्यवस्था के अभाव मे इसके पाश्चात्संकलन के अनुमान का हेतु भी सत्प्रतिपक्ष ही है।

कवित्त सवैयों के दूसरे संग्रह 'कवित्त संग्रह' तथा 'सुजान विनोद' के नाम से भी मिलते हैं जो परकालीन है। क्योंकि इनमे कुछ छंद नए भी मिलते हैं जो घनआनद कवित्त मे नहीं है। वे छंद इसमें संगृहीत हैं।

कवित्त सवैयों का एक तीसरा संग्रह खंड कृपाकद निबंध है। यह भी प्रतीत होता है कि 'सुजानहित प्रबंध' के संग्रहीता का ही संग्रह है। 'निबंध' शब्द उसी ओर संकेत करता है। मुक्तकों के संग्रह के लिए निबंध आदि शब्दो का व्यवहार उन्हीं का किया हुआ प्रतीत होता है। वह इसमे पृथक से दिया हुआ है।

१—या प्रबंध को नामहू नायौ प्रियाप्रसाद, प्रि० प्र० ८८।

कवि की दूसरे प्रकार की रचनाएँ चौपाई दोहे आदि छंदो की वर्णनात्मक निबंध शैली की है। इनमे 'वियोग वेलि' का विरह लीला नाम से प्रकाशन सबसे पहले सन् १९०७ मे श्री काशी प्रसाद जी जायसवाल द्वारा काशी नागरी प्रचारिणी सभा से हुआ था। श्री शभुप्रसाद बहुगुना ने भी फिर अपने 'घनानद' में इसे समिलित कर लिया। प्रेम पत्रिका भी इन्होंने ही सर्वप्रथम अपने सग्रह में प्रकाशित की थी। इसके अतिरिक्त अन्य कोई निबंध कृति सवत् २००८ तक प्रकाश मे नहीं आई। पं० श्री विश्वनाथ प्रसाद जी ने 'आनदघन' घनआनद' में इश्कलता यमुनायश, प्रीतिपावस और वियोग-वेलि प्रकाशित की। इसके प्रकाशन तक मिश्र जी को काशी नागरी प्रचारिणी की खोजों द्वारा जो सामग्री उपलब्ध हुई थी, उसका उपयोग वे कर सके थे। इस संग्रह के प्रकाशन में जिन आधारो का आपने प्रयोग किया है उसका विवरण इस प्रकार है—

१. सुजान हित प्रबंध चार स्थानो से मिला, राजपुस्तकालय बनारस से, म्यूनिसपलम्यूजियम इलाहाबाद से, भदावरराज नवगाव आगरा से, और विद्याविभाग कांकरौली से।

२. कृपाकंद निबंध की केवल एक ही प्रति सरस्वती भंडार बनारस से मिली।

३. वियोगवेलि भरतपुर और भदावर से प्राप्त हुई।

४ इश्कलता' आगरा से।

५. यमुनायश' म्यूनिसपल म्यूजियम, इलाहाबाद से।

६. प्रीति पावस' भदावर राज्य नवगाव आगरा से।

७. पदावली मानससंघ रामवन सतना से।

८ 'रत्नाकर संग्रह' नागरी प्रचारिणी सभा काशी तथा 'सुधासार सग्रह' जो ना० प्र० सभा के ही खोज विभाग का हस्तलेख है।

इसके अतिरिक्त इसके पूर्व काल की जितनी सामग्री मुद्रित हो चुकी थी उसका आपने उपयोग किया। परन्तु कवि की समस्त रचनाओं का इस समय तक परिचय प्रकट नहीं हुआ था। इसलिए प्रकाशन अपूर्ण ही रहा। आनद-घन जी की अधिक से अधिक कृतियों का पता मिश्रबन्धु विनोद से लगता है जिसमें इतिहासकार ने छतरपुर के राज्य पुस्तकालय के विशाल ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

'इनका ५४२ बडे पृष्ठो का एक भारी ग्रन्थ सवत् १८८२ का लिखा हुआ दरबार छतरपुर के पुस्तकालय मे देखने को मिला, जिसमे १८११ निबन्ध विविध छन्दों मे तथा १०४४ पदो द्वारा निम्नलिखित विषय वर्णित है।—प्रियाप्रसाद' ब्रजव्यौहार, वियोगवेलि', कृपाकद' निबध, गिरिगाथा', 'भावना प्रकाश', 'गोकुलविनोद', ब्रजप्रसाद, धामचमत्कार, कृष्णकौमुदी' नाम माधुरी, वृन्दावन मुद्रा,प्रेम पत्रिका, ब्रजवर्णन, रसवसत, अनुभव चन्द्रिका, रग बधाई, परमहस वशावली, और पद' ।[1] प्रस्तुत प्रकाशन मे आनदघन की निबध कृतिया केवल ३ ही आई थी, वियोग वेलि', कृपाकद निबध और प्रेमपत्रिका। इश्कलता ऐसी रचना आ गई थी जिसका उल्लेख विनोद मे नही था। इसलिये मिश्र जी को 'घनानद और आनदघन' की भूमिका मे लिखना पड़ा कि 'यदि उक्त ग्रन्थ : छतरपुर के राजपुस्तकालय का ग्रन्थ नष्ट न हो गया होगा तो अभी मुझे उसके मिलने की पूर्ण आशा और विश्वास है'[2] । पद इसमे ५०० थे जब कि विनोद मे १०४४ पदो का उल्लेख था।

इसके बाद सभवत. सन् १९४९ मे निम्बार्क माधुरी के संपादक श्री विहारी शरण जी के द्वारा आनदघन जी के एक विशाल हस्तलेख का अतर्कितोपनत लाभ श्री मिश्र जी को हुआ। इसमे कवि की कवित्त सवैयो के अतिरिक्त ३४ कृतियाँ सगृहीत थीं। इन मे से : १ . कृपाकद निबन्ध २: यमुना यश : ३ . प्रीतिपावस ' ४ : दानघटा . ५ . इश्कलता ' ६ : वियोगवेलि और . ७ ' प्रेमपत्रिका सात रचनायें तो घनआनद' और आनदघन मे सगृहीत हो चुकी थीं। शेष २७ रचनायें नवीन थीं। इनमें से प्रियाप्रसाद, वियोगवेलि, कृपाकद निबध, गोकुलविनोद, ब्रजप्रसाद, धामचमत्कार कृष्ण कौमुदी नाम माधुरी वृन्दावन मुद्रा, प्रेम पत्रिका, ब्रजवर्णन, रस बसत या सरस वसत, अनुभव चन्द्रिका, रग बधाई, तथा पद ये १५रचनायें 'मिश्रबन्धु विनोद' मे उल्लिखित थीं, ब्रजव्यौहार, गिरिगाथा, भावना प्रकाश, तथा परमहस वशावली चार रचनाएँ अभी तक ऐसी शेष थीं जो सग्रह में भी नहीं आ सकी थीं। यद्यपि १९ रचनायें ऐसी नवीन भी थीं जिनका उल्लेख विनोद मे नहीं था, इसके अनन्तर डा० श्री केशरी नारायण जी शुक्ल लखनऊ विश्वविद्यालय को लदन

१—मिश्रबधु विनोद २य सस्करण पृ० ५७४।

२—घनआनद और आनदघन भूमिका पृ० २२।

संग्रहालय के हस्तलेख विभाग मे दूसरा हस्तलेख इन का प्राप्त हुआ। इसमे छतरपुर वाले लेख की १७ रचनायें आ गई हैं। यह हस्तलेख साढे पंद्रह इंच ऊँचा तथा बारह इंच चौड़ा था। इस में छोटे बडे ३६ ग्रंथ संकलित थे। इनमें आनंदघन की २३ रचनाएँ हैं। यह ग्रन्थ भरतपुर के राजा दुर्जनसाल के सग्रहालय से लार्ड कोम्बरसियर ने प्राप्त किया था। उसने इसे 'डब्लू विलियम्सविन' को भेंट कर दिया। इसका पूर्ण परिचय डाक्टर साहब ने अपने एक विस्तृत लेख द्वारा 'सम्पूर्णानन्द अभिनदन' ग्रथ'[1] मे दिया है। इस सग्रह की पुस्तकों का लिपि काल प्रायः नहीं दिया हुआ है। केवल तीन ग्रथों का लिपिकाल संवत १८३६ से लेकर १८४३ तक है। एक भागवत के तृतीय स्कन्ध का हिंदी पद्यानुवाद है। जिसका लिपिकार भास्कर पडित है। वह अत में लिखता है.—

'लिपि कृत्त काश्मीरी पडित भाष्करेण, श्रीमतं श्रीमहाराजाधिराजं श्री व्रजेन्द्र श्री रणजीत सिंह पठनार्थं। सवत् १८३६ पौप कृष्णाष्टम्या लिखित' इसी प्रकार का हस्तलेख 'सग्रामसार' नाम की दूसरी पुस्तक का है। लिपि कर्ता भास्कर पडित ही है। काल सवत १८३६ फागुन बदी ११ गुरुवार है। सोमनाथ के 'भागवत प्रदान' का जो दशमस्कन्ध उत्तरार्ध है लिपिकर्ता भी वही काश्मीरी पडित है। इसका लिपि काल १८४१ सवत है। तुलसी के रामचरित मानस का लिपि काल सवत १८४३ श्रावण शुक्ला ४ शनिवार है। आनदघन की कृतियों मे केवल व्रजस्वरूप का अतलेख मिलता है। उसमें लिपिकाल तो कुछ दिया नहीं है पर आनदकृत बताया है। 'इति श्री आनद कृत व्रजस्वरूप सम्पूर्णम्।' जिन कृतियों का अत लेख प्राप्त है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि आनदघन की कृतियों का लिपिकाल भी इन्हीं के आसपास होगा। पर यह अनुमान ही है।[2] लदन संग्रहालय वाले सग्रह में आनदघन जी की १७ रचनाऐं ऐसी आ गई हैं जिनका उल्लेख छतरपुर वाले हस्तलेख में किया गया है। केवल एक 'व्रजवर्णन' नहीं आया है और इस हस्तलेख मे रचनाओं का जो पूर्वापर क्रम है वही विनोद मे दिया हुआ है। विनोद का क्रम ऊपर दिया जा चुका है। लदन सग्रहालय के हस्तलेख का क्रम इस प्रकार है .—

१—सम्पूर्णानद अभिनदन ग्रथ—प्रकाशक का० ना० प्र० सभा काशी।

२—डा० श्रीकेशरी नारायण शुक्ल—घनानन्द की रचनाऐं विषयक लेख, सम्पूर्णानद अभिनदन ग्रथ।

१. प्रिया प्रसाद प्रबंध
२. ब्रजब्योहार
३. वियोगवेलि
४ कृपाकंद निबंध
५. गिरिगाथा
६ भावना प्रकाश
७. गोकुलविनोद
८ ब्रजप्रनाद
९ धामचमत्कार
१० कृष्णनामुदी
११. नाम माधुरी
१२. वृन्दावन मुद्रा
१३. पदावली
१४ कवित्त संग्रह
१५. प्रेमपत्रिका
१६ रस बसंत
१७. अनुभव चन्द्रिका
१८ रंगबधाई
१९ परमहंसबंशावली
२० मुरलिकामोद
२१. गोकुलगीत
२२ ब्रजविलास प्रबंध
२३ ब्रजस्वरूप

इस संग्रह में चार पुस्तकें 'ब्रज ब्योहार', 'गिरिगाथा', गोकुल-विनोद' तथा परमहंस वंशावली' तो ऐसी हैं जो वृन्दावनवाले संग्रह में नहीं हैं। चार रचनाएँ 'मुरलिकामोद', 'गोकुलगीत' 'ब्रजविलास' तथा 'ब्रजस्वरूप' ऐसी हैं जो छतरपुर संग्रह में भी उल्लिखित नहीं है। छतरपुर संग्रह की एक रचना 'ब्रज वर्णन' किसी संग्रह में भी अभी नहीं आया। इसके विषय में दो कल्पनाएँ हो सकती हैं। या तो यह 'ब्रजस्वरूप' ही है जो ग्रन्थावली में आ गया है दूसरी कोई पृथक रचना नहीं या फिर अभी तक अप्राप्य पुस्तक है। छतरपुर संग्रह की पुस्तक सूची के क्रम तथा लंदन संग्रहालय के हस्त-लेख का पुस्तक क्रम देख कर तो यही अनुमान होता है कि इसका उस हस्तलेख से कुछ संबंध है जिसको मिश्रबंधुओं ने देखा था। क्रम उभयत्र समान है। छतरपुर के संग्रह में पदों के अतिरिक्त छंदों की संख्या १८११ दी है। जिन रचनाओं का उस में उल्लेख है उनके छंद जोड़ कर कवित्त सवैये के अतिरिक्त कुल संख्या १४२० होती है। इसे १८११ तक पहुँचने के लिए ३९१ छंद और अधिक अपेक्षित होते हैं। कवित्त सवैयों के संग्रह का कोई ग्रंथ इस सूची में उल्लिखित न होने से उनकी संख्या इस में सम्मिलित नहीं की जा सकती। फलतः ब्रज वर्णन पुस्तक की छंद संख्या ३९१ होनी चाहिए या उसके कुछ आसपास। ब्रजस्वरूप में १२२ छंद हैं। अतः इस अनुमान में

अधिक बल दिखाई नहीं देता कि छतरपुर सग्रह का 'व्रजवर्णन' व्रजस्वरूप ही है। उक्त पुस्तक को बड़ा होना चाहिए जैसा कि उसका नाम बताया है।

घन आनंद ग्रन्थावली

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने वृन्दावनवाले तथा लदन सग्रहालय वाले दोनो हस्तलेखो का उपयोग कर तथा अन्य विकीर्ण सामग्री को भी एकत्र कर 'घनआनद ग्रन्थावली' का प्रकाशन गत वर्ष सवत् २००९ मे किया है। लेखक ने तो वृंदावनवाली प्रति का हस्तलेख के रूप में ही उपयोग किया था। ग्रथावली तब तक प्रकाशित नहीं हो पाई थी। इस ग्रन्थावली में ३८ पुस्तकें आनदघन को प्रकाशित हैं जिनका विवरण नीचे दिया जाता है। अभी तक 'प्रेम सरोवर' तथा प्रेम पहेली' की अपूर्णता तथा 'व्रजवर्णन' का अभाव कवि के व्यक्तित्व को पूर्ण प्रकाश में आने से रोके हुए है। क्या पता इन कृतियो में कवि के इतिहास का ही कोई सूत्र निकल आये और कुछ सदेहो की निवृत्ति हो जाए। ग्रथावली में दिखाए गए 'सुजानहित' का सस्करण बड़ा है। 'घन आनद आनद घन' पुस्तक मे दिए गए 'सुजान-हित' में ४५४ छंद है। इसमे ५०७ हैं। ग्रथावली के कृपाकद निबंध मे छद सख्या ६२ है। पहली पुस्तक मे ८६। लेकिन इस में छद संख्या ५४ से आगे प्रेम पद्धति संगृहीत हो गई थी। ग्रंथावली में ८ पद और बढा दिए हैं। प्रतीत यही होता है कि यह 'कृपाकंद निबध' सग्रह केवल कवित्त सवैयो का ही है। कुछ दोहे सोरठे भले ही इसमें आ गए हों पद इसका भाग नहीं हैं। 'घन आनद आनदघन' में पदों की संख्या ५१० थी। ग्रथावली में ये १०६८ है। बाकी निबंध रचनाएँ सर्वाधिक संख्या में हैं। संपादक महोदय ने भविष्य के अनुसधान की सुविधा के लिए हस्तलेख के स्वरुप को संपादन में विकृत नहीं किया है। 'प्रेम पत्रिका' के अतर्गत ६६ तथा 'वृंदावन मुद्रा में ५ कवित्त आ गये हैं। वे निश्चय इस रचना का भाग नहीं है। पर इस से यह अवश्य प्रमाणित होता है कि कवित्त सवैया कार तथा निबध रचनाकार कवि एक ही है। फलस्वरूप 'सुजानहित' के अतिरिक्त 'प्रेम पत्रिका', वृंदावन मुद्रा' तथा 'प्रकीर्णक मे' ७२ कवित्त सवैयों का सग्रह हुआ है। इस तरह अब तक आनदघन जी की समस्त रचनाओं का विस्तार इस प्रकार है।—

कवित्त सवैये	६८६
गेयपद	१०६८
दोहे चौपाई तथा अन्य छद जो दो पंक्तियों के हैं	२३५४
कुल योग	४१०८

काव्य के गुणों की कथा पृथक रही, रचना विस्तार की दृष्टि से भी आनद घन हिंदी के महाकवियों मे आते हैं।

'कोकसार अथवा 'कोक मजरी' की गणना भी आनद घन की कृतियों में की जाती रही है। खोज में आनदघन या घन आनद नाम के किसी कवि की कोकसार रचना प्राप्त हुई है[1]। इसकी प्रति लिपि सवत १७६१ मे हुई थी। कवि का नाम आनद है। जिसे डा० हीरा लाल तो काल्पनिक नाम मानते हैं और बा० श्यामसुन्दरदास घनानद से अलग मानते हैं। इसकी शैली भाषा आदि के विषय मे श्री शम्भु प्रसाद बहुगुना लिखते हैं कि कोकसार अथवा कोकमजरी को देख कर यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता कि यह रचना कहा की गई और आनद कवि आनद घन या घनानद हो सकते हैं। अपनी बात का विश्वास दिलाने के लिए सौगध खाने की प्रवृत्ति कोकसार के कवि मे इतनी अधिक है कि हमे विश्वास सा होने लगता है कि 'आनद' अलग व्यक्ति है[2] 'कोकसार' या 'कोकमजरी' का आनदघन कृत होने मे विश्वास का कारण यह और हो जाता है कि उन्होंने सुजान सौंदर्य की प्रशसा मे 'कोक-विद्या का उल्लेख किया है।

'तरुनाई पै कोक पढ़ै सुघराई सिखावति है रसिकाई'

पर इस विश्वास में बल अधिक नहीं है। कोकसार का रचना काल सवत् १६६० है जैसा कि उसके अतलेख से प्रतीत होता है।

कायथ कुल आनंद कवि वासो कोट हिसार
कोक कला इहि रुचि करन जिन यह कियो विचार,
रितु बसत संवत सरस सोरह सै अरु साठ।
कोक मंजरी यह करी धर्म कर्म करि पाठ,[3]

१—खोज रिपोर्ट का० ना० प्र० स० १६२६-१० एफ तथा १६२३-१० बी
२—घनआनद भूमिका पृ० ७३,
३—उपर्युक्त खोज रिपोर्ट से उद्धृत।

यह समय आनदघन के समय से बहुत पहले है। अत. यह हमारे कवि आनंदघन की रचना नहीं कही जा सकती ।[1]

आनदघन की रचनाएँ दो प्रकार की हैं मुक्तक तथा निबंध। मुक्तक के फिर दो भेद हैं-कवित्त सवैये और गेयपद। इनमें मुक्तक रचनाओं का परिचय उनके विषय विभाजन द्वारा तथा निबंधों का उनके वर्ण्य विषय के संक्षिप्त वर्णन द्वारा दिया जाता है।

१—कवित्त सवैयों का संख्यानुसारी विषय विभाजन

विषय	पद्य संख्या
१—संयोग कालीन मनोदशाएँ तथा चेष्टाएँ	३०
२—प्रिय का निर्मोह या छली रूप	३०
३—सुजान का रूप सौंदर्य	५८
४—साधारण नायिका सौंदर्य	२८
५—विरह व्यथा	१७
६—विरह संदेश	२६
७—विरही का प्रकृति वर्णन	२१
८—खंडिता वचन	११
९—मान	४
१०—विरहोपालभ	५९
११—फाग झूला आदि पर्व	३०
१२—प्रेमाभिलाप	२७
१३—ब्रज महिमा	१३
१४—प्रेम की दशा	१९
१५—प्रेम का स्वरूप	३२
१६—श्री कृष्ण जन्म बधाई	२
१७—वेणुवादन	११
१८—राधा	१२
१९—भक्ति	५२
२०—यमुनायश	६

१—देखिए आनदघन का समय विवेचन प्रथम परिच्छेद।

२—पदावली का संख्यानुसारी विषय विभाजन

विषय	पद
१—भक्ति : सात्विक	१६०
२—स्तुतियाँ	
गगा, सूर्य, चैतन्य, नारद, वामन, बलदेव, शकर, गोवर्धन आदि	१९
३—व्रज-वृंदावन प्रेम	२४
४—बधाई वर्ष गाठ (राम कृष्ण, राधा)	९१
५—यमुना यश	२५
६—मुरली माधुरी	९५
७—प्रेम, पूर्वराग, अनन्यता अभिलाप स्वरूप आदि	१५२
८—विरह वेदना	६८
९—प्रेमोपालभ	६२
१०—खडिता वचन	४१०
११—राधा (रूप, महिमा, सौभाग्य, मान, क्रीड़ा, वेशभूषा आदि)	५८
१२—राधा (सुरतातरूप)	१५
१३—शृ गार (सयोग केलि)	७५
१४—दूती वाक्य	११
१५—लीलाएँ (छाक, पनघट, गोचारण, दान, गोदोहन, गोवर्धन, रास आदि)	५४
१६—राधा के पर्व	१४
१७—ऋतुवर्णन	
वसत	१२
फाग	११६

वर्षा			६
शरत	×	६	
ग्रीष्म	×	१	
१८: संतमहिमा	×	२	

३: कृपाकंद

श्री वि० ना० प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'घन आनद' और आनदघन' पुस्तक मे इसका नाम 'कृपानंद निबंध' दिया है। ग्रथावली मे निबंध शब्द हट गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को इसी के नाम के विषय मे 'कृपाकाड' का भ्रम हुआ था। यह सभवतः अग्रेजी अक्षरो में लिखे रहने के कारण था। रचना मे २१ कवित्त २६ सवैया ९ पद ४ दोहे १ सारंग और १ छप्पय है। कुल ६२ पद हैं। इनमें से ८ पद्य ३७ से ४४ संख्या तक 'सुजानहित' में भी आगए हैं। भगवत्कृपा का महत्व इन सब कविताओं का विषय है। प्रतीत होता है कवि ने स्वयं रचना का नाम कृपाकद या कृपाकंदनिबंध ही किया है। 'कृपाकद' शब्द कृपा के घन के अर्थ मे अनेकत्र व्यवहृत हुआ है।[1]

४ वियोग वेलि

इस में ८१ पद्य हैं। श्रीकृष्ण के प्रति गोपियों का भावावेश पूर्ण वियोग इस मे वर्णित हुआ है। भाषा व्रज है, पर भावों की शैली फारसी की है। भाव-वक्रता तथा वचन-वक्रता कवित्त सवैये की सी व्यवहृत हुई है। रास के मध्य से श्री कृष्ण के अंतर्ध्यान हो जाने पर जो गोपियो का वियोग वर्णन भागवत में हुआ है वही यहा है। रचना भावो की मार्मिकता के लिए विशेष उल्लेखनीय है।

५. इश्कलता

इस मे १४ दोहे १२ अरिल्ल ८ माझ तथा १६ निसानी छंद के पद्य हैं। प्रिय के रुप का मादक प्रभाव, उसके विरह की पीड़ा तथा प्रेम भावना

---

१. कवित्त में - पनऊची दीठि नीठि नीचियौ न होन कहू ऐसे मन चातक भए जे कृपाकद के - कृ० प० ५८।

आनद आरतकद वदनीय प्राननको। वही १८

पदों में - कृपा कन्द आनदकद हौ, पतित पपीहा द्वार परयौ। वही ५१

कृपाकद आनदकद है, पतित पपीहा तपनि हरौ॥ वही ५२

का फारसी शैली से वर्णन किया गया है। इस मे कुछ पद्य उर्दू और पजाबी भाषा के हैं। कुछ व्रज के दोहे शुद्ध व्रज भाषा मे लिखे गए हैं। प्रिय को 'अरे वे, 'तू' आदि शब्दो से सबोधित किया गया है, जिस मे स्नेह की निकटता की व्यजना होती है। रचना का परिचय देते हुए कवि ने लिखा है कि 'हृदय के चमन मे इश्कलता हरी भरी होती है। विरह के कॉटो से उसकी बाढ की जाती है और आनद का धन इसे सींचता है'। भक्ति के प्रेमाधिक्य मे मस्त होकर रचना लिखी गई प्रतीत होती है। स्याम सुजान के विरह की पीड़ा जब सताती थी तो इश्कलता से ही आनन्द का लाभ होता था।

स्याम सुजान बिना लखैं लगे बिरह के सूल।
तामैं इश्कलता भई घन आनद को मूल॥

फारसी और पजाबी के पद्य नागरी दास की रचनाओ मे भी मिलते हैं। उन्होने 'इश्क चमन' लिखा भी है। रस खान ने भी 'प्रेम वाटिका' लिखी है। प्रेमी कवियों मे प्रेम का बाग लगाने की रीति सी है। उसी परम्परा का इस मे अनुसरण है। उर्दू फारसी की शैली तथा शब्द प्रयोग से आशिकाना शैली की रचना लगती है। चमन बुलबुल आदि वर्ण्य विषय फारसी के ही हैं। कवि ने अन्त में उसे भक्तिपरक बताया है।

इश्कलता ब्रजचन्द की जो याचै दै चित्त।
वृंदावन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त॥

× × ×

६ः यमुना यश

यह भक्ति भाव की रचना है। इस में ९० अर्धालियों के अन्त मे एक दोहा है। भक्ति भाव से यमुना का महत्व वर्णित हुआ है। रचना कीर्तन के ढग की है। अर्धालियाँ तथा दोहों का प्रारम्भ 'जमुना' शब्द से हुआ है। आनद-घन जी गोकुलघाट पर यमुना के किनारे रहा करते। इसका प्रमाण इस रचना में मिलता है। इस में उन्होंने लिखा है कि मैं यमुना के किनारे पर फूला फूला फिरता हूँ। जिन्होंने गोकुलघाट पर यमुना का पानी पिया है वही यमुना रस की महिमा जानते हैं।

या यमुना में नित ही न्हाऊं,
+ + यमुनायश २२

जमुना के तट फूल्यौ फिरौं
+ + यमुनायश २७
गोकुलघाट पियौ जिन पानी
जमुनारस महिमा तिन जानी
+ + यमुनायश ३७

७ प्रीति पावस—

इसमें १०६ अर्धालियाँ हैं। पावस ऋतु में श्री कृष्ण के गोप गोपियों के साथ वन विहार का इस में वर्णन किया गया है। ऋतु के अतिरिक्त प्रेम वर्षा का भी वर्णन किया गया है, श्री कृष्ण आनन्द के घन हैं। ये आनन्द की वृष्टि करते हैं। व्रज में यह प्रीति का पावस प्रत्येक ऋतु में बना रहता है। श्री कृष्ण को आनद घन मान कर कल्पना करने की प्रवृत्ति कवित्त सवैयाकार आनंदघन की है। वही कल्पना निबंध रचना 'प्रीतिपावस' में मिलती है। इससे सिद्ध है कि निबंधों तथा कवित्त सवैयों का रचयिता एक ही है। इसके अतिरिक्त सरल भाषा में कवित्त सवैयों की सी भाववक्रता यहाँ प्राप्त होती है। जैसे—

अचरज झर लाग्यौई दरसै,
घन तरसै, चातक रुचि बरसै । प्रीति पावस ५२।

× × ×

प्यासनि बरसत अति रस भरै,
अचरज घन दामिन संचरै। वही ५५

× × ×

८ प्रेम पत्रिका—

श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित 'घन आनद' ग्रन्थावली में इस रचना के ६५ पद्य दिए हुए हैं, जिसमें प्रारंभ में २६ पद्य प्लवग छंद के हैं। इनके बाद कवित्त सवैये सगृहीत हैं। उनमें २८ सवैये १ छप्पय १ सोरठा तथा ३६ कवित्त हैं। कवित्त सवैये प्रारम्भ होने से पूर्व कवि का नाम आ गया है और रचना का प्रयोजन भी कवि ने बता दिया है। इससे सिद्ध होता है कि 'प्रेम पत्रिका' वहीं समाप्त हो जाती है। दूसरे कवित्त सवैयो में प्रेम की पत्रिका के भाव नहीं है। विरह का वर्णन है कवित्त संख्या ३०, ३१,

३२, ३३ वृन्दावन मुद्रा के क्रमश. पत्र संख्या ५४, ५५, ५६, ५७, हैं। अतः कह सकते हैं कि 'प्रेम पत्रिका' तो २६ वें पत्र पर ही समाप्त हो जाती है। बाद में किसी ने उनके मुक्तक पत्र संगृहीत कर दिए हैं। इसमे यह भली-भाँति प्रमाणित होता है कि निबन्धकार तथा मुक्तककार एक ही आनदघन हैं। विरहिणी गोपियो का कृष्ण के प्रति प्रेम पत्र का सदेश इसका वर्ण्य हैं। भाव और भाषा की वक्रता कवित्त सवैयों की सी है, भाव भी वे ही हैं जो कवित्त सवैयो में हैं।

१२ अनुभव चन्द्रिका—

इसमे २ दोहे तथा ५२ अर्धालियाँ हैं। व्रजभूमि के महत्व के विषय मे कवि ने अपने अनुभवों को व्यक्त किया है। व्रज श्रीकृष्ण के आनद का मूर्तिमान स्वरूप है। यह रसमयरूप अमल, अखड, अगम्य तथा अनूप है, परमधाम का भी धाम है। भगवत्प्रेम का पूर्ण प्रण लेने पर ही इसका महत्व समझ में आता है। कवि ने अपना प्रसग भी दिया है कि यहाँ के नर सरिताओं का जल पीने से जले हृदयों को भी शान्ति मिलती है। वह चाहता है कि व्रज में रह कर श्री कृष्ण का कीर्ति गायन करता रहे। राधा के चरणों में सिर झुकाता रहे। इस प्रकार मनमें आनद की लहर उठती है। उन्होंने व्रज रसिकों के सत्सग से व्रज महिमा सुन बूझ कर लिखी है।

व्रज वन सर सरिता जल पीयें।
उपजै सान्ति जरिगए हियें॥
व्रज वन वसि व्रजनाथ हि गाऊँ।
श्री गोपी पद रज सिर नाऊँ॥
व्रज वन रसिक सग अभिलाखौं।
तिन तैं सुनि बूझै कछु भाखौं॥

अनुभ० च० ३७, ४२, ४७।

× × × ×

१३ रंग बधाई—

नाम से जैसा स्पष्ट है, रचना श्रीकृष्ण जन्म की बधाई के वर्णन में है। गोप गोपियों, नद यशोदा आदि के इस अवसर के आनन्दोल्लासों का भक्ति भाव से वर्णन है। इसमें तीन दोहे और ५० अर्धलियाँ हैं।

निम्बार्क सम्प्रदाय वाले नियमतः जन्म बधाई का वर्णन करते हैं। मुक्तक पद्यों में भी बधाई के बहुत से पद्य इनके विद्यमान हैं। इससे कवि का निम्बार्क सम्प्रदाय में दीक्षित होना प्रमाणित होता है।

१४ प्रेम पद्धति—

यह १४३ पद्यों की रचना है। इसमे ३५ दोहे हैं १०८ अर्धालियों। वर्ण्य विषय है प्रेम लक्षणा भक्ति। प्रेम का महत्व एवं दुरवगाहता बताते हुए गोपी-कृपा को उसका प्राप्ति साधन बताया है। गोपियो ने ही प्रेम की यथार्थता को पहचाना था। उन्हीं का अनुसरण करने से प्रेम की सच्ची अनुभूति हो सकती है। कवि ने अपने सप्रदाय की स्पष्ट व्यजना की है, कि 'दुष्प्राप्य' प्रेम भी गोपी पाद प्रसाद से उसे सुलभ हो गया है। उसने गोपियो के अनुसार अपना प्रण पूरा किया है।[१]

१५—वृषभानपुर सुषमा वर्णन

इसके प्रारभ में एक दोहा और बाद मे ४० अर्धालिया हैं। वृषभानपुर का थोड़ा वर्णन करने के बाद कवि अपने को राधा की सखी के रूप में वर्णित करता है।। वह राधा की चेरी है। सदा उसी के पास रहती है। राधा ने उसका नाम बहुगुनी रखा है। वह शृंगार के सब सामान सजाना, भूषा बनाना, रसमयी उक्ति से राधा का हर्ष बढाना, छंद, कवित्त आदि का चटक से गाना जानती है। ललिता, विसाखा आदि सखियाँ उसका आदर करती हैं।[२] इससे स्पष्ट है कि आनदघन सखी भाव के उपासक थे।

१६—गोकुल गीत

इस छोटी सी रचना में २१ अर्धालियाँ और अत मे दो दोहे हैं भक्ति

१—प्रेम पद्धति ७, १०२।

२—राधा की हौं चौंकन चेरी। सदा रहति घर बाहिर नेरी॥
नीकौ नाम बहुगुनी मेरौ। बरसाने हौ सुंदर खेरौ॥
रस सिंगार साज सजि जानौं। कबरी गोंथौं बहुविधि थानौं॥
राधा नाँव बहुगुनी राख्यौ। सोई अरथहि मैं अभिलाख्यौ॥
उकति जुकति रस भरी उठाऊँ। भाग मेरी की हरष बढ़ाऊँ॥
वृष० सुषमा व० ८. ६, १४, १५; १८, १६

भाव से श्री कृष्ण के कारण गोकुल के महत्त्व का वर्णन है। कवि ने गोकुल देखने की अभिलाष प्रकट की है।

यह गोकुल नित नैननि दरसौं
प्राननि पै आनदघन बरसौं

१७--नाम माधुरी

इसमें ४२ अर्धालियाँ हैं। राधा के नाम सकीर्तन की रचना है। 'गोपाल सहस्र नाम' आदि की शैली मे राधा के अनेक नामों का कीर्तन की पद्धति पर स्मरण किया गया है।

१८--गिरि पूजन

इसमे केवल ३४ अर्धालियाँ हैं। गोवर्धन पूजा का सजीव तथा भावपूर्ण वर्णन किया गया है। पूजन के समय का वर्णन भी है और कृष्ण की कुछ बाल चेष्टाओं को भी दिखाया है जो बड़ी सजीव हैं।। रचना आकार में छोटी है। पर स्वाभाविक सजीवता के लिए विशेष उल्लेखनीय है।

१९--विचार सार

वृंदावनवाली हस्तलिपि में इसका शीर्षक विचार सार विनय दिया है। कवि ने स्वय इसे निबध बताया है।

'सब विचार को सार है या निबंध को ज्ञान'[1]

रचना में कृष्ण नाम का कीर्तन है। ८६ अर्धालियाँ हैं। अत में २ दोहे हैं। कवि के अनुसार श्री कृष्ण का नाम स्मरण समस्त विचारों का सार है।

२०--दान घटा

इसमें १३ सवैये और अत मे तीन दोहे हैं। गोपसहित श्रीकृष्ण का राधा सहित गोपियों के साथ दान लीला का वर्णन किया गया है। श्रीकृष्ण को आनदघन समझकर रचना को दान घटा कहा है। सरल भाषा में बडे सजीव सवैये लिखे गए हैं। उन्हें पढकर नरोत्तमदास का स्मरण होता है।

१--विचार सार ८७

२१—भावना प्रकाश

यह २२० अर्धालियों की रचना है। विषय की दृष्टि से इसके दो भाग हो सकते हैं। पहले मे राधा और कृष्ण का मिलन है। दूसरे में व्रजराज की महिमा कीर्तन की शैली से वर्णित है। रचना इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है कि यहाँ स्पष्ट शब्दो में कवि ने अपनी भाव दशा का वर्णन किया है जिसकी व्यंजना कवित्त सवैये मे होती है। 'आनदघन रस मे भींगे रहते हैं। व्रज वन की लीला में अवगाहन करते हैं। क्षण क्षण में भावों की तरंगे उठती हैं। छवि देख देख कर उनके निमेष थक जाते हैं। मन मधुर रस के पान से तृप्त होता है। विवश दशा मे शरीर रोमान्चित हो जाता है। झूम झूमकर वन वीथियों मे डोलते हैं। मौन धारण किये मन ही मन बोलते हैं'।[1]

२२: व्रज स्वरूप

इस मे १२२ अर्धालिया हैं। श्रीकृष्ण के कारण व्रज की महत्ता, श्रीकृष्ण का गोपियों के साथ क्रीड़ा-विहार, आनंदोल्लास आदि का वर्णन है। व्रजस्वरूप निगमों का भी अगम है पर व्रजरज की उपासना से सुगम होजाता है। कवि यहा रह कर गोचारण, गोदोहन, व्रजमोहन की नव नव रगरलिया तथा त्यो-हारो की चहल पहल देखता है। कवि की स्पष्ट उक्ति है कि—

सुयस लह्यौ व्रजवास बसेरौ

वृंदावन मुद्रा ५३

× × ×

२३ प्रेम पहेली

११ अर्धालियों की इस छोटी सी रचना में किसी गोपी या राधा के प्रेम प्रसग को प्रारंभ किया है पर इसकी समाप्ति नहीं की गई। रचना अधूरी है। कवि का नाम नहीं है जैसा कि और रचनाओं मे मिलता है।

+ + +

१—आनदघन रस भीज्यौ रहै। व्रज लीला निधि रस अवगाहै।
छिन छिन भाव तरंग बिसेषै। देखि देखि छवि थके निमेषै॥
महा मधुर रसपान छकै मन। विवस दसा अति रोमांचित तन॥
भावना प्र० १८६, १९२

२४: रसनायश

२८ अर्धालियों की इस छोटी सी रचना में रसना (जिह्वा) की प्रशंसा इसलिए की गई है कि वह भगवन्नामसंकीर्तन करती है। प्रत्येक अर्धाली 'रसना' शब्द से प्रारंभ होती है।

× × ×

२५: गोकुल विनोद

इस में ६४ एक ही छंद के पद्य हैं। रचना औरों की अपेक्षा प्रौढ़तर है। भाषा समासात्मक सुसंगठित संस्कृत बहुल है। कृष्ण बलराम के राजस विहार का वर्णन है। गोकुल के घर, स्नान, तड़ाग, प्रियतमाएँ जलकेलि आदि वर्ण्य हैं। जलकेलि का शृंगारात्मक सजीव चित्रण किया गया है।

× × ×

२६: कृष्ण कौमुदी

इसमें ७५ दोहे ६ अर्धालियां हैं। प्रारंभ में श्रीकृष्ण की नामावली विष्णु सहस्र नाम की शैली पर संगृहीत है। बाद में श्री कृष्ण का नख शिख वर्णन महापुरुषों की तरह मुकुट से प्रारंभ कर चरणों पर समाप्त किया है। मोहन के यौवन सौन्दर्य का भी वर्णन है। रचना उत्कृष्ट है। कवि ने इसको प्रबंध संज्ञा दी है। 'कृष्ण कौमदी नाम यह मोहन मधुर प्रबंध। सरस भाव कुमुदावली प्रफुलित परम सुगंध। सरल, सरस और स्वच्छन्द भाषा में भाव व्यक्त किए गए हैं। चौपाइयों की अपेक्षा दोहे अधिक कवित्व पूर्ण और सरस हैं।

× × ×

२७: धाम चमत्कार

७० अर्धालियां की इस रचना में वृंदावन के महत्व का भक्ति भाव पूर्ण वर्णन है। धाम का महत्व श्री कृष्ण के कारण है। इसे भक्त ही देख सकते हैं। विचारों की दृष्टि से रचना महत्व पूर्ण है। वृंदावन के विषय में वैष्णव दर्शन की भावनाएँ इसमें आनद घन जी ने दिखाई हैं। वृंदावन आश्चर्य धाम है जिसे देखने की आंखें और ही होती हैं। इस अगाध रस सागर में आनदघन नित्य ही बरसते हैं। व्रजवन परमानदमय है जहां मन का प्रवेश भी नहीं होता। परम तत्व का सार इसकी धूलि में समोया हुआ है। यहां

सर्वदा एकसा आनदोदय रहता है। भगवान श्री कृष्ण ने अपना स्वरूप देखने के लिए इसे दर्पण बनाया है। 'रसकदंब स्याम' यहा मुग्ध बने रहते हैं। इसकी महिमा निगमागम के लिए भी अगम है। इसके आश्चर्यमय रूपको विरले ही कह सकते हैं। आनंदघन से तो ब्रजनाथ ने हठ पूर्वक यह कहला लिया था। 'ब्रज स्वरूप कछु मन में आयो, सो हठ के ब्रजनाथ कहायो'। ये ब्रजनाथ 'घनानद कवित्त' के सग्रहीता ही प्रतीत होते हैं।

× ×

२८—प्रिया प्रसाद

इस मे ६५ अर्धालियाँ और ६५ दोहे हैं। प्रारंभ मे राधा का नाम सकीर्तन है। बाद मे कवि ने अपनी स्वामिनी और स्वयं को उनकी चेरी बताया है। सखी भाव की उपासना के भावावेश में वह राधा कृष्ण की शृंगार सेवा करना है, वह राधाकी चटकीली, चितचटी 'चेरी है जो सदा उनके पास रहती है। उन्हें गीत सुनाती है, पैर दबाती है, दोनो का पखा करती है। राधा की झूटन खाने की भी वह इच्छुक है। उनके शरीर से उतरा वस्त्र पाकर वह धन्य होजायगी। राधा और मोहन दोनो एक हैं। राधा श्याम बिना नहीं रहती अतः कवि राधा का ही भक्त है। रचना कवि के साप्रदायिक भावो की दृष्टि से महत्त्व पूर्ण है। उन्होंने स्वयं इसका नाम 'प्रिया प्रसाद' रक्खा है।

'प्रिणप्रसाद प्रबध कौ पाय सवादहि लेत'

× × ×

२९—वृंदावन मुद्रा

घन आनद ग्रन्थावली के अनुसार इसमें ५८ पद्य हैं। ५ कवित्त १ दोहा और ५२ अर्धालियाँ हैं। वर्ण्य विषय है वृंदावन की महिमा। कवित्त रचना का भाग नहीं प्रतीत होते हैं। वृंदावन विषयक होने से इस में संगृहीत होगए हैं। वैसे ये ही पद्य ग्रथावली 'प्रकीर्णक' के ९१, ९३, ९४, ९५ और ९६ वें हैं। ५३ वीं अर्धाली में कवि का नाम आगया है जिस से रचना के वहीं पर पूर्ण होने का अनुमान होता है, अस्तु—

संग्रह से कवित्तकार तथा प्रबंधकार के एक होने का प्रमाण अवश्य मिलजाता है। कवि ने अपने निवास स्थान का भी इस में परिचय दिया है।

'आनदघन वृदावन वसैं'

× × ×

यह वृदावन राधा और कृष्ण दोनो का निवास स्थान है। वे इसे-पुतलियो की तरह नेत्रों मे रखते हैं। यहा दपत्ति का प्रेम लहलहाता है। आनदघन नित्य यहा बरसते हैं। यह श्रीवपु के समान है। उसकी प्रार्थना यही है कि वृदावन सदा उसकी आखो के आगे विद्यमान रहे। और उसकी अपूर्व ज्योति उसके लिए सदा जगती रहे।

× × ×

३०—व्रज प्रसाद

इस मे १०८ अर्धालिया है। व्रज की महिमा तथा शोभा इस के वर्ण्य विषय हैं। इसके महत्व का कारण भगवान श्रीकृष्ण है। मोहन व्रज हैं, व्रज मोहन है। अत मे कवि की धारणा है कि 'व्रज के सुख को तो कोई भी नहीं कह सकता। मै तो मौन धारण किए देखता रहता हूँ।'

× × ×

३१—गोकुल चरित्र

यह ४० अर्धालियों की छोटी सी रचना है जिस मे कृष्ण के चरित्रो का वर्णन है। गोकुल के मार्गों मे श्री कृष्ण क्रीड़ा करते हैं। उनका सरस गोचारण, पनघट आदि और बालचेष्टित आदि विशेष रूपसे वर्णित है।

× × ×

३२ मुरलिका मोद—

५१ अर्धालियों की इस छोटी सी रचना में श्री कृष्ण की मुरली वादन और गोपियों का उस पर मुग्ध होकर घर बार की लज्जा त्याग स्वच्छन्द प्रेम का आश्रयण करने का वर्णन हुआ है। रचना का महत्व इसलिए बढ गया है कि कवि ने इसमें समय का सकेत किया है।

गोपमास श्रीकृष्ण पक्ष शुचि
सवत्सर अठानवै अतिरुचि। मुरलिका मोद ५०

× × × ×

३३ मनोरथ मंजरी —

३० पद्यों की यह साम्प्रदायिक रचना है। कवि अपने को राधा की अतरग सखी मान कर उनकी रह केलि की सेवाओं का वर्णन करता है। वह उनकी शय्या तैयार करता है। रहः केलि में पान पात्र भरता है, रस भेद की बातें सुनाता है। सुरतकाल में बाहर आकर उनके रसालापों को सुनता है, राधा कृष्ण के सभोग सुख से स्वयं सुखी रहता है।

सखी संप्रदाय का आदर्श है कि सखियाँ राधा कृष्ण की गुह्यतम केलियों की साक्षिणी होकर भी मादन भाव का अनुभव नहीं करतीं। कृष्ण में पतिभाव की कामना नहीं करतीं। साथ ही साधना का उत्कर्ष राधा की अतरगता प्राप्त करने से होता है। यहाँ पर कवि अत्यत अंतरंग भाव की भावना मादन भाव रहित होकर प्रकट करता है। इस रचना से स्पष्ट है कि आनदघनजी सखी भाव की साम्प्रदायिक प्रेम साधना में पारंगत थे।

× × × ×

३४ व्रज व्यौहार—

यह अपेक्षाकृत बड़ी रचना है। कुल २३७ पद्य हैं जिनमें २६ दोहे हैं शेष अर्धालियाँ हैं। गोचारण छाक लीला, दान लीला, व्रजमहिमा, गोपी प्रेम महिमा तथा व्रजव्यवहार का महत्व आदि इसके वर्ण्य विषय हैं। रचना साधारण है। इसमें ८ दोहे प्रेम सरोवर के भी आ गए हैं।

× × × ×

३४ गिरि गाथा—

इसमें ४ दोहे और ५० अर्धालियाँ है। गोवर्धन का महत्व वर्णन रचना का विषय है। गोवर्धन व्रजवासियों की गौओं का पालन करता है। कृष्ण के केलिविलासों के लिए कदराओं मे स्थान देता है। गोपिकाओं को मार्ग प्रदान करता है। भगवान की लीलाओं का साक्षी है।

३६ छंदाष्टक—

८ छदों की इस लघु रचना मे रास के अनन्तर अन्तर्हित हुए श्रीकृष्ण के वियोग मे व्याकुल गोपियों की विरह भावनाएँ और अन्वेषण के प्रयत्न दिखाए हैं। सवैयों की सी सरस संगठित शैली है।

× × × ×

३७ त्रिभंगी—

यह ५ त्रिभंगी छंद के पद्यों का संग्रह है। जीव को भगवद् भक्ति का उपदेश रचना का विषय है। संस्कृत बहुल समस्त भाषा शैली का आश्रयण इसमें हुआ है।

× × ×

३८ परमहंसावली—

यह रचना ५३ दोहों की 'गुरुमुखी' है। निंबार्क संप्रदाय के गुरुओं की 'हंस' सनक से प्रारंभ कर वृन्दावन देवजी तक की नामावली का यत्र तत्र गुण वर्णन के साथ उल्लेख हुआ है। कवि का संप्रदाय निश्चित करने में रचना महत्व पूर्ण है। जिन गुरुओं के नाम इसमें आए हैं वे यथा क्रम 'संप्रदाय' के प्रसंग में दिखा दिए गए हैं। ये सभी निंबार्क संप्रदाय के गुरु हैं।

× × ×

३ कर्तृत्व तथा शीर्षक परीक्षा—

इन रचनाओं के आदि अंत या मध्य में कवि ने अपना नाम कम से कम एक बार अवश्य दिया है। नाम 'आनंदघन' ही नियत रूप से आया है। रचनाओं का नामकरण निम्नलिखित रचनाओं में कवि ने स्वयं किया है।

इश्कलता—

विरह सूल सों वारि करि घन आनंद सों सींच।
इश्कलता झालर रही हिये चमन के बीच॥

यमुनायश—

जमुना जस बरन्यो विसद निरवधि रस को मूल।
जुगल केलि अनुकूल है बसिबो जमुना कूल॥

प्रीति पावस—

सुरस प्रीति पावस ज्यों बरसै।
त्यौं ही सब रितु को सुख सरसै॥

प्रेम पत्रिका—

या पाती को देखि पथिक प्रानै लहै २६
अकथ कथा की पाती छाती है भई ६

प्रेम सरोवर

प्रेम सरोवर अमल वर ढिग कदंब तरुपाँति । १

व्रज विलास

व्रज विलास दरसै सदा व्रज मंडन को साथ । ६४

सरस वसंत

सरस वसंत प्रीति की गोभा । प्रगटित होत विराजत शोभा । २०

अनुभव चंद्रिका

प्रकटी अनुभव चंद्रिका भ्रमतम गयौ विलाय । ५४

रंग बधाई

रंग बधाई को सुख जैसी । मन लोचन नहि जानत तैसी ॥

प्रेम पद्धति

प्रगट प्रेम पद्धति कही लही कृपा अनुसार । १०६

गोकुल गीत

नंदराय को गोकुल गाऊँ । आप बरनि आप ही सुनाऊँ ।

गिरिपूजन

गिरि गोधन पूजन ढिग आयौ । व्रजवासिन को अति मन भायौ ।

विचार सार

सब विचार को सार है या निबंध को सार । ८७

दानघटा

दान घटा मिलि छबि छटा रस धारनि सरसाय । १४

कृष्ण कौमदी

कृष्ण कौमुदी नाम यह मोहन मधुर प्रबंध । ८४

प्रिया प्रसाद

या प्रबंध को नाम हू पायौ प्रिया प्रसाद । ८८

प्रिया प्रसाद प्रबंध को पाय सवादहि लेत । ८९

व्रजस्वरूप

व्रजस्वरूप बरनै व्रजवानी । और कोन की बुद्धि अमानी । १०५

गोकुल विनोद

नद गोकुल बरनि यामी विसद जोदि निवास। १
वन निनोद प्रसाद सों पापन अखिल ब्रह्मंड। ६४

ब्रज प्रसाद

ब्रज प्रसाद ब्रजरस *उदगार। रसिक सजीवन प्रान अधार। १५२

व्रत त्यौहार

मोहन ब्रज त्यौहार बखानौं हिये पैठि रसना पै आनौं १३८

आलोचना

४. पदावली और निबंध रचनाऐं

पदावली तथा निबध रचनाएँ आनदघन जी के भक्ति काल की हैं जैसा कि उनकी जीवन सबधी किवदन्तियों से प्रतीत होता है। कवित्त सवैयो मे अनुभूत्यात्मक लौकिक प्रेम के भाव हैं। वे उनके शृगारी जीवन की कृति कही जाती हैं। कवित्त सवैयों से दूसरे प्रकार की रचनाओं मे अनेक प्रकार का अतर स्पष्ट प्रतीय होता है। एक तो कवित्त सवैयों मे जो वक्रतापूर्ण शैली का आश्रयण है वह इन रचनाओं मे कहीं कहीं अत्यन्त अल्प मात्रा मे मिलता है। शब्दावली तो नि'सशय वही है जो कवित्त सवैयो मे हैं पर वाक्य रचना अपेक्षाकृत सरल तथा सीधी है। कवित्त सवैयों के कवि से उसके उत्तरकाल में जिस प्रौढि तथा परिमार्जन की आशा की जा सकती थी उसका भी यहा अभाव है। चितन शैली मे भी अतर है। इन रचनाओं का विषय भक्ति है। कवित्त सवैयों में भी भक्ति भाव के कुछ पद्य आए हैं। कृपाकद निबध, दान घटा तथा वृंदावन सबधी पद्य सभी भक्ति भाव पूर्ण हैं। पर उन में शैली जैसी चमत्कार पूर्ण, प्रभविष्णु एव गभीर है उसका यहा अभाव है। यही नहीं भावों की उन्मुक्तता के दर्शन जैसे कवित्त सवैयों में होते हैं वैसे पदावली में तथा निबधों में नहीं है। वहा परमेश्वर का स्वरूप दार्शनिक अधिक है अवतार स्वरूप कम। केवल लीला वर्णन में कृष्ण का रूप अवतारी है। भक्ति के भाव भी भक्ति शास्त्र की परपरा से बद्ध नहीं है। भक्ति भावना में किसी सप्रदाय विशेष का अनुसरण वहा नहीं किया गया प्रतीत होता है। प्रेम शृगार के भाव भी इसी प्रकार शृगार शास्त्र या साहित्य शास्त्र की परपरा से मुक्त है। दो शब्दों में कवि का स्वरूप वहा रीति मुक्त है। पर

पदों एव निबंधों मे राधा कृष्ण के नाम पर जो भक्तिभाव व्यक्त किए गए हैं वे साम्प्रदायिक हैं। निबंधों में राधा कृष्ण के वन विहार (व्रजव्यौहार) जल विहार (गोकुलविनोद) तथा सुरतादि (मनोरथ मंजरी में) के वर्णन आए हैं वे पर्याप्त खुले हुए हैं। शिष्टता और भावात्मकता जैसी कवित्त सवैयों मे हैं उसके यहा दर्शन नहीं होते। पदावली में भी सुरत, सुरतात, परकीया, रति प्रच्छन्न रति आदि भाव के पद मिलते हैं। सुरतवर्णन यथा:—

'भुज भुरि भरि गाढ़े लगाई री सुनू छातियां प्यारे,
आनन पियराई, घरक हियराई, लड़ाई बहुत बतिया प्यारे
पीक कपोल सुहाय, छाय जगी लगी आवनि आखें मदमतियां प्यारे।
अंग अग ऊठ अनूठी भई आनंद घन घुरि घुरि ढुरि ढुरि
भिजई रिझाई सब रतियां प्यारे'[1]

अभिसार के लिए नायिका को उद्यत कराती हुई दूती के वचन:—
'कहा तू भजन दे करि है हे।
'पिय की हियतें हर्यो सहज ही अबधौं कहा हरिहै हे।

× × ×

आनद घन सौ दामिन है मिलि चद चर्यो हरिहै हे।[2]
नायिका को नायिक के हाथ सौंपती हुई दूती के वचन ये हैं:—
ल्याइहौ मनाइ करि करि मनु हारि
अब तुम लेहु निहोरि रसिकवर समुझि समारि।
जाके अंग अंग सुख चहिए ताकी सहियै रारि गारि।
आनद घन तुम सुघरराय रस राखियै विचार।[3]
सुरतात सौंदर्य का वर्णन भी मिलता है।—
'चितवन और अरसीली बोलनि सुरसीली डोलनि ढीली ढीली।
पिय समीप निसि सुख की झलक मुख विथुरी अलक।
अरु लगी ललित कपोलनि पीक लीक छबीली।

१—प्रा० प० ६७६
२—वही ४७४
३—वही ५१२

अंग अगरानि जभानि जानि झुकि मरगजी सारी अति मुघसीली ।

मुकुर देखि अवरेखि मनहि मन आनद घन कछु मोहनि होतिहि सीली ।[१]

प्रच्छन्न परकीया रति

'लई कन्हैयां नै हाँ घेरि,

खोरि साकरी माझ संझोसे आइ गयौ कितहूँ ते हेरि ।

कोरी भरि ऊधरी ओंचका अकली काहि सुनाऊलटेरि ।

आनंद घन घुरि सराचोर करि पठई घरलौं निपट घेरि ।[२]

× × ×

पदावली में प्रेम का स्वरूप पारिवारिक भी कहीं कहीं हो गया है। कवित्त सवैयो में इस तत्व के कहीं भी चिह्न नहीं मिलते। यहा श्री कृष्ण के साथ गोपिका प्रेम की 'ननदिया' दूर से पहचान लेती है ।—

अब तो जानि है जू जानी ब्रजमोहन सुखदानी ।

मेरी तिहारी लाग ननदिया दूरि कितहु पहचानी ।

चौकस भई रहति है वैरिनि जोऽब निकसियै पानी ।

वाकैडर सूखति आनदघन इतके झर नक थानो ।।

आ० घ० पदा० २३३

इस तरह से कवित्त सवैयों से पदावली तथा निबंधो मे शैली और भावों का भेद प्रतीत होता है। इस भेद के कारण आपाततः यही अनुमान होता है कि स्यात् आनदघन और घन आनद दो पृथक पृथक कवि हैं। कवित्त सवैयों का कवि प्रेमी घन आनद हे, जो आवश्यकता वश अपने को आनदघन भी लिखता है और निबध तथा पदावली का रचयिता भक्त आनद घन ही है। कवित्त सवैयों में जिस प्रकार आनदघन और घन आनद दोनों प्रयोग मिलते हैं उस प्रकार इन रचनाओं में नहीं। यहाँ केवल आनदघन ही नाम आता है केवल एक बार 'घन आनद' शब्द पदावली में प्रयुक्त हुआ है। 'घन आनद और आनद घन' 'पुस्तक का सपादन करते समय श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र को भी ऐसी धारणा हो गई थी। आनदघन जो नदगाँव के ब्राह्मण थे इन भक्ति प्रधान कृतियों के रचयिता मान लिए गए थे। फलतः मिश्र जी ने

१—१११

२—वही १६७

घनआनद से पृथक ही आनंदघन भक्त को इस सग्रह मे रखा है। उनका विश्वास था कि जब तक पक्का प्रमाण न मिल जाय तब तक आनदघन को भी एक मानने को जी नहीं चाहता। इस संदेह का कारण यह भी है कि इन रचनाओं मे 'सुजान' छाप नहीं है।

पर यह संशय तब तक ही पुष्ट प्रतीत होता था जब तक कवि की पूर्ण रचनाएँ उपलब्ध नहीं हुई थीं। 'मुरलिका मोद' से उनके समयका निर्धारण हो गया और काल भेद के कारण नदगाव के आनदघन तथा निबधकार आनदघन दो पृथक पृथक ही व्यक्ति मानने पडे। इसके अतिरिक्त और भी अनेकों प्रमाण निबध तथा पदावली के कर्त्ता को कवित्त सबैयाकार कवि मे अभिन्न सिद्ध करते हैं।

१—कृपाकद निबध तथा दान घटा का रचयिता कवि कवित्त सवैयाकार से अभिन्न है इसमें लेशमात्र भी सदेह नहीं होता। भाव और भाषा दोनों की शैली, नाम आदि उभयत्र एक से हैं। छतरपुर वाले ग्रंथ में पदावली तथा निबधों के साथ ही कृपाकद निबंध की भी गणना की गई है। 'सुजानहित' तथा 'घन आनद' कवित्त के हस्तलेखों में भी दानघटा और कृपाकंद निबध समिलित है। अतः कृपाकद निबंध एक ओर तो कवित्त सवैयाकार से सबद्ध है दूसरी ओर पदकार से।

२—प्रेमपत्रिका निबध होने से भक्त आनंदघन की रचना है पर उन्हीं के हस्तलेख में ६७ कवित्त सवैये तथा एक सोरठा और एक छप्पय भी जो 'घन आनद कवित्त के' हैं सम्मिलित हैं। इस तरह वृन्दावन मुद्रा में पाँच कवित्त घन आनंद कवित्त के सगृहीत है। इस प्रकार ९ गाने के सद कृपाकंद निबध मे संगृहीत हैं। इससे प्रतीत होता है कि संग्रहकार ने दोनो रचनाओ का कर्त्ता एक ही समझा है। हस्तलेखों के सग्रह भी इसी ओर सकेत करते हैं।

३—वृंदावन से जो हस्तलेख की प्रति प्राप्त हुई है उसमें निबध और पदो का ही सग्रह प्राधान्येन है। पर 'कृपाकंद निबध' और 'दान घटा' उन्हीं रचनाओ के साथ साथ सगृहीत हैं। लदन संग्रहालय वाली प्रति मे तो कृपाकद निबध के अतिरिक्त 'कवित्त संग्रह' भी साथ ही संगृहीत है 'सुजान हित' के साथ हस्तलेखों की एक ही जिल्द मे 'वियोग वेलि' 'यमुनायश' और 'प्रीति पावस' मिलते हैं। अतः प्रतीत ऐसा होता है कि

आनदघन जी की शृ गार परक रचनाएँ भक्ति परक रचनाओं से पृथक बहुत पहले ही सगृहीत कर ली गई थीं। कहीं साथ ही साथ और कहीं पृथक पृथक सुरक्षित की गई थी। रचनाएँ एक ही कवि की समझी जाती थीं।

४—आनदघन जी की जीवनी सबधी प्रमाणों मे प्राय' उनके गान प्रवीण होने के साथ साथ सुजान प्रेम की चर्चा की जाती है। इससे सुजान प्रेमी व्यक्ति को ही गेय पदों का कर्त्ता होना चाहिए।

५—शब्दावली तथा मूल चिंतन प्रवृत्ति कवित्त सवैयो तथा पदो मे एक सी ही हैं। प्रिय को आनद का वर्षयिता घन मानना, सयोग वियोग दोना मे अभिलाषातिरेक का बना रहना, प्रेम मार्ग मे बुद्धि को नगण्य मानना, प्रिय को घन अथवा चद्र, तथा प्रेमी को पपीहा या चकोर बताकर अनन्य प्रेम की साधना करना, प्रिय को बहु प्रेमासक्त तथा प्रेमी को अनन्य प्रेम का साधक दिखाना आदि भाव उभयत्र समान है। प्रीति पावस कवि की साधारण रचना है। इसमे किसी प्रकार की वक्रता के दर्शन नहीं होते पर शभुप्रसाद बहुगुना उसकी तुलना कवित्त सवैयो से करते हुए लिखते हैं कि 'रचना की शैली मे शिथिलता है' इसमे कोई सदेह नहीं किंतु उसमे विद्यमान भावधारा वही है जो घनानद की अन्य रचनाओं के मूल मे है। उद्वेग अवश्य तीव्रता पर नहीं है। किंतु आकांक्षा के मल मे चातक की प्यास निहित है। विंदु के समान वह पावस की बूँदो में व्याप्त है। बरस कर फैल कर सागर वह अभी नहीं हुई। कुररी का रुदन अभी शेष था। विरह ने प्रेम के सागर को लहराया है जिसकी झलक वियोग की वेलि से दिखलाई देने लगती है।'

६—पदावली मे एक बार आनदघन' पद सख्या ४०६. तथा चार पॉच बार 'सुजान' शब्द का भी व्यवहार हुआ है।

७—'वियोग वेलि', 'प्रीतिप्सवस' 'धाम चमत्कार', गोकुलविनोद' आदि निबध रचनाओं में तथा कतिपय गेयपदों मे शैली की हल्की वक्रता भी मिलती है।

८—कुछ ऐसे बाह्य कारण हैं जिनसे शैली का भेद हो सकता है।

क—शैली विवेचन में लेखक ने आनन्द घन का एक पद उद्धृत किया है जिसमें उनकी लौकिक छल-छद-पूर्ण वाणी से घृणा तथा भक्तिपूर्ण रचनाओं

से स्नेह प्रकट होता है। दूसरी ओर भड़ौवा छंदों में कवि की सुजान छाप से लिखी रचना की निंदा की गई है। इससे अनुमान होता है कि कवि ने जान बूझ कर वक्रता पूर्ण शैली का उत्तर काल में त्याग कर दिया था। भक्ति भाव की तन्मयता में साहित्यिक चमत्कार और भाषा की साज सज्जा त्याग दी थी।

ख—पदावली के पद गेय हैं। उनका आकार छोटा है। प्रायः सबके साथ राग ताल का विवरण दिया हुआ है। वृंदावन के मंदिरों के अधिकारियों की बहियों में इनके पद तत्तद् अवसरों पर गाने के निमित्त पहले से ही संगृहीत चले आ रहे हैं। राधावल्लभ संप्रदाय के श्री रूपलाल गोस्वामी से लेखक ने सैकड़ों पद उतार कर लिए हैं पर वे नवीन नहीं हैं। दूसरे राग संग्रहों में भी इनके पद संगृहीत हैं। ऐसे यथार्थत गेयपदों की भाषा सरल सीधी होना अपेक्षित है।

ग—निबंधों में बहुतसी तो कीर्तन की रचनाएँ हैं। उनमें काव्यविच्छित्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। शेषमें से कुछ में चमत्कारांश हैं भी। कुछ में चौपाई छंद का आश्रयण करने से नहीं रहा। यह छंद ब्रज भाषाके अनुकूल नहीं पड़ता।

घ—भाव परिवर्तन के तत्व जो दिखाई पड़ते हैं उनका भी हेतु है। कवि मूलतः रसवादी है। इसलिए सुजान प्रेमी आनंद घन 'बहुगुनी' सखी बन गया था। इसलिए उसने परमेश्वर को परमरमण महारस का मूर्ति 'आनंद घन' रसिक रसिया माना था। रसवाद या आनंदवाद का बुद्धिवाद से विरोध है। इसलिए आनंद घन ने प्रेम प्राप्ति में बुद्धि को अधिकारिणी नहीं माना। फलतः इन्होंने साहित्यिक क्षेत्र में रसमग्न होकर भावोद्गार व्यक्त किए जो प्रचलित रीतिमार्ग के विरुद्ध सिद्ध हुए। इसलिए कवि अपने लौकिक काव्य में तो रीति मार्ग की तुलना में स्वच्छन्द होगया। पर भक्ति भाव पूर्ण रचनाओं में बुद्धिवाद था ही नहीं। उसकी भावना का किसी से विरोध नहीं हुआ। वह भक्ति मार्ग में परंपरानुयायी ही रहा। भक्ति-विह्वल हृदय की सहज प्रवृत्ति में इतनी कठोरता रहती भी नहीं कि वह साहित्य के मार्गादि का चिंतन करे। अतः भक्ति के क्षेत्र में ये परंपरा के अनुयायी फिर हो गए। उत्तरकाल में चमत्कार का त्याग सभी कवि कर देते हैं।

---

१ घनानंद पृ० १६

६—कवित्त सवैये तथा निबंध एवं गेयपदों की एक कर्तृकता में सब से प्रबल प्रमाण तो नीचे दिए गए साम्य हैं जिन में पद्य के पद्य, कहीं कहीं तो ज्यों के त्यों भाषान्तरित कर दिए गए हैं। नीचे लिखे उदाहरण स्थाली-पुलाक न्याय से कुछ ही दिए गए हैं। आपस मे मिलने वाले पदों की संख्या और भी प्रचुर मात्रा में है।

५—रचनाओं के परस्पर साम्य—

१—'अंजन यहै सूक्ष्म हू यहै। ब्रज रज सरन गहै रज रहै।

ब्रजस्व० ८३

'रमन भूमि रज अंजन परसै। तब लीला सरूप कों परसै।

भा० ६६

मोहन दरस हियौ अभिलाखै। रजकौं परस दृग निरज राखै।

भावना प्र० ११२

'लखि लै सुख संपति दंपति मैं। ब्रज की रज आखिन अंजन कौं।

सु० हि० ४८०

जै ब्रज बन निज दरपन है कियौ। निरखत स्याम सिरावत हियौ।

धाम चमत्कार ४१

वृन्दावन सोभा नई नई रसमई गोभा,
कहत बनै न स्याम नैन पहचान हीं।
राधिका दरस को सुदेस आदरस याहि
चाह्यौई करत जब जब जैसे जानहीं।

प्रे० पत्रिका ३०

२—रोमांचित श्री वपु लौं रहै।
युगल अंग जे रंग बिराजैं ते बन दल फल फूलनि भाजैं।

वृ० मुद्रा० २६

वृंदावन माधुरी अचंभेसों भरो है देखौ।
स्याम को अनूप रूप त्यौंही याहि देखियै॥

प्रे० पत्रिका ३२

३—रजही सेऊ रजहि अराधौं। या रजतैं रजही अभिलाखौं॥
या रज में रस पुंज समोयो। या रज में परमारथ मोयो॥

भावना प्रका० १३६, १२६

सीसहि चढाइ घनआनद कृपाते पाऊं।
प्रेमसार धन्यौ है समोय ब्रज धूरि में॥

प्रेम पत्रिका ५८

४—राधिका चरन वदन करि वखानौं।
पाय जिन वल नद नदन हि हाथ करि॥
चैन भरि नैन मधि देहु थिर थानौं।

पदावली ८६

स्याम के सरूप को कछुक निरधार होय।
ज्यौं कछु कह्यौ परै अगाध प्रेम राधा को॥

प्रे० पत्रिका ३२

५—हरि चरनन की रज आखिन आजौं मोहि यहै अभिलाप रहै नित।
पवन वीर तेरे पाय परति हौं आनदघन,
पिय तन न ढरकि जाहु हा हा कर हित।

पदा० ७२

एरे वीर पौन तेरौ सवै ओर गौन वारी।
तोसो और कौन मनै ढरकौंही वानि दे॥
विरही विथाहि मूरि आंखिन मैं राखौं पूरि।
धूरि तिन पायनि की हा हा नैकु आनिदै॥

सुहि० २५६

६—अपार गुन ग्राम हौ कहा गाऊ।
तीरहि गए थकित मति गति होति,
तुमकौं कहो धौं हौ क्यौं करि आऊ।
अमित चरित की तरल तरंगनि विसमय वृंद न ठिक ठहराऊ।
ई उपाय आनदघन मो हित वो हित सुहद कृपा जो पाऊ॥

पदा० ३

मेरी मति वावरी ह्वै जाय जानराय प्यारे।
रावरे सुभाय के रसीले गुन गाय गाय॥

सुहि० १२२

क्यों हसि हेरि हर्यो हियरा अरु क्यों हितकै चित चाह बढाई ।
काहे को बोलि सुधासने बैननि चैननि मैननि सैन चढ़ाई ।
सो सुधि मो हियमें घन आनद सालति क्यों हू कढै न कढ़ाई ।

सुहि० २१

१६—बिरहा होली खेलन आयौ ।
कहा कहौं ब्रज मोहन जू जैसो इन सीस उठायौ ।
रग लियौ अबलानि अग ते धीर अबीर उडायौ ।
प्रान अरगजैं राखि रहो हैं तुम हित बास बसायो ।
नकबानी करि नाक नचावत चौचद महा मचायौ ।
चोवा चैन न रहन देत है जतन चाह चरचायौ ।

पदाव० ४६०

रंग लियौ अबलानि के अग तें च्वाय कियौ चित चेन को चोवा ।
और सबै सुख सोधे सकेलि मचाय दियौ घन आनद ढोवा ।
प्रान अबीरहि फेंट भरे अति छाक्यौ फिरै मति गति खोवा ।
स्याम सुजान बिना सजनी ब्रज यौं बिरहा भयौ फाग बिगोवा ।

सुहि० ४७

१७—मोहन मूरति मेरी आखिन आगेई रहे
ज्यौं खोलौं मूदौं त्यौं त्यौं ही त्यौं ही दृष्टि गहै न थात कहै ।

पदा० ३४५

दीठि आगे ढोलैं जौन बोले कहा बस लागे

सुहि० ६४

१८—तुमहि बहुत तुम एक हमारे गति चकोर ससि कौ है ।

पदा० २१६

मुझ जैसी उसनू बहुतेरी बंदी दा अकेलरा

पदा० ७७५

मोहि तुम एक तुम्हैं मोसम अनेक आहि
कहा कछू चंदहि चकोरन की कमी है ।

सुहि० १८७

१९—आसा तुम्हें जो लागि रहै।

कृपापियूष पोष सों तोषित अति लहलहनि लहै।
हो जिहि तुम अवलंब कलपतरु सौभग वेलि यहै।
चढि गुन विटपनि लवढि बढै नित कितहु सिथिल न है।
मन थांवरे विराजौ थिर है तिहि रस रासि यहै।

पदा० ३१

जहां राधा केलि वेलि कुल की छवनि छायौ
लसत सदाई फूल कालिंदी सुदेस थरु।
महाघन आनद फुहार सुखसार सींचे
हित उत सवनि लगाय रंग भन्यौ झरु
प्रेम रस मूल फूल मूरति विराजौ मेरे
मन आल वाल कृस्न कृपा को कल्पतरु।

कृपाकंद निबंध १३

२०—पुकारौ मौन मे कहिवौ न आवै।

वियोग वेलि० १६

विरही विचारनि की मौन मैं पुकार है।

सुहि० ३९८

२१—अचंभे की अगनि अंतर जरौं हौं।
परौं सियरी भरौं नाहीं मरौं हौं।

वियोग वेलि० १७

मीरी परि सोचनि अचंभे सों जरौ मरौं

सुहि० २०६

२२—कहाँ तब प्यार सौं सुख दैन घातें।
करौ अब दूर ते दुख दैन घातै॥

वियोग वेलि० ५

पहलें घन आनद सींचि सुजान कहीं बतिया अति प्यार पगी
अब लाय वियोग की लाय बलाय बढाय बिसास दगानि दगी।

सुहि० ८

कमला तप साधि अराधति है अभिलाप महोदधि भजन कै।
हित सपति हेरि हिराय रही जितरीझ यसी मन रंजन कै।

सुहि० ४६७

४४—यह ब्रजरज मजन को मंजन। यह र ज परमांजन कौ अंजन

भा० प्र० १३०

ब्रज रज स्याम सरूपहि सूझै यिन रज लहै न कोऊ बूझै

ब्र० स्व० ७१

घन आनद रुप निहारन कौ ब्रज की रज आखिन अंजन कै।

सुहि० ४६७

४५—घूमति फिरति भरति भावरी। नित सगम रंगनि सांवरी

य० य० १९

ऐसे रसामृत पूरित है मरियोई करै अभिलापनि भावरी।
है अमुना जमुना घन आनद सावरे संगम सगनि सावरी।

सुहि० ४७३

४६—रीझनि लै भिजई आनदघन मतिभई बौरी है।

पदावली ५२२

घन आनद लाज तो रीझनि भीजै॥
मोह मैं भावरी है बुधि बावरी।

सुहि० ३७

४७—अचरज झर लाग्यौई दरसै। घनतरसै चातक रुचि बरसै।

प्री० पा० ५२

ज्यौ ज्यौ उत आनन पै आनंदसु ओप और त्यौं त्यौं इत चाहनिमैंचाह

बरसति है प्र० १३

४८—मति अति रीझि विचार बिकाई

यमु० य० ६

रीझि बिकाई निकाई पै रीझि थकी गति हेरत हेरत की गति ।
जीवन घूमरे नैन लखैं मति थौरी भई गति वारि कै मोमति

सुहि० ३४

४९—आखिन कहा दिखावौ मन बैठे रहो ।
निकसि गए तजि नेह प्रान पैठे रहो ॥

प्रेमपत्रिका १६

ऐसैं कहा कैसे घन आनंद बताइ दूरि
मन सिघासन बैठे सुरत महीप हौ ।

सुहि० ६४

तीसरा परिच्छेद

(भाषा, मुहावरे, लक्षणा तथा व्याकरण)

तीसरा परिच्छेद

भाषा

'नेही महा ब्रजभाषा प्रवीन।'
"भाषा प्रवीन सुछंद सदा रहै।'

(ब्रजनाथ)

आनंदघन जी के भाषा संबंधी विचारों से प्रतीत होता है कि वे काव्य के इस अंग के विषय में विशेष सचेष्ट थे। भाषा संबंधी उनके अपने निजी कुछ आदर्श हैं। जिनका उन्होंने अपनी रचनाओं में पालन किया है। आदर्श ये हैं।

१ कला की भाषा में एक प्रकार का आवरण रहता है। वह खुली नहीं होती। आनंदघन जी ने भाषा को वनिता जैसी लजीली बताया है, जो मौन का घूंघट डाले रहती है।—"उर मौन में मौन को घूंघट कै दुरि बैठि विराजति बात बनी।'

२ इसीलिए इसे बुद्धिमत्ता के साथ सुजान समझ सकते हैं। वह सर्व साधारण की समझ की वस्तु नहीं है।

"घन आनद बूझनि अंक बसै बिलसै रिझवार सुजान धनी।"

३ कला की भाषा का यदि स्वानुभूति से जन्म होगा तो उसका रूप दूसरे भाषा स्वरूपों से भिन्न होगा।

"अचिरज यहै औरै होत सुर लाग मैं"

४ श्रेष्ठ भाषा वही है जिसका उत्थान अनुभूति के कारण हुआ हो। शब्द वक्ता के श्वास के धागों का बुना हुआ वस्त्र है जिस पर उसी के अनुराग का रंग चढ़ा रहता है।

सूछम उसास गुन बुन्यौ ताहि रुरै छीन,
पौन पट रच्यौ पेखियत रंग राग मैं।

सुहि० ४८२

५ वाणी मनुष्यों में भ्राति भी पैदा करती है और सत्य का अवगम भी कराती है। यद्यपि सत्य वाणी से परे है फिर भी उसकी ओर सकेत वाणी द्वारा किया जाता है। अतः वाणी के यथार्थ रूप को जाने विना उसका उचित उपयोग नहीं किया जा सकता। यथार्थ रूप का परिचय जीवन के तत्व का वोध कर लेने तथा उसमें मस्त हो जाने से मिलता है। कोरा वाचनिक ज्ञान भी भाषा पर अधिकार करने के लिए पर्याप्त नहीं।

अच्छर मन कों छर बहुरि अच्छर ही भावै।
रूप अच्छरातीत ताहि अच्छरें बतावै॥
तत्व वोध बौरानि मैं अच्छर गति अच्छर लहै।

प्रकीर्णक ७१

इन आदर्शों से यह निष्कर्ष सरलता से निकल आता है कि आनदघन जी की दृष्टि में काव्य की भाषा का स्वरूप साहित्यिक है और वे मर्मज्ञों के लिए वाक्य रचना करते थे, सर्वसाधारण के लिए नहीं। दूसरे अनुभूति का भाषा के साथ नित्य सबध मानते थे। भाषा के गुण उनकी दृष्टि में अनुभूति से ही आते हैं।

इन आदर्शों की छाया में आनदघन जी की भाषा का परीक्षण किया जाए तो प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी काव्य भाषा के गुणों को आदर्श का रूप दे दिया है। उनकी रचना भक्ति सबधी हो चाहे लौकिक प्रेम सबधी उसकी भाषा सर्वत्र साहित्यिक है। इनके शब्द चुने हुए हैं। व्याकरण व्यवस्था का सघटन पूर्णरूप से वर्तमान है। रसानुकूल कोमलता तथा सरसता उत्तम कोटि की उसमें विद्यमान है। लक्षणाओं का योग उसे और अधिक प्रतिभावेद्य वनाता है। अतः वह साहित्यिक ही है पर कृत्रिम और निर्जीव नहीं है। मुहावरों के प्रचुर प्रयोग द्वारा वह सजीव है साथ ही व्यवहारिक भी। मुहावरों के प्रकारों की परीक्षा करने पर भी वे नागरिक सिद्ध होते हैं ग्रामीण मुहावरे नहीं हैं। वैसे मुहावरों तथा लोकोक्तियोंका जितना प्रयोग अशिक्षित जन समाज में होता है उतना शिक्षित में नहीं। जायसी ने जो मुहावरे अपनी भाषा में व्यवहृत किए हैं वे जनपदीय हैं। पर सूर और आनदघन के मुहावरे नागर हैं। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि व्रजभाषा के नागर तथा ग्रामीण रूपों में अधिक अतर नहीं होता था। अशिक्षित जन समाज की भाषा सपत्ति ही नगरों में व्यवहृत होती है। दूसरे

आनदघन जी को मुहावरों के प्रयोग की प्रेरणा फारसी साहित्य से मिली है। फलत. नागरता का इसके साथ योग होना स्वाभाविक था। इस तरह व्यावहारिकता, सजीवता और साहित्यिक उच्चता तीनों गुण इनकी भाषा मे सयुक्त हुए है।

जनपदीय शब्दावली का भी इन्होंने पर्याप्त प्रयोग किया है। उन्हे साहित्यिक भाषा मे मिला कर परिष्कृत कर लिया है और व्यावहारिक होने से उनकी जो विशेष अर्थद्योतन क्षमता है उसका सदुपयोग किया है। सोवर (प्रसूतिका गृह) टेहुले (शुभ अवसरों के अनुष्ठान), गरेंटी (पूरे भरे पात्र मे कुछ कम), वरहे (जगल), तल (पता या ज्ञान), सँजोखे (सध्या का अतिम भाग), लपेरि (लपेटकर), उजेना (उत्थापन करना) नाज (अन्न), न्यार (चारा), पैंछुर (पैर की आवाज), भरा (सब के सब), ओटपाय (उपद्रव) वर्ड़ी (रोक), इत्यादि शब्द जनपदीय हैं जिन का प्रयोग उन्हों ने किया।

इस तरह आनदघन जी की भाषा मे नागरिक साहित्यिकता, मुहावरों की व्यावहारिक सजीवता तथा व्याकरण व्यवस्था का ऐसा अपूर्व सयोग हुआ है कि इनके सिवाय उस समय के अन्य कवि की भाषा मे वह नहीं दृष्टि-गोचर होता।

बिहारी की भाषा भी साहित्यिक तथा व्यवस्थित तो है पर सजीव और लाक्षणिक वह नहीं है, जैसा कि आनदघन जी की भाषा है। उपर्युक्त विशेषताएँ इनकी भाषाविज्ञता का परिचय देती है। इसी से सबधित गुण लाक्षणिकता का है। हिन्दी तथा सस्कृत के लक्षण ग्रथों में लक्षणा और व्यजना की स्थापना, उसके गुण आदि की प्रशसा तो बहुत की गई है। उसके भेद उपभेद भी हजारों की सख्या तक पहुँच गए थे। पर लक्षणा का उपयोग प्राय. नहीं हुआ। भाषा अभिधाप्रधान ही बनी रही थी। जितने लाक्षणिक प्रयोग अलकारों की परिधि मे आ गए थे उतने ही कवियों ने व्यवहार मे लिए। आनदघन जी ने हिन्दी साहित्य मे लक्षणा शक्ति का प्रथमावतार किया है और वह उच्चकोटि का है। इनके से व्यक्तिगत सूक्ष्म भाव भेद और अतर्दशाएं अभिधाप्रधान भाषा द्वारा व्यक्त ही नहीं की जा सकती थी। इन्होंने भाषा की इस नवीन अद्भुत शक्ति का इसके लिए उपयोग किया। यह इनका नवीन दिशान्वेषण है। लक्षणा भाषा का बहुत बड़ा बल है। इसके सहारे थोड़े शब्दों की भाषा भी गहरी और सूक्ष्म अभिव्यजना

कर सकती है। आज कल हिन्दी भाषा की अर्थद्योतन क्षमता बढाने की समस्या जैसी विद्यमान हे उस संबध मे आनदघन जी दिशानिर्देशक हैं। यह सूझ भी भाषा के साधारण सिद्धांतों की मर्मज्ञता का परिचय देती है।[१]

इनकी भाषा विशुद्ध है। व्रजभाषा के ये कवि हैं। इनके समय में व्रज-भाषा का जैसा स्वरूप विद्यमान था, उसका समस्त अच्छाइयों के साथ उपयोग इन्होंने किया है। दूसरी भाषा के शब्दो का मिश्रण उसमें नहीं किया। आश्चर्य की बात यह हे कि पद पद पर फारसी से प्रेरणा लेनेवाले आनंदघन ने अपने भाषा क्षेत्र में फारसी उर्दू की खजूर वेरिया नहीं उगने दीं। इनके मित्र नागरीदास जी ने अपनी भाषा को फारसी की शब्दावली से पर्याप्त प्रभावित किया था। पर आनंदघन इससे सर्वथा अछूते रहे। केवल इश्कलता मे फारसी के शब्द व्यवहृत हुए हैं। वह छाया रचना सी प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त सभी अन्य रचना शुद्ध व्रजभाषा मे ही की हे। विहारी जैसे भाषा मर्मज्ञ भी जब फारसी के प्रभाव से न बच सके तब उसकी अनेकों अच्छाइयों को पचाकर हजम करने वाले आनदघन ने उसका बाहरी प्रभाव अपने काव्य मे नहीं आने दिया। यह कम महत्व को बात नहीं। फारसी ही नहीं सस्कृत के तत्सम शब्दो का प्रयोग भी इनके काव्य मे नहीं के बराबर हे। जो शब्द हजारों वर्षों के प्रयोग के अनन्तर भी अपने तत्सम रूप में ही रहे हैं जैसे तप योग, प्रान, मीन, कज, खजन, विष आदि, वे ही उन्होंने अक्षतरूप में लिखे हैं। शेष सब का तद्भव रूप ही व्यवहृत किया है। उच्चारण ध्वनि विकार आदि से वे व्रजभाषा के बन गए हैं। अगिलाई, उदेग, अथिर, निहकाम, (निष्काम) सुततर, दुखदाई, त्रसरेनि, (त्रसरेणु) अकह, वेदनि, सौनि (सुवर्ण) आदि शब्द इसी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। व्याकरण व्यवस्था विहारी की सी इनकी भाषा में है। शुक्ल जी का यह कथन कि विहारी और घनानद को मिला कर व्रजभाषा का समूचा व्याकरण तयार किया जा सकता है सत्य है। क्रिया और कारकों का रूप विकास, कृदन्त तद्धित विकास, वचन और लिंग के अनुसार शब्दों के परिवर्तन आदि सब व्रजभाषा के नियमों के अनुसार किए गए हैं। अठारहवीं शताब्दी में उर्दू फारसी के अन्तःपात होने से व्रजभाषा का जो रूप विकृत हुआ था, उसका परिचय रीतिकाल के अर्वाचीन कवियों की भाषा में मिलता है। उस समय

१—लक्षणा का विवरण सहित विमर्श आगे किया जावेगा।

आनदघन जी ने विशुद्ध तथा संयत व्रजभाषा में श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि कर भाषा का गौरव भी बढाया और उसकी विकृति की अनवस्था को रोकने का प्रयत्न किया। यह इनके व्रजभाषा प्रवीन होने की देन है।

इन्होंने अपनी स्वतंत्र प्रतिभा से कुछ नए शब्द भी बनाए हैं जैसे भकभूर मलोलेमई, भूतागति, दिनदानी आदि। अपने ढग से शब्दो के रूप विकास भी व्यवस्थित किए हैं—जैसे तत्पुरुष समास नामरूपों के समान किया रूपों मे भी किया है, अनचाहनि के समान 'अविलोकिवे' तथा 'ननिहारनि' आदि रूप बनाए हैं।

इसी प्रकार ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग की बात है। ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग कवि की भावुकता के परिचायक होते हैं। इनमे वाचक शक्ति कुछ की होती है कुछ की नहीं होती। पर अपनी ध्वनि द्वारा अर्थ का द्योतन सब करते हैं। इस तरह अभिधा के सकेत और ध्वनि की व्यजना से कहीं कहीं भाव की द्विगुण प्रतीति भी हो जाती है। इनका सर्जन भावुक प्रतिभा द्वारा होता है। आनंदघन जी ने अनेकों ध्वन्यात्मक शब्दो का प्रयोग किया है। बादलों के आकाश मे घिर आने का वर्णन महाप्राण अक्षरों के शब्दों द्वारा तथा वायु के सरसराते हुए स्वरूप का उसी के समान ध्वनिवाले शब्दो द्वारा निम्नलिखित सवैया मे किया है। शब्दो की ध्वनि मे ही बादल घिरते हुए और वायु सरसरासता हुआ सा लगता है।

> घूटे घटा घहुँघा घिरि ज्यों गहि काढे करेजो कलापिन कूकें।
> सीरी समीर शरीर दहै चहकै चपला चख लै करि ऊकें॥

सुहि० ८४

रास में खटतार तथा मटकने की ध्वनि के शब्दो का प्रयोग निम्नलिखित पद मे मिलता है।

> चटक कठतारनि की अति नीकी लटक सों नाचे मटक भरयों मोहन।
> कर चरन न्याम,अभिनय प्रकाश, मुख सुख विलास,मन टरसै घुघरारी भौहन।

आ० घ० पदा० ६१

वियोगाग्नि मे तचे प्राणी का चित्र यह है।

> "अंतर आंच उसास तचै अति
>
> अंग उसोंजे उढेग की आवस

ज्यौं कहलाय मसोसनि ऊमस
क्यौं हू कहूँ सुधरै नहि थ्यावस"

सुहि० १७०

हहरि, घवोइ, घूमरि, घोलैं, भरभूर, लहाछेह, चोप, रसमसे, उभिलत झुलनि, मोमति, चहकि, चोज, चुहल, गुरभ, गुरभनि, आदि अनेको शब्द इसी प्रकार के हैं जो कवि ने अपने काव्य मे प्रयुक्त किए हैं। इन तरह मुहावरे लक्षणा नवीन शब्दो तथा रूपो का निर्माण, ध्वन्यात्मक शब्दो का रसानुकूल प्रयोग, आदि गुणो से आनदघन जी को 'भापा प्रवीन,' एव व्रजभापा के शुद्ध सयत, सरस, कोमल रूप के प्रयोक्ता होने के कारण 'व्रजभापा प्रवीन' कहना सर्वथा उचित है। इनके विपय मे व्रजनाथ की ये दोनो उक्तिया मार्मिक और सत्य हैं।

इनके भापा पर पूर्ण अधिकार होने के प्रमाणक अन्य भी प्रयोग हैं। शैली के परिच्छेद मे यह बताया गया है कि इन्होने चार प्रकार की भापा का प्रयोग किया है। वक्रसमस्त तथा वक्र असमस्त, ऋजु समस्त तथा ऋजु असमस्त। शब्दावली सर्वत्र एक सी ही रहती है। उनके द्वारा वाक्य रचना प्रतिपाद्य विपय के भेद के कारण भिन्न प्रकार की होगई है। कवित्त, सवैयो तथा पदावली मे कुछ रचनाएँ वक्र भापा मे हैं कुछ ऋजु मे। कवि को चमत्कार की अभिव्यक्ति जहा अभीष्ट होती है वहा लक्षणा द्वारा वक्र वाक्यो की रचना करता है। जहा वह अनुभूति के मार्मिक रूप व्यक्त करना चाहता है, वहा ऋजु वाक्यों का व्यवहार करता है। भाव जहा घने और गभीर हैं वहा समस्त वाक्य आए हैं। अन्यत्र असमस्त। इनका सोदाहरण विस्तृत विवेचन शैली के प्रसग मे किया गया है। वाक्य रचना के चार भेदो में कवि का भापा पर पूर्ण अधिकार व्यक्त होता है। वक्र ढग की वाक्य रचना के विपय में इतना विशेप विचारणीय होता है कि उनमे दुरूहता नहीं है। कवि की प्रतिपादन शैली से एक बार परिचित होजाने पर भाव की ग.से सरलता से खुल जाती हैं। इसका कारण यह है कि घनानद जी का चिंतन बड़ा स्पष्ट और स्वानुभूतिमय है। जो बात वह कहना चाहते हैं उसका कण कण उनके हृदय का देखा हुआ है। परतः प्रात वस्तु उस में कुछ नहीं है। क्लिष्टता जितनी होती है वह भावो की सूक्ष्मता की या गभीरता की होती है। अभिव्यक्ति पूर्ण एवं स्पष्ट है। अतः भापा का जहा तक सबध है कवि दुरूह नहीं

कहा जा सकता । नीचे एक सवैया ऊपर के प्रमाण के रूप में उपस्थित किया जाता है ।

> हाय विसासी सनेह सों रूखे रुखाई सो हूँ चिकने अति सोहौ ।
> आपुनपौ अरु आप हु तें करि हाते हतौ घन आनद को हौ ।
> कौन घरी बिछुरे हौ सुजान जु एक घरी मन तें न बिछोहौ ।
> मोह की बात तिहारी असूझ पै मो हिय कौं तौ अमोहियौ मोहौ ।

इनमे वाक्य सरल नहीं है पर वक्रता या सरलता भावन्न है । इसकी शब्दावली और वाक्य-रचना विलक्षण है । बहुत से कवित्त सवैये घनानद का नाम न होने पर भी इनकी रचना संग्रह में संमिलित हैं । इनमें इनकी शब्दावली तथा वाक्य रचना स्पष्ट प्रतीत हो जाती है । विहारी के दोहों पर उनके व्यक्तित्व की छाप की जो बात कही जाती है वह व्यभिचरित भी हो सकती है । घन आनद के कवित्त सवैयों मे किसी कवि का पद्य नहीं मिलाया जा सकता । भाषा मे इतनी वैयक्तिकता इन्होंने रखी है ।

ऊपर जो चार प्रकार की भाषा के व्यवहार की बात कही गई है उन पर पहले सदेह प्रकट किया जाता था, कि स्यात आनंदघन नाम के दो कवि हैं । पर रचना के प्रसग में अनेक समानताएँ दिखा कर स्पष्ट प्रमाणित किया गया है कि कवि एक ही है, वह अपनी मनोवृत्ति के अनुसार भाषाशैली का परिवर्तन कर लेता है । इतना ही नहीं वह ब्रजभाषा के अतिरिक्त पंजाबी राजस्थानी तथा अवधी भाषा का भी व्यवहर्ता है । इन विभिन्न भाषाओं के पद्यो में कवित्त सवैये या पदों के भावों का ही रूपान्तरण है । इतना साम्य दो कवियों की रचनाओं मे नहीं हो सकता । डा० श्री केशरी नारायण शुक्ल ने अपने घनआनंद विषय के लेख मे[1] यह सभावना प्रकट की है कि पंजाबी भाषा का व्यवहर्ता आनंदघन नानक जी का शिष्य आनदघन है जिसने जपजी की टीका लिखी है । पर इस तरह अवधी और राजस्थानी भाषाओं के कारण उनका भी कोई पृथक कवि कल्पित करना पड़ेगा । अत. जिस प्रकार भाव साम्य के आधार पर इन भाषाओं की रचनाओं को प्रस्तुत आनदघन जी की ही माना जाता है । उसी प्रकार पंजाबी की रचनाओं को भी इन्हीं की मानना चाहिए । नागरीदास जी ने भी इस प्रकार विविध भाषाओं

1—श्री सम्पूर्णानन्द अभिनन्दन ग्रन्थ, ना० प्र० सभा काशी ।

का प्रयोग का कौतुक दिखाया है। वही कौतुक आनदघन जी की विविध भाषाओं के प्रयोग मे लक्षित होता है। व्रजनाथ ने स्यात इसलिए भी इन्हे भाषा प्रवीन कहा हो। पजाबी आदि भाषा के प्रयोग मे कोई साहित्यिक सूक्ष्मता तो लक्षित नहीं होती। इससे यही अनुमान करना पडेगा कि ये भाषाएँ किसी कौतुकी ने उनका विशेषज्ञ न होने पर भी काव्य मे प्रयुक्त की हैं।

भाषा के परिवर्तन मे नाम से सज्ञा तथा सज्ञा से नाम का विकास बडे महत्व का होता है। इसके द्वारा वस्तु वाचक शब्द भाववाचक और भाव-वाचक शब्द वस्तुवाचक बन जाते हैं। जिनका भाषा पर पूर्ण अधिकार होता है, वे इस प्रकार के परिवर्तन द्वारा अपनी आवश्यकता पूरी करते हैं। आनदघन जी ने धातुओ से विशेषण तथा सज्ञाएँ व्रजभाषा की स्वभाव सीमा मे जिस प्रकार बनाई हैं उसी प्रकार सज्ञा या विशेषणो से क्रियायें भी बनाकर प्रयुक्त की हैं। सस्कृत व्याकरण मे इस परिवर्तन को नामधातु कहा जाता है। इनकी रचनाओं मे 'अधिक' से 'अधिकाति', 'सामूहें' से 'समुहाति, लज्जा से 'लजाति', पीर से पीरो आदि क्रिया वाचक शब्द प्रयुक्त किए हैं। इसी प्रकार इच्छार्थक प्रक्रिया में 'देखना' से 'दिखास', आदि शब्द एव वीप्सार्थ मे चितेना से 'चितार' अर्थात् बार बार देखना आदि शब्द व्यवहृत किए हैं। ऐसे शब्द सस्कृत जैसी समस्त भाषाओं मे अधिक मात्रा में व्यवहृत होते थे। पर हिंदी मे भी इस प्रकार के कुछ शब्द यत्र तत्र बोल चाल मे विकीर्ण पडे हैं। भाषा तत्त्ववेत्ता उनका मूल्याकन कर साहित्य मे व्यवहार करते हैं। साधारण शब्दों की अपेक्षा प्रक्रिया शब्द द्विगुण अर्थ देते हैं। 'दिखास' का अर्थ देखने की इच्छा होता है। स्वाभाविक है कि अर्थद्योतन की दृष्टि से ये शब्द औरों से अच्छे हैं।

वाक्य रचना में निपातो का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके प्रयोग द्वारा बडे सूक्ष्मभाव व्यक्त किए जा सकते हैं। आनदघन जी ने ई (ही) ऐ इहे (एव) आदि व्रजभाषा के निपातों का अर्थ व्यंजना के लिए प्रयोग किया है। नीचे लिखे काकु वाक्य के सवैये में 'ई' की अर्थ व्यंजना इसी श्रेणी की है।

रूप सुधारस प्यास भरी नित ही असुवां ढरिबोई करैंगी।
पावन साध असाध मई इहि जीवनि यौं मरिबोई करैंगी।

हाय महादुख है सुखदैन विचारो हियैं भरिवोई करैगी।
क्यों आनंदघन मीत सुजान कहा अँखियां यहिचोई करैगी।

सुहि० ४५८

यहा 'हरिवोई' आदि मे 'ई' भविष्य के सयोग तुलकी निराशा के आक्षेप से प्रिय की कठोरता की व्यंजना करता है। इसी प्रकार "प्रान पपीहा पनैई पढ़ें" तथा "चोरेई लेति लुनाइयै की लछिमी" आदि वाक्यों में "ई" निपात विशेष अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है।

"आरतिवंत पपीहन कौं घनआनंद जू पहचानौं कहा तुम"

तथा—

"हूत याट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनो दीजियै जू"

आदि वाक्यों मे 'जू पद अपराधी प्रिय के प्रति सत्कार का वाचक होकर मधुर आक्षेप की व्यंजना करता है। इस प्रकार की एक पदद्योत्य व्यंजनाओं की सिद्ध के लिये निपातो का घनानद ने प्रचुर प्रयोग किया है। इनका काव्य में बड़ा महत्व माना जाता है।

इसी प्रकार कर्तृ वाच्य तथा कर्म वाच्य वाक्यो के भेद का भी अर्थ व्यंजना मे उपयोग किया जा सकता है। कर्तृ वाच्य वाक्यो मे कर्ता, कर्म वाच्य में कर्म तथा भाव वाच्य वाक्यों में व्यापार प्रधान रूप से प्रतीत होते हैं। इन प्रधानताओ द्वारा भाव की सूक्ष्मताएँ व्यक्त की जाती हैं। भाव के कुछ कण इतने कोमल होते हैं कि इनको वाचक शब्दो द्वारा कहने का प्रयत्न किया जाए तो ओस कणों के समान बिखर जाते हैं। इनकी अभि-व्यक्ति अभिधाद्वारा न होकर व्यजना द्वारा ही हो सकती है। ऊपर बताई गई निपात व्यजनाएं ऐसे कोमल कार्य का साधन ठीक करती हैं। आनदघन जा की वाच्यरूपो द्वारा अर्थ व्यजना नीचे लिखे वाक्यों मे देखी जा सा सकती है।

१—यौं घनआनंद रैनिदिना नहि बीतत जानियैं कैसे बिताऊं।

सुहि० २३३

इस वाक्य मे कर्म वाच्य की अपेक्षा में कर्तृवाच्य वाक्य द्वारा दिन बिताने की क्रिया का बरबस करना व्यंजित होता है।

२—आखि बिसासिनि आसगही न तजै इतने पर बाट चितैबो।

वही ४६१

में चितैबो व्यापार की प्रधानता व्यंजित है जो सब कुछ तज देने पर भी नहीं तजी जाती।

३—जीवन मरन जीव मीच बिना बन्यौ आय।

हाय कौन विधि रची नेही की रहनि है।

वही १९६

में जीवन, मरन तथा रहनि क्रियार्थक संज्ञाओं के प्रयोग से व्यापार को प्रमुखता दी गई है। इस प्रकार भाषा के प्रत्येक संभव उपाय द्वारा कवि ने अर्थ व्यंजना का प्रयत्न किया है। इस से उनकी भाषा प्रवीणता का परिचय मिलता है।

इनकी भाषा रसानुकूल भी अधिक से अधिक है। कवि का रस शृंगार ही है। उसके लिए जिस प्रकार की कोमलकान्त भाषा का व्यवहार होना चाहिए वैसा ही इन्होंने किया है। पद्य के पद्य पढ़ जाने पर भी कठोर रसप्रतिकूल शब्द कर्ण गोचर नहीं होता। व्रजभाषा को जो शृंगार और भाषा बताया जाता है उसका स्वरूप और साक्ष्य आनदघन जी की भाषा में सब से अच्छा मिलता है। शृंगार और भक्ति का एक एक पद्य इसके उदाहरण में दिया जाता है।

शृंगार—

रस आरस सोय उठी कछु सोय लगी लसैं पीक पगी पलकैं।
घन आनद ओप बढ़ी कछु औरै सुफैलि फबी सुथरी अलकैं॥
अगराति जम्हाति लजाति लखैं अंग अंग अनंग दिपै झलकैं।
अधरानि में आधियै बात धरैं लड़कानि की आनि परैं छलकैं॥

भक्ति—

हारे उपाय कहा करौं हाय भरौं किहि भाय मसोस यौं मारै।
रोवनि आसूं न नैनि देखैरु मौन में व्याकुल प्रान पुकारै॥
ऐसी दसा जग छायो अंधेर बिना हित मूरति कौन सम्हारै।
है तिन ही की कृपा घनआनद हाथ गहै पिय पायनि डारै।

शब्द मैत्री का व्यवहार भी आनदघन जी का अनुकरणीय है। वह पद्यों में न तो भाषाप्रवाह का अवरोध उत्पन्न करता है न अर्थ की स्पष्टता को झमेले में डालता है, साथ ही ऐसे स्थलों पर रसानुकूल कोमलता अक्षुण्ण बनी रहती है। शब्द मैत्री का व्यवहार रीतिकाल के कवियों में इतना बढ गया था कि उसकी

सिद्धि के लिए अर्थ की स्पष्टता, भाषा की स्वच्छन्दता तथा रसानुकूलता आदि गुण लुप्त हो जाते थे। अनुप्रास ही अनुप्रास रह जाता था। वह बात इनकी भाषा में नहीं है।

यथा—

सोए हैं अगनि अंग समोए सुमोए अनंग के अंग निरयौं करि।
केलि कला रस आरस आसव पान छके घनआनंद यौं करि।
पै मनसा मधि रागत पागत लागत अंकनि जागत ज्यौं करि।
ऐसे सुजान विलास निधान हौ सोएं जगे कहि क्यौंरियै क्यौं करि।

इस पद्य मे 'सोए' और 'मोए' 'अंग' 'अनंग' और 'रंग' 'केलि' और 'कला' 'रस' आरस और 'आसव' 'मनसा' और 'मधि' 'पागत' 'लागत' और 'जागत' सुजान तथा निधान शब्दों में अनुप्रास का योग है। पर पद्य में प्रेमी और प्रेमिका की सुप्त दशा का चित्र जैसा कवि देना चाहता था वह ज्यौं का त्यौं सजीव उतरा है। शब्द मैत्री के लिए अनावश्यक कोई शब्द नहीं आया और नहीं कुछ अनुक्त छुटा है। अनुप्रास पर अत्यधिक आग्रह भी कवि को नहीं है। ऐसे पद्यों की संख्या कम नहीं है, जिनमें अनुप्रासादिशब्द-सज्जा का तनिक भी ध्यान इन्होंने नहीं किया। इनका ध्येय भाव निवेदन है। उसकी क्षति कहीं नहीं होने दी। अनुप्रासहीन भाषा में भाव निवेदन नीचे लिखे सवैया मे देखने को मिलता है।

जौरि कै कोरिक प्राननि भावते संगळियें अँखियानि में आवत।
भीजै कटाछन सों घनआनंद छाय महारस कों बरसावत।
ओट भएे फिर या जियकी गति जानत जीवनिहै जु जगावत।
मीत सुजान अनूठिये रीति जिवाय कै मारत मारि जिवावत।

भाषा यदि अर्थं गर्भित होती है तो उसकी प्रवाह शीलता, सरलता, कोमलता आदि न्यून हो जाती हैं। सार्थक शब्द चुने हुए ही हो सकते हैं। उनकी वाक्य रचना भी मुख सुख या ध्वनिसाम्य की दृष्टि से नहीं की जा सकती, अर्थ की दृष्टि से की जाती है। फलस्वरूप भाषा को प्रवाहशील बनाने में अर्थगर्भितता कम हो जाती है। अर्थगर्भितता की सिद्धि करने में प्रवाह लुप्त होजाता है। आनदघन जी इस नियम के अपवाद हैं। उन्होंने इन दोनों गुणों का संयोग अपनी भाषा मे किया है। सवैया तथा दोहे चौपाइयों मे

अर्थगर्भितता के साथ सरस प्रवाह के सर्वत्र दर्शन होते हैं यद्यपि कवित्तों तथा गीतों में इसकी स्फूर्जना उतनी नहीं है। पर सवैयों मे सरल और कोमल भापा प्रवाह स्पष्ट लक्षित होता है। प्रबध रचनाओं मे वियोग वेलि और दान घटा इस दृष्टि से विशेप उल्लेखनीय हैं। उनकी भापा में जितना अर्थ गाभीर्य है उतना ही प्रवाह भी है। उदाहरण के लिए नीचे लिखा सवैया उद्धृत किया जाता है।

सूने परे दृग मौन सुजान जे ते पहुरयौ कब आय बसायहौ।
सोचनि ही मुरभयौ पिय जो हिय सो सुख मींचि उदेग नसायहौ।
हाय दई घनआनद है करि कौ लौं वियोग कै ताप नसायहौ।
एहो हसी जिन जानौ इहा हमें र्‌वाय कहौ अब काहि हसायहौ॥
दिखाई दीजियै हाहा अमोही, सनेही है रुखाई क्यों बमोही।
तुम्हें बिन सावरे ये नेन सूने, हिये मैं ले दिये विरहा अझूने।
उजारौ जौ हमें काको बसैहौ, हमें यौं र्‌वाय के औरें हमै हौ।

लक्षणा

१ कारण

लक्षणा का जन्म भापा के इतिहास मे क्यो हुआ इस विपय मे महाकवि 'शैली' के विचार महत्वपूर्ण हैं। उनका कहना है कि यह कल्पना का वाहन है। कल्पना जाति की किसी विशेप आयु में नहीं उत्पन्न होती, वरन् वह जन्म की सहचरी है। मानव को जब से बुद्धि मिली है तभी से उसकी क्रिया कल्पना भी उसे मिली है। पर ससार के शब्द कल्पना को व्यक्त करने के लिए नही बनते। कल्पना व्यक्तिगत सपत्ति है। वह व्यक्ति के हिसाब से न्यूनाधिक किंवा विभिन्न रूप की होती है। शब्दों का सर्जन और भापा का निर्माण सामूहिक प्रयत्नों के लिए होता है। इसीलिए हमारे शब्द अधिकतर प्रमेय वस्तुओं जैसे वृक्ष, नदी, पर्वत, गाय आदि के सकेत पर है। भाववाचक शब्द जाति के विचारों के समृद्धिकाल में, जब कि व्याकरण के द्वारा भापा के बालों की खाल निकाली जाने लगती है, प्रत्ययादि के परिवर्धन द्वारा बनाए जाते हैं। वे भी सख्या में बहुत कम होते हैं और भावों की एक सामान्य दशा के रूप के परिचायक होते हैं। उदाहरण के लिए वेदना शब्द तो एक है पर व्यक्तिगत रूप से वेदना के अनत भेद होते हैं। इन बारीकियों, व्यक्तिगत अनुभूतियों के लिए शब्दों की सदा से कमी रही है। जिस

अनुपात से नूतन भावों की उत्पत्ति होती गई उस अनुपात से उनके प्रत्यायक शब्दों की सृष्टि न हो सकी और उन्हीं पुराने शब्दो की सगति बैठाकर रूपक के रूप में उनका व्यवहार कर उनसे नए अर्थ के उद्देश्य की सिद्धि की गई। भावो की अभिव्यजना के समय कवि अनुभव करता है कि भाव का ठीक ठीक द्योतन करने वाला शब्द तो नहीं है पर ऐसे शब्द अवश्य विद्यमान हैं जो हैं तो वस्तु विशेष मे सकेतित ही पर जिनमे अभिद्योत्य भाव के गुण वर्तमान हैं। वह उसी वस्तु विशेष के वाचक शब्द को लेकर उसे भाव का वाचक या लक्षक बना लेता है।[1] प्रिय के रूप पर रीझ जाने से प्रेमी के हृदय में जो एक विशेष प्रकार की अशान्ति उत्पन्न हुई वह वही जानता था। उसके लिए नियत सकेतवाला जब कोई शब्द उसे नहीं मिला तो उसने 'विलोना' क्रिया का उसके लिए प्रयोग किया यद्यपि विलोना दही का होता है। "रीझ विलोएई डारति है हिय"[2]। इसी प्रकार हल्के वस्त्रों में से बाहर दिखाई देने वाली आह्लादकारिणी सुजान की अंग दीप्ति का कवि "बरसति अग रग माधुरी बसन छनि" वाक्य द्वारा अभिव्यजन करता है। "अग अग आली छवि छलक्यौ करति है" "लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी" आदि वाक्य उपर्युक्त आवश्यकता की ही सृष्टि हैं। इस प्रकार शब्दो की परस्पर मे कलम लग जाने से बडे मधुर और अपूर्व फल आते हैं। इसी को सस्कृत के आचार्यो न आरोप नाम से कहा है जो लक्षणा का स्वरूप लक्षण है।[3]

इसलिए शेली उन लोगो से सहमत नहीं है जो कहते हैं कि भाषा की आढ्य दशा में ही काव्य की सृष्टि हो सकती है। उनका कहना है कि समाज की शैशवावस्था में भाषा स्वयं ही काव्य है। अत. वे लोग भ्रम में है जो काव्य की स्थिति एक विशेष युग मे ही समझते हैं।[4] समाज की शैशवावस्था मे काव्यमय भाषा के होने का सबसे उत्तम निदर्शन ऋग्वेद की भाषा है। स्वर्गलोक का वर्णन करता हुआ ऋग्वेद का ऋषि कहता है कि "हम उन स्थानो पर जाने की कामना करते हैं जहाँ ऊ चे और बड़ी सींगों वाली गाएँ जाती

---

१ रोमाटिक साहित्य शास्त्र महाकवि शेली प्रकरण।

२ सुहि० १७५

३ लक्षणारोपिता क्रिया। काव्य प्रकाश

४ डा० देवराज उपाध्याय रोमाटिक साहित्य शास्त्र पृ० ८८, ८९

है।"[1] यहाँ गायें ऊर्ध्व गामिनी सूर्य किरणे हैं जो ऊपर को सींग कर भागती हुई गायो जैसी ऋषि को प्रतीत हुईं। इसी प्रकार उषा का वर्णन किया गया है।

"जिसका बछड़ा चमकीला है। वह स्वयं भी चमकीली है। उसके लिए कृष्ण रात्रि ने स्थान खाली कर दिए हैं। वे दोनो समान रूप की बहन हैं। अमृत हैं। एक दूसरे के अनुगत हैं, और स्वर्ग से आकाश मे घूमती हैं"[2] यहाँ चमकीला बछड़ा सूर्य है। रात्रि और उषा को बहन कहा गया है उन्हे अमृत तथा एक दूसरे की अनुवर्तिनी भी बताया गया है। यह सब लक्षणा के श्रेष्ठ रूप हैं।

इस तरह लक्षणा भाषा की वह अक्षय शक्ति निधि है जो उसकी आढ्य दशा मे कम हो जाती है और प्रारभ की दीन हीन अवस्था मे अधिक से अधिक बढती है। इसके रहते भाषा मे किसी प्रकार का सामार्थ्याभाव नहीं भासित होता।/

२—शास्त्रीय विवेचन

ऊपर बताया गया है कि जब एक शब्द मे कोई भाव या स्थिति का पूर्ण अभिव्यजन नहीं हो सकता तो कवि दूसरे शब्दो का प्रयोग करता है। वह प्रयुक्त शब्द प्रकृत में सगत नहीं होता। "चिकानि की बानि पै आनि बखेरी" में बखेरना व्यापार का आन के साथ सबध असगत है। इसे शास्त्रों में अनुपपत्ति कहा है। वह कभी अन्वय की होती है जैसे इसी वाक्य में और कभी तात्पर्य की होती है। दूसरे प्रकार के स्थलो मे अन्वय तो ठीक होजाता है पर वक्ता का तात्पर्य ठीक नहीं बैठता। किसी निर्दय साहूकार से ऋणी की यह उक्ति कि 'आपने बड़ा अच्छा किया। मेरी जमीन तो ले ही ली थी मकान भी ले लिया।" दूसरे प्रकार की है[3]। इसमें तात्पर्य की अनुपपत्ति

---

१ ऋग्वेद १, १५४ ६ ता वा वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिश्रृगा अयास।

२ ऋग्वेद १, ११३ २

रुशद्वत्सा रुशतीश्वेत्यागादारैगु कृष्णा सदनान्यस्या
समान बन्धू अमृते अनूची द्यावा वर्ण चरत आमिनाने

ऋ० वेद

३—मिलाइये 'झूठकी सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ।
तामे गुन गन घन आनद कहा गनै।'

है। तात्पर्य ही वाक्यों में मुख्य होता है। अतः मुख्यार्थ बाधादि जो तीन हेतु लक्षणा के लिए आवश्यक माने जाते हैं वे सार्वत्रिक नहीं हैं। तात्पर्य पर विशेष दृष्टि रखने वाले वैयाकरण इसलिए लक्षणा नहीं मानते। उनका कहना है कि मुख्यार्थ बाधादि के विना भी विपरीत लक्षणा के स्थल में तात्पर्य बदलना पड़ता है। अत यह मानना चाहिए कि शब्दों की अर्थद्योतन शक्ति सीमित तथा अपरिवर्तनीय नहीं होती। प्रसग के अनुसार वह वढ या परिवर्तित होजाती है। जिसे लक्षणा मानने वाले लक्ष्यार्थ कहते हैं वह वाच्यार्थ के ही क्रोड में आजाता है। लक्षणा की आवश्यकता नैयायिक अधिक समझते हैं। उसका हेतु उनका अतितार्किक स्वभाव है।

शब्दों की अभिधाशक्ति में किस प्रकार शनैः शनैः परिवर्तन आ जाते हैं—इसका इतिहास स्वय लक्षणा विवरण ही उपस्थित करता है। आचार्य मम्मट ने "यह व्यक्ति अपने कार्य में कुशल है"—इस वाक्य में लक्षणा मानी है। विश्वनाथ ने यह कह कर इसका खडन किया है कि कुशल शब्द का चतुर वाच्यार्थ ही है। यहा लक्षणा मानने की आवश्यकता नहीं। मम्मट कुशल शब्द का वाच्यार्थ कुशोंका लानेवाला (कुश-ल) समझते थे। विश्वनाथ ने अपनी मान्यता में यह उक्ति दी है कि शब्दों का प्रवृत्ति निमित्त कुछ और होता है तथा व्युत्पत्तिनिमित्त कुछ और।[1] पर वास्तव में व्युत्पत्तिनिमित्त (योगार्थ) ही पहले पहल शब्द का वाच्यार्थ या प्रवृत्ति निमित्त होता है। यदि ऐसा न होता तो वह अर्थ ही न कहलाता। जिस शब्दार्थ सबध का व्यवहार नहीं है वह सबंध भी नहीं माना जा सकता। जब कोई शब्द अपने पहले अर्थ से सबंधित दूसरे किसी अर्थ में प्रयुक्त होने लगता है तो साधारण लोग उसी को लक्षणा कहते हैं। पहले वह लक्षणा प्रयोजनवती होती है। समयान्तर में व्यवहाराभ्यास के कारण वह प्रसिद्ध हो जाती है। प्रयोजन का भान मद पड़ जाता है। यह 'रूढ लक्षणा' है। तीसरे विकासक्रम मे लक्षणा की भी अनुभूति नहीं होती। वह शब्द लक्ष्यार्थ का रुढिवाचक वन जाता है। पशु, कुशल, मृग, महाशय, गुरु आदि शब्द इसी अर्थ-परिवर्तन के इतिहास को वताते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में वाग्देवतावतार मम्मट का 'कुशल' शब्द में लक्षणा मानना तथा १४ वीं

१—अन्यद्धि शब्दाना प्रवृत्तिनिमित्त अन्यच्च्युत्पत्तिनिमित्तम् साहित्य दर्पण—द्वितीय परिच्छेद।

शताब्दी के अंत में साहित्यिक विश्वनाथ का चतुर अर्थ को वाच्यार्थ कहना दोनों ही ठीक हैं। शब्दार्थ संबंध के विकास क्रम के द्योतक दोनों पक्ष हैं। विवाद केवल शब्द शक्ति के परिवर्तन सिद्धान्त को न मानने से खड़ा हुआ था। समय का अंतर इसका कारण था। रुढ़िमूल तथा प्रयोजनवती लक्षणाओं के भेद भी, इस प्रकार, शब्द के विकास क्रम के ही भेद हैं। लक्षणा के मूल स्वभाव मे कोई अन्तर नहीं होता। दोनों एक ही प्रकार की लक्षणाएँ होती हैं। रुढ़ि मूला में प्रयोजन का मान व्यवहाराभ्यास से घिस कर मदहो जाता है। सर्वथा लोप फिर भी नहीं होता। "कलिंग साहसी देश है।" इसमे भी 'समस्तता' की प्रतीति प्रयोजन है जो कलिंग वासी कहने से नहीं सिद्ध होती। रुढ़िमूला लक्षणाओं मे ही नहीं मुहावरो मे भी, जो रुढ़ि लक्षणाओं के भी घिसे रूप हैं, प्रयोजन की प्रतीती होती है। रात बीतती है न कह कर "रात भीजती है' कहने से रात के चौथे पहर में ओस की सजलता तथा आर्द्रता की धीमी प्रतीति होती है। तभी आनदघन "जीव सूक्यौ जाय ज्यो ज्यो भीजति सरवरी' मे विरोध की व्यजना करते हैं।

शास्त्रकारों ने लक्षणा को जघन्यवृत्ति माना है। इसके समझाने और सगति बिठाने मे बुद्धि को परिश्रम करना पड़ता है। यदि उसके प्रयोग में कोई विशेष फल न हो तो यह कष्ट प्रयास करणीय ही न रहे। इसलिए अनुभव यही बताता है कि प्रत्येक लाक्षणिक प्रयोग मे चाहे वह रुढ हो या सप्रयोजन, प्रयोजन अवश्य रहता है। फलतः रुढा और प्रयोजनवती भेद व्यग्यार्थ की मदता तथा स्पष्ट प्रतीति के कारण होते हैं। उसकी विद्यमानता तथा अविद्यमानता के कारण नहीं। वैयाकरणो ने शब्दार्थ सबंध के इस परिवर्तमान-स्वरूप को पहचान कर लक्षणा वृत्ति को नहीं माना वे लोग केवल अभिधा और व्यजना दो वृत्तियाँ मानते हैं। अभिधा का वाच्यार्थ दो प्रकार का होता है प्रसिद्ध तथा अप्रसिद्ध। दूसरे लोग जिसे लक्ष्यार्थ कहते हैं वह वैयाकरणों के यहाँ अप्रसिद्ध वाच्य अर्थ है।

व्यजना वृत्ति को स्वीकार करने का कारण यह है कि उसके द्वारा ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जिसका शब्द से सबध नहीं रहता। वाक्यगत प्रसग के बल से उसका भान होता है। अभिधा वृत्ति सबधित मात्र अर्थ का प्रत्यायन करा सकती है असबधित अर्थ का नहीं। लक्षणा के द्वारा

जिस अर्थ की उपस्थिति होती है वह संबधित ही होता है।[1] अतः अभिधा लक्ष्यार्थ की प्रतीति तो करा सकती है व्यंग्यार्थ नहीं। व्यंजक वाक्यों में लक्ष्यार्थ केवल तर्क की सगति करने के लिए आता है। अन्यथा प्रयोजन तो व्यंग्यार्थ होता है। इसलिए उसे मानने या न मानने से कोई अतर नही पड़ता।

व्यग्यार्थ की सिद्धि भी लक्षणा में किस प्रकार होती है इस पर विचार होना चाहिए। क्या व्यंग्यार्थ ऐसी कोई वस्तु है जिसकी पहले कोई सत्ता न थी. व्यजक वाक्य में एक विशेष प्रकार के प्रसग से घटित हो जाने से उसकी अकस्मात् उत्पत्ति हो गई या उसका कोई रूप या रुपबीज पहले से वाक्य में वर्तमान रहता है? इस के उत्तर मे यही कहा जाएगा कि व्यग्यार्थ की जिस रूप में व्यजक वाक्य द्वारा प्रतीति होती है वह उस रूप में पूर्व सिद्ध नहीं है। नहीं तो वाच्यार्थ हो जाता। सर्वथा अमूल प्रतीति भी उसकी नहीं होती। उसके कुछ बीज वाक्य के शक्यार्थ में निहित रहते हैं! लक्षक वाक्यों में वाच्य अर्थ का भी सर्वथा विनाश नहीं होता। उसकी प्रतीति लक्ष्यार्थ के साथ साथ होती रहती है। यद्यपि वह स्फुट नहीं होती। उपादान लक्षणाओं में तो वाच्यार्थ का भान सब मानते ही हैं। लक्षण लक्षणाओं मे भी वह लुप्त नही होती। "गंगा में झोंपडा है" वाक्य को प्रयोजनवती लक्षण लक्षणा का भेद माना जाता है। अर्थात् यहा वाच्यार्थ का भान नही होता यह इसका साराश सिद्ध होता है। पर शीतलता तथा पावनता की प्रतीति जो इस लक्षणा का प्रयोजन है वह गगा के वाच्यार्थ प्रवाह का ही गुण है। इसीलिए तो "गगा के किनारे झोंपड़ा है' न कह कर "गगा में झोंपड़ा है"—कहा जाता है। वास्तव में सभी प्रकार की लक्षणाओं मे वाच्यार्थ की गध बनी रहती है। उससे मिलकर ही लक्ष्यार्थ व्यग्यार्थ की उपस्थिति करता है। "मनै ढरकौंही बानि दै", "लाजनि लपेटी चित," "लड़-कानि की आनपरी छलके," "नैननि बोरति रूप के भौंरे," "मानस को बन है जग," 'प्रान धरे मुरझैं," आदि आनदघन जी लक्ष्यक वाक्यों में 'ढरकौंही', 'लपेटी', 'छलकैं', 'बोहति', 'मुरझैं' आदि लक्षक शब्दो द्वारा जो अनुभूति

१—नैयायिकों ने सबध को ही लक्षणा माना है 'शक्य सबधी लक्षणा' उनका सिद्धात है। देखिए विश्वनाथ पचानन की न्याय सिद्धान मुक्तावली—शब्द प्रकरण।

की एक दशा की ओर संकेत करते हैं वह वाक्यार्थ के आधार पर ही। मुरझाना शब्द मुरझाई कलियों की सी प्राणों की स्थिति का द्योतन वाच्यार्थ द्वारा ही करता है। इस प्रकार व्यंग्यार्थ मे वाच्यार्थ का बड़ा योग रहता है। महाकवि देव ने जो अभिधा को सब वृत्तियों मे श्रेष्ठ माना है वह ऐसे ही व्यापक गुणों के कारण माना है। विरोधादि चमत्कार जहा लक्षक वाक्यों में आते हैं वे सब भी वाच्यार्थ पर ही आश्रित होते हैं। उदाहरण के लिए "गति लै चलनि लखि मति गति पगु होति," "जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगैं," "इत मौन मे व्याकुल प्रान पुकारैं" "बूझन बूझन बौरई लीबौ," "मरिबो अनमीच बिना जिय जीबौ," आदि वाक्यो मे विरोध वाच्यार्थ ही में है। लक्ष्यार्थ तो उसकी उलटी सगति मिलाता है। अत' निष्कर्ष में यही आता है कि लक्षणा-वाक्यो मे वाच्यार्थ की उपस्थिति अप्रकटरूप से होती ही है। विपरीत लक्षणाओं के विषय में शका हो सकती है कि वहा शक्यार्थ का तनिक भी भान नहीं होता। पर नहीं। वहा भी लक्ष्यार्थ यदि विध्यात्मक है तो वह वाच्यार्थ निषेधात्मक पर आधारित है उसी प्रकार लक्ष्यार्थ निषेधात्मक है तो वह वाच्यार्थ के विध्यात्मक रूप का सहारा लेता है। जैसे—"झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ ताके गुनगन घनआनद कहा गनौ" में गुनगन का अर्थ अवगुण गण है। इस प्रकार बिना वाच्यार्थ के वहाँ भी लक्ष्यार्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। अत यह एक व्यवस्था सिद्ध होती है कि लक्षक वाक्यों मे अस्फुटरूप से वाच्यार्थ का अवश्य भान होता है और लक्ष्यार्थ के साथ उसी के योग से व्यंग्यार्थ की सिद्धि होती है। उपादान लक्षणा तथा लक्षण लक्षणा का भेद भी फिर वाच्यार्थ की प्रकट तथा अप्रकट प्रतीत के कारण बनता है उसके सर्वथा उपस्थित होने या न होने के कारण नहीं बनता। इस प्रकार लक्षणा के चार भेद रूढा, प्रयोजनवती, उपादान लक्षणा, तथा लक्षण लक्षणा, बहुत अधिक तात्विक नहीं हैं। दो भेद शेष रह जाते हैं गौणी तथा शुद्धा। ये लक्षणाओं के मौलिक अतर पर आधारित हैं। शक्यार्थ का लक्ष्यार्थ के साथ सादृश्य तथा सादृश्येतर दो प्रकार का सबध हो सकता है। पहले सबध में पहली और दूसरे में दूसरी लक्षणा होती है।

३—लक्षक वाक्यों में कवित्व का स्थान

प्रश्न उठ सकता है कि कवित्व का अधिवास किस अर्थ में है? वाच्यार्थ किंवा व्यंग्यार्थ में?? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने वाच्यार्थ में रमणीयता मानी

है वह चाहे उपपन्न हो चाहे अनुपपन्न। उन्होंने साकेत के दो उदाहरण इस विषय में दिए हैं पहला है—"जीकर हाय पतंग मरे क्या"। इसमे "मरे क्या" क्रियार्थ "जीकर" के साथ आने से अनुपपन्न होकर लक्षक बनता है। इसका लक्ष्यार्थ है "कष्ट भोगना।" व्यंग्यार्थ है "कष्ट का अतिशय"। इतना अतिशय जितना मरने मे होता है। शुक्ल जी ने स्पष्ट किया है कि यदि "मरे क्या" के स्थान पर 'कष्ट भोगे' या 'अत्यत कष्ट भोगे' कहा जाय तो काव्य की वह चारुता नष्ट हो जाएगी जो यहा विरोध से उत्पन्न हुई है। इसके स्थान पर यदि इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि जीकर पतग क्यों कष्ट भोगे तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रह जाएगा। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण उर्मिला के कथन से दिया है।

आप अवधि बन सकू कहीं तो क्या कछु देर लगाऊ
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उन को लाऊं

इस में भी वाच्यार्थ अनुपपन्न है। वह स्वय मिट जाएगी तो फिर लायेगी कैसे? फलतः उसके अत्यत औत्सुक्य का व्यंजना द्वारा भान होता है। पर यदि उपपन्न अर्थ ही का कथन हो तो उसमें किसी प्रकार का चमत्कार भासित न होगा। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है। व्यग्यार्थ वा लक्ष्यार्थ नहीं।[१] इस मत के विरुद्ध प० रामदहिन मिश्र ने व्यग्य में ही काव्य माना है। इसमें उन्होने अनेकों तर्क संगत प्रमाण भी उपस्थित किये हैं।[२] डा० नगेन्द्र भी दूसरे मत के पक्षपाती हैं।[३] विस्तार के साथ विवेचन करते हुए डा० नगेन्द्र ने बताया है कि कवित्व का अर्थ चमत्कार नहीं अनुभूति है। रमणीयता का अर्थ है है हृदय के रमाने की योग्यता, और हृदय का सबध भाव से है। वह भाव में ही रम सकता है क्योंकि उसके समस्त व्यापार भावों के द्वारा ही होते हैं। अतएव वही उक्ति वास्तव में रमणीय हो सकती है जो हृदय मे कोई रम्यभाव उद्बुद्ध करे और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इसी प्रकार के भाव की वाहिका हो। यदि उसमें यह शक्ति नहीं है तो वह बुद्धि

१—इदौर के हि० सा० समेलन के सभापति पद से दिया गया आ० शुक्ल का भाषण

२—काव्यालोक—लक्षणा प्रकरण।

३—साहित्य सदेश वर्ष १४ अक १—"कवि का अधिवास वाच्यार्थ में या व्यग्यार्थ में।" शीर्षक का लेख।

को चमत्कृत कर सकती है चित्त को नहीं और इसलिए रमणीक नहीं कही जा सकती। ऐसे स्थलों पर दो दृष्टि से विचार हो सकता है। एक तो यह कि लक्षणा और व्यंजना अभिधा में आने वाली अनुपपन्नता को दूर करने के साधन मात्र हैं। चमत्कार अभिधा में ही होता है और काव्य की चारुता या काव्यत्व चमत्कार निष्ठ है। इस पक्ष में तो अवश्य काव्यत्व का अधिवास अभिधा या वाच्यार्थ में होगा। लक्षणा व्यंजना अथवा लक्ष्यार्थ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के सहायक मात्र होंगे। पर यह अलंकारवाद का ही दूसरा रूप है। काव्य के बाह्य पक्ष का इस में अत्यधिक आदर किया गया है। अनुपपन्नता में चमत्कार मानने वाले और विरोधमूलक उक्तियों में अलंकार का दर्शन करने वाले एक तरह से एक ही माने जाएँगे।

दूसरा पक्ष यह भी है कि कवि का प्रेषणीयतत्व जिसे वह अपने भावुक पाठक के हृदय में भेजना चाहता है वह काव्य है। यह प्रेषणीयतत्व वस्तु और भाव दो होते हैं। वस्तु के दो रूप हैं। चमत्कार सहित वस्तु और चमत्कार हीन वस्तु। प्राचीन आचार्यों ने पहले का नाम अलंकार और दूसरे का नाम वस्तु दिया है। भाव एक ही प्रकार का होता है। इन दोनों तत्वों का प्रेषण प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से होता है। व्यंजनावादी मम्मटादि का मत है कि अप्रत्यक्षपद्धति से अर्थात् व्यंजना द्वारा जहाँ वस्तु और भाव व्यक्त किए जाते हैं वह उत्तम काव्य है[१]। दूसरे मध्यम या अधम काव्य होते हैं। यह ध्वनिवाद है। पर रसवादियों का आग्रह यह है कि काव्यभाव है। वह प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष किसी भी प्रकार से व्यक्त किया जाय सदा काव्य ही रहेगा। इसलिए अभिधा से व्यक्त होनेवाला रस उत्तम काव्य का उदाहरण इन लोगों ने माना है। यह रस अथवा भाव अभिधीयमान तो न रस वादियों के मत से है न ध्वनिवादियों के मत से। दोनों के मत से व्यंग ही है। अन्तर केवल वस्तु और भाव का है। ध्वनिवादी वस्तु में भी काव्यत्व मानता है। यदि वह व्यंजना द्वारा आएगा तो रसवादी उसे निकृष्ट काव्य मानेगा। वह चाहे व्यंग्य हो चाहे वाच्य। इसका आग्रह रस पर है। अनुभूति को काव्य का सर्वस्व मानकर रसवादी चलता है।

१—इदनुत्तममति शयिनी व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधै कथित। मम्मट-काव्य प्रकाश, प्रथम उल्लास।

अब देखना यह है कि इस अनुभूति को प्रकट करने का काम अभिधा का है या लक्षणा का, अथवा व्यजना का। स्पष्ट है कि यह कार्य व्यजना का ही है। इसका कारण है उसकी सूक्ष्मता। अभिधा स्थूलावगाहिनी है। दूसरे रस सिद्ध नहीं होता साध्य होता है। भावुक स्वय अपनी मानसिक क्रियाओं द्वारा उसका अनुभव करता है। उसके अनुभव से पहले वह वर्तमान नहीं। अभिधा की पहुँच सिद्ध पदार्थों तक ही होती है। फलतः कहा जा सकता है कि भाव की अभिव्यक्ति सदा व्यजना से ही होती है। अभिधा अथवा वाच्यार्थ तो स्वयं ही अपने चमत्कारों के साथ व्यग्य (रस) का साधन या माध्यम है। अत. निष्कर्ष यही निकलता है कि काव्य का अधिवास व्यंग्यार्थ में है वाच्यार्थ में नहीं। चमत्कार वाच्यार्थ में ही रहता है। इतना कह सकते हैं कि काव्य का स्वरूप कहीं तो चमत्कार और कहीं अनुभूति दोनों ही होते हैं। भले ही दूसरा उत्तम और पहला मध्यम हो। दूसरे का अधिवास नि सदेह व्यजना में और पहले का अभिधा मे होता है।

३—लाक्षणिक प्रयोगों के भेद

ऊपर बताया जा चुका है कि भावानुभूति व्यक्ति व्यक्ति की पृथक होती है। साधारण रूप में वह औरों के समान होकर भी अपने सूक्ष्म व्यक्तिगत रूप में उनसे भिन्न ही होती है। उसकी अभिव्यजना लोक प्रचलित साधारण शब्दो द्वारा नहीं हो सकती। इसलिए लक्षणा का आश्रयण किया जाता है। नीचे आनदघन के कुछ ऐसे लाक्षणिक प्रयोग दिए जायेंगे जिनमें इनकी भावानुभूतियों के सूक्ष्म भेद प्रकट हैं। साधारणरूप से इनके लाक्षणिक प्रयोग तीन प्रकार के हैं। कुछ चमत्कार का प्रकट करने के लिए और कुछ अनुभूतियों को प्रकट करने के लिए। तीसरे प्रयोग ऐसे हैं जो न चमत्कार की सिद्धि करते हैं न अनुभूति की अभिव्यक्ति। केवल अर्थ का साधारण बोधन करते हैं। वे निष्प्रयोजन हैं। चमत्कार कहीं भाव-सहजात है कहीं भाव-अनुजात। भाव का स्वरूप ही जहाँ चमत्कृतियुक्त है वह पहला भेद है। जहाँ भाव के स्वरूप का सिद्ध हो जाने के अनतर उसकी युक्ति को चमत्कारिणी बनाने का कवि ने बुद्धिपूर्वक प्रयत्न किया है वह दूसरा भेद है। यह चमत्कार अधिकतर विरोध का है। कहीं कहीं विलक्षण उक्तियों का है जिनका सबध अनुभूतियों से भी है।

भावसहजात चमत्कारों की सिद्धि के लिए लाक्षणिक प्रयोग'—

१—मो गति बूझि परे तब ही जब होहु घरीक हू आप तें न्यारे
—सुहि० १७७

२—दुरि आपुन पै हू इकौसे मिले। (वही २६९)

३—मरिबौ अनमीच बिना जिव जीबौ। —वही १४८

४—जानै वेई दिनराति बखाने तें जाय परै दिनराति को अंतर।
वही २०७

इन स्थलों पर अनुपपन्न उक्तियों का चमत्कार है। जैसे पहले वाक्य में व्यक्ति का अपने से पृथक होना संभव नहीं है इसलिए अनुपपन्न है। अनुपपन्न उक्तियों का जन्म भावाकुल हृदय में हुआ है। इसलिए इसे भाव-सहजात चमत्कार की साधक लक्षणाएँ कहा जायगा। भाव अनुजात-चमत्कार की सिद्धि के लिए लाक्षणिक प्रयोग :—

१—दीपति समीप की बिछोह माँहि पोहियत।

२—जतन बुझै हैं सब जाकी झर आगें।

३—जिन ही वरुनीन सो बेध्यौ हियौ तिन हीं दृग-हाथ सिवावत हौ।

४—जान प्यारे गुननि तिहारे गहि बोरी हौ।

५—उर गाठि त्यों अंतर खोलति है।

६—झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ।

७—हाय त्रिसासी सनेह सों रूखे रुखाई सों है चिकने अति सोहो।

८—औसर सम्हारौ न तौ अन-आयबे के संग
दूरि देस जायबे कौं प्यारी नियराति है।

इन प्रयोगों में अनुपपत्ति मूलक लक्षणाऐं हैं। पर लाक्षणिक प्रयोगों के स्थान पर लक्ष्यार्थ का वाचक यदि वाक्यान्तर प्रयुक्त किया जाय तो अर्थ प्रतीति में कोई अंतर नहीं पडेगा केवल चमत्कार का लाभ न होगा। उदाहरण के लिए पहले वाक्य के स्थान पर 'वियोग में आप समीपस्थ से लगते हैं' वाक्य कहा जाय तथा दूसरे वाक्य की जगह 'जिसकी तीव्रता के सामने सब प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं' वाक्य का प्रयोग हो तो अर्थ में कोई अंतर नहीं होता। अर्थात् लक्षणा किसी विशेष अर्थ की सिद्धि यहाँ नहीं करती। केवल बिछोह और समीप, झर और बुझे, बेध्यो और सिवावत हो, आदि लक्षक शब्द विरोध के चमत्कार की प्रतीति कराते हैं।

इन लक्षणोक्तियों में चमत्कार अभिधाजन्य है। चमत्कार काव्य का विशेष महत्वपूर्ण तत्व नहीं माना जाता। इसलिए लक्षणाऐं भी यहाँ बहुत

बडे अर्थ की सिद्धि नहीं करतीं। फिर भी इतनी विशेपता वहाॅ है कि अन्य कवियों ने जिन चकत्कारों को लाने के लिए अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग किए हैं, उनके रूप को विकृत किया है और वाक्य अजीव बनाए हैं उन्हीं की सिद्धि यहाँ परिचित शब्द तथा वाक्यों में सरलता के साथ हुई है। चमत्कार की मात्रा उनकी अपेक्षा अधिक बढी हुई है।

दूसरे प्रकार की लक्षणाऍं अनुभूति का परिचय कराती हैं। वास्तव में लक्षणा जैसी क्लेशकारिणी वृत्ति की सफलता इन्हीं रूपों में होती है। इनका स्थान अभिधा नहीं ले सकती। भावो के सूक्ष्म भेद तथा उनका तीव्रता के विभिन्न स्तरों का प्रत्यायन जैसा इन के द्वारा होता है वैसा उपायान्तरो से नहीं हो सकता। इन स्थलों में अनुभूति के व्यक्तिगत रूपों की प्रतीति के अतिरिक्त कभी अरूप वस्तु रूपवान बन कर तथा कभी रूपवान अरूप बन कर विशेप प्रेपणीय हो जाती है। अचेतन वस्तु चेतन एव सूक्ष्म स्थूल जैसी हो जाती है। इससे भाव की रमणीयता कहीं अधिक बढ जाती है।

जैसे—

१ लड़कानि की आनि परी छलकै।
२ बरसति अग रंग माधुरी बसनछनि
३ बिकानि की बानि में कानि घखेरी।
४ अंग अंग स्याम रस रंग की तरंग उठै।
५ अलबेली सुजान के कौतुक पै इत रीझि इकौसो ह्वै लाज थकै।
६ डीठि हितू तिन तोरति है।
७ भीजनि पै रंग रीझनि मोहै।
८ मोहि नीको लागत री राधे तेरे लोने इन
अंग अंग अरसात रंग मेह नेह को,
९ ज्यों ज्यों इत आनन पै आनद सु ओप औरै,
त्यों त्यों इत चाहनि में चाह बरसति है।
१० अग अंग आलि छवि छलक्यो करति है।

इसी प्रकार कभी भाव को प्रधानता देने के लिए जातिवाचक संज्ञाओं के स्थान पर भाव वाचक संज्ञाओं का प्रयोग होता है। 'नेत्र उजड गए हैं' कहने से उजाड़ की उतनी प्रमुखता तथा अधिकता नहीं प्रतीत होती जितनी 'उजरनि बसी है हमारी अखियानि देखौ'[1] में उजरनि को कर्त्ता बना कर प्रमुखता देने से होती है। इसी प्रकार "प्राण व्याकुल हो गए हैं' न कह

कर "अकुलानि के पानि परयौ दिन राति सु ज्यौं छिनकौ न कहूँ बहरै" कहने से आकुलता की तीव्रता और अधिक व्यजित हो जाती है। ऐसे स्थल विशेषण व्यत्यय के हैं और इनमें अनुभूति की तीव्रता व्यग्य है। निम्नलिखित प्रयोग इसी प्रकार हैं—

१ पियराई छाई तन।

२ अरसानि गही उहि बानि कछू।

३ जोई रात प्यारे सग बातन न जानी जाति
सोई अब कहा ते बढ़नि लिए आई है।

४ कान्ह परे बहुतायत में अकलैनि की वेदनि जानौ कहा तुम।

५ वेदनि की बढवारि कहाँ लौ दुराइये।

× × ×

इन से भी श्रेष्ठ लाक्षणिक प्रयोग वे हैं जिनमें भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतर्दशाओं का अभिव्यजन ही लक्ष्य होता है। महाकवि शेली की पूर्वोद्धृत उक्ति है कि 'वेदना कहने को एक ही है पर भिन्न भिन्न अवसरों पर भिन्न भिन्न हृदयों में उसकी अनुभूति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। और उन सूक्ष्मता भेदों के स्वरूप का दूसरे हृदयों में लक्षणा द्वारा ही हो सकता है।'—ऐसे प्रयोगों की ही प्रशसा मे है। आनदघन अपने भावना भेदों को इनमें व्यक्त करने की क्षमता पा सके थे। इनमें यह आभासित होता है कि कवि की अनुभूति अपनी अभिव्यजना प्राप्त करने के लिए प्रचलित भाषा मे साधन न पाकर उपायान्तरों की खोज कर रही है। प्राणों की विरह व्यथा की अतर दशाएँ व्यक्त करना हुआ कवि कहता है कि "निसदिन लालसा लपेटेई रहत लोभी", कभी 'देखन के चाय प्रान आँखिन में झाके आय' से अपना भाव व्यक्त करने का प्रयत्न करता है। कभी मुरझाने के व्यापार का उनमे आरोप करता है—'प्रान धरैं मुरझैं उरझैं' कभी वे पुकारने लगते हैं—'मौन में व्याकुल प्रान पुकारैं।", कभी प्राणों का घोटना हो जाता है—'प्रान घट घोटिबो' से तथा कभी उन्हें कष्टों में पिसता हुआ बताया जाता है–'प्रान पिसे चपि चपिरे।' अनुभूति की तीव्रता से बाधित होकर कवि ने ऐसे प्रयोग किए हैं और इनमें अनुभूति के व्यक्तिगत सूक्ष्म भेदों को व्यक्त करने के लिए नवीन नवीन आरोप ढूँढे गए हैं।

नेत्रों की विभिन्न वेदानास्थितियों का आभास देने के लिए निम्नलिखित लाक्षणिक प्रयोग द्रष्टव्य हैं।

१ दीठि थकी अनुराग छकी ।
२ दीठिहि पीठि दई है ।
३ जिनहीं बरुनीन सों बेध्यौ हियौ तिनही दृग-हाथ सिवावत हो ।
४ देखन के चाय प्रान-आखिन मैं झाकें आय ।
५ रूप अनूपम को पुरदूरे सुबावरे नैनन के मग बैंठे ।
६ अँखियाँ दुखियाँ कित भोरी भईं ।
७ कौन वियोग भरे अँसुवा जो संजोग में आगे ई देखन धावत ।
८ उजरनि बसी है हमारी अखियानि मैं ।
९ जिन आखिन रूप चिन्हारि भई तिनकी नित नींदहि जागनि है ।
१० दीठि लालसा के लोयननि लै लैं आँजि हौ ।
११—नैननि वोरति रूप के भौंर में ।
१२—डीठि हितू तिन तोरति है ।
१३—गति हस प्रशसित सौं कबधौं सुख तैं अखियानि में आय हौ जू ।
१४—लाजनि लपेटी चितवनि भेदभाय भरी ।

इन में नेत्रों के प्रेम व्यापारों पर विभिन्न वर्मों का जैसे छकना, पीठदेना, उजड़ना, डूबना, झाकना आदि के आरोप किये गये हैं। जितने आरोप हैं उतनी अतर्दशाएँ अभिव्यक्त की गई है।

कुछ लाक्षणिक प्रयोग भावों की तीव्रता और व्यापकता की प्रतीत के लिए किए गए हैं। कुछ मे अनुभूति का यथार्थरूप व्यक्त होता है। इन लक्षणाओं मे भापा की अतर्हित ऐसी शक्ति का पता चलता है जो भावाभिव्यक्ति के लिए नए नए मार्ग निकाल देती है। ससार की प्रत्येक वस्तु में प्रिय के रूप के दर्शन हो जाने की अभिव्यक्ति के लिए—'जग जोहनि अन्तर जोहतु है', मार्मिक पीड़ाओं को दबाने में चुप्पी साधने के लिए—'त्यौं पुकार मधि मौन', प्रिय और प्रेमी की अनुभूति दशाओ में भेद दिखाने के लिए—'मोगति बूझि परै तबही जब होहु घरी कहू आपुते न्यारे', विरह व्यथा मे घुटनि का जीवन बिताने के लिए—'मरिबो अनमीच बिना जियजीबो,' अनुभूति दशा मे आत्म विस्मृत हो जाने के लिए—'मोहितो मेरे कवित्त बनावत,' स्वतः कृपाशील स्वभाव की अभिव्यक्ति के लिए—'मनै ढरकों ही बानि दै', पीड़ित व्यक्त की पीड़ाओं को अनुमात्र समझने के अर्थ मे—'कछू मेरियौ पीर हिये परसौ' एव परमेश्वर की भ्रामक अथच व्यापक सत्ता का आभास कराने के लिए—'उघरि छुए हैं पै पसारि आपनो पसारि'—

आदि वाक्यों के प्रयोग अभिव्यक्ति के नवीन मार्गों की खोज के परिचायक हैं। इन मे अनुभूति के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपो का यथार्थ रूप अभिव्यजित होता है।

इसी प्रकार भाव जहाँ असाधारण रूप से तीव्र होता है तब भी लक्षणा-वृत्ति का आश्रयण होता है। इनके प्रयोगों मे अनेक इस श्रेणी के वाक्य हैं। प्रिय के रूप को देखने मे जो तृष्णातिरेक होता है उसके लिए रूप का पान करना' कहा है,—'मादिकरूप रसीले सुजान को पान किएँ छिन कोन छकै को।' अनुराग के कारण विचलित हुए हृदय की स्थिति विलोडन व्यापार द्वारा व्यक्त की है, 'रीझ विलोएई डारति है हिय,' आसक्ति के अतिरेक के कारण 'मूरति शृंगार को उजारी छवि आछी भाति दीठि लालसा के लोयननि लै लै आजहौं' कहा जाता है। नीचे भाव की तीव्रता के द्योतक कुछ और प्रयोग उद्धृत किए जाते हैं।

१—आपौ न मिलत महा विपरीत छाई है।
व्यग्य-अपनी व्यथा पर आश्चर्य की तीव्रता।

२—कूक भरी मूकता बुलाय आपु बोलि है।
व्यग्य-मौन साधन की तीव्र शक्ति

३—गाढे भुज दंडनि के बीच उर मंडन कौं
घरि घन आनंद यौं सुखनि समेटि हौं
व्यग्य-सुखों के भोग मे अतृप्ति की तीव्रता

४—चाहनि अंक में चापत्ति है।
व्यग्य-चाह का अतिरेक

५—बात के देखते दूरि परे
व्यग्य-बातों की अनभिज्ञता का अतिरेक

६—होनि सौं मढ्यौ है अनहोनि जाके बीच भरी
जा में चलिजाइबे बनाई रहठानि है
व्यग्य-संसार आभास मात्र रूप में अनित्यता का आधिक्य

७—बेदनि की बढवारि कहा लौं दुराइयै।
व्यग्य-वेदनाओं की अत्यधिक वृद्धि।

८—अंग अग तरग उठै दुति की।
व्यग्य सौंदर्य का अत्यधिक प्रस्फुरितरूप।

९—रसनिचुरत मीठी मृदु मुसिक्यानि मै

व्यंग्य-मुसकानि की मधुरता का अतिरेक

१०—ज्यौं ज्यौं उत आनन पै आनंद सुओप औरै,
त्यौं त्यौं इत चाहनि मैं चाह बरसति है।

व्यंग्य-अभिलापतिरेक

इनके लाक्षणिक प्रयोगो में एक विशेपता यह और है कि कवि की दृष्टि लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त वाच्यार्थ पर सदा बनी रहती है। विरोध या विरोध-मूलक असगति आदि, श्लेप तथा विधि आदि अलकार प्रायः वाच्यार्थ के आधार पर ही कवि ने दिखाए हैं। 'मेरो मनोरथ हू बहियै अरु ह्वै मो मनोरथ पूरनकारी' में योगार्थ मनोरथ को लेकर श्लेप बाँधा है। 'उत ऊतर पाय लगी मेंहदी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।' वाक्य में पैरों में मेंहदी लगने की संगति हाथो में धैर्य के न रहने से की गई है। यह विरोध का उल्टा विधि अलकार वाच्यार्थ पर आधारित है। इसी प्रकार 'भरी विरह रितौन की'।[1] 'खोयबो लहा लहौं।[2] 'मौंनहि सों कछु बोलति है'।[3] 'उर गाठि त्यौं अंतर खोलति है' आदि वाक्यों में विरोध अलंकार का चमत्कार वाच्यार्थ पर ही आधारित है।

ऊपर जितने प्रयोग दिखाए गए हैं वे सब सप्रजोन हैं। कहीं चमत्कार प्रयोजन है तो कहीं अनुभूति की तीव्रता, यथार्थता किंवा व्यापकता। पर कछु प्रयोग ऐसे भी मिलते हैं जिनमें केवल वचन-वक्रता प्रयोजन ही है अन्य कोई प्रयोजन नहीं। ऊपर बताया जा चुका है कि ऐसे प्रयोग लक्षणा के निकृष्ट रूप हैं। लक्षणाओं में वाक्यार्थ को समझने मे जो बुद्धि प्रयास होता है उसका फल किसी भाव या चमत्कार का आस्वाद अवश्य होना चाहिये। काव्य में निष्प्रयोजन लक्षणा को वाक्य का नेयार्थ दोप माना है।[4] प्रयोजन की सत्ता पहचानने का उपाय यही है लक्ष्यार्थ का वाचक वाक्य प्रयुक्त करने

१—सुहि० १५५
२—२४२ पद्य सुजानहित।
३—वही २४७
४—नेयार्थत्व रूढि प्रयोजनाभावाद् अशक्ति कृतम् लक्ष्यार्थ प्रकाशनम्
—साहित्यदर्पण सप्तम परिच्छेद :

पर यदि कोई अर्थ हानि का अनुभव नहीं होता तो समझना चाहिए
लक्षणा निष्प्रयोजन है।

नीचे लिखे वाक्यों में लक्षणाओं का कोई प्रयोजन लेखक का अनु
नहीं होता।

१ सुमत वृक्षि की दीठि सु तानौ

नुहि०

२ भूल कौं सौंपि सबै जु सबै सुधि

नुहि० १

३ जौ लौं जगै न मूल तौं लौं सोवे सुरति सुख

सुहि० ३

पर ऐसे प्रयोगों की संख्या अत्यल्प है।

मुहावरे

मुहावरे रुढिमूल लक्षणाओं के विशेरूप हैं। लक्षणाओं में लक्ष्यार्थ
साथ साथ वाच्यार्थ का भान अप्रकटरूप से सर्वत्र विद्यमान रहता है। मु
वरों में चिरप्रयोग के कारण इसका लोप सा हो जाता है। लक्ष्यार्थ
लक्ष्यार्थ रह जाता है। यह नियतरूप से सबद्ध होकर वाच्यार्थ जैसा
जाता है। जैसे हाथ में पड़ना या हाथ पड़ना वाक्य मूलरूप से हाथ
किसी वस्तु के गिर पडने के व्यापार का बोधक है। पर लक्षणा द्वारा मुहा
में यह अधीन होने के अर्थ का द्योतक बनता है। 'प्रान लै साथ परी
हाथ', 'मीत के पानि परे को प्रमानै'—आदि वाक्यों में उसी अर्थ की प्र
होती है। कुछ प्रयोग ऐसे भी मिलते हैं जिनमें वाच्यार्थ की अप्रकट प्र
रुढिमूल लक्षणाओं की तरह होती हैं। और वे लक्ष्यार्थ के अतिरि
प्रयोजन के रूप में व्यंग्यार्थ को भी उपस्थिति करते हैं। जैसे अर्थ का
मुहावरो द्वारा ज्ञान होता है वैसा वाचक शैली के वाक्य से नहीं हो सक
था। 'विक जाना' मुहावरा मुग्ध होकर अत्यधिक अधीन हो जाने का
देता है पर 'अत्यधिक अधीन हो जाना' वाक्य से अधीनता की उस
की प्रतीत नहीं होती जो विक जाना वाक्य से होती है। अर्थात् यह व
अन्य लक्षक वाक्यों की तरह व्यंग्यार्थ प्रयोजन का प्रत्यायक होता

मुहावरों की लाक्षणाएँ प्रायः सादृश्य मूला की होती हैं। सादृश्येतर संबंधमूला नहीं होती। दूसरे इनका स्वरूप वाक्य का होता है। उनमें मुख्य क्रिया के रहने से अपने पूर्व अर्थ की उपस्थिति होती है। इस तरह कह सकते हैं कि मुहावरों में लक्षक अर्थ परिवर्तन की प्रगति में होते हैं। कुछ तो वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़ कर अपने लक्ष्यार्थ को ही वाच्य के रूप में अंगीकार कर लेते हैं और कुछ में वाच्यार्थ का भान लक्षक वाक्यों के अर्थ की अपेक्षा मदतर होता है।

मुहावरे जीवित भाषा के प्राण होते हैं। इनके द्वारा उसकी सजीवता की वृद्धि होती है। लक्षक वाक्यों का अर्थ तीक्ष्ण बुद्धिगम्य होता है, क्योंकि लक्ष्यार्थ प्रसिद्ध नहीं होता। वाचक वाक्यों में किसी प्रकार की चमत्कृति या अभिव्यंजन की व्यापकता नहीं होती। मुहावरेदार वाक्यो में वाचक वाक्यों की अपेक्षा चमत्कार और अर्थ द्योतन की विस्तृत भूमि तो अधिक होती है पर लक्षणाओं की सी दुरूहता इन में नहीं होती। इसलिए इसका सर्वसाधारण के लिए प्रयोग किया जा सकता है।

आनदघन जी ने मुहावरों के प्रयोग द्वारा काव्य चमत्कृति का लाभ किया है। विरोधादि चमत्कारों के लिए केशव तथा उनके मार्गानुयायी लोग जो द्वयर्थक शब्दों के प्रयोग करते रहे हैं उन में सरलता भी नहीं रहती और चमत्कार भी बहुत अतात्विक हो जाता है। 'विषमय यह गोदावरी अमृतन कौ फल देति"[1] में विष शब्द का जल अर्थ अप्रसिद्ध है और जहर अर्थ का गोदावरी से कोई संबंध नहीं। इस तरह चमत्कार लंगड़ा है। लेकिन 'हाथ चढें जिहि स्याम सुजान कहूँ तिहिं पायन रे परसे तें'[2] "पाय डारि कित मूढ चढावत मदन को'[3] में विरोध चमत्कार मे उपर्युक्त दोनो दोष नहीं हैं।[4] इसी प्रकार हिंदी जैसी व्यावहारिक सजीव भाषा की इस अभिनव सपत्ति का काव्य चमत्कार की सिद्धि के लिए प्रयोग कर आनदघन जी ने अपनी भाषा प्रवीनता का परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए भी मुहावरों का प्रयोग इन्होने किया है। ऐसे स्थलों

१—केशव रामचद्रिका पचवटी वर्णन

२—कृपाकद निबध १०

३—प्रेम पत्रिका

४—इसी प्रकार 'जीवचूल्यो जात ज्यौं ज्यौं भीजत सरवरी 'घनानद'

पर वे बडे व्यजक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए नीचे लिखे वाक्यों में मुहावरो से विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति की गई है।

१ मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर अमोही के मोह मिठास ठगी
२ रस प्यास के प्यास वढाय के आस विसास में यों विष घोरिये जू
३ सुरति सुजान चैन बीचिनि सों सींची जान,
वही जमुना पै आली वह पानी वहिगो

इनमे 'अति चंचल हो गई।' कहने से उस अर्थ की प्रतीति नहीं होती जो 'न लहै ठिक ठौर', कहने से होती है। इसी प्रकार "विश्वासघात करना" कहने की अपेक्षा "विसास मे यौ विष घोरि यैजू' कहने से अधिकती व्रता पूर्ण अनुभूति का भान होता है।

यह विशेष विचारणीय है कि आनदघन की तरह रसखान ने भी हिंदी मुहावरों का प्रयोग किया है। यद्यपि उनकी सख्या इनकी अपेक्षा न्यून है। कुछ मुहावरे तो मिलते भी हैं। इससे यह अनुमान करना अनुचित नहीं होगा कि आनदघनजी या तो रसखान की इस प्रवृत्ति से परिचित हैं या दोनों को किसी समान स्रोत से प्रेरणा मिली थी। फारसी साहित्य की भाव-भाषा प्रवृत्तियों की जानकारी तथा विशुद्ध हिंदी मे काव्य-रचना करने की शैली ये दोनों गुण इन दोनो भक्त प्रेमियो में विद्यमान है। इसलिए फारसी की सी चमत्कृति प्रधान रचना की सिद्धि दोनों ने मुहावरों के प्रयोग द्वारा की है। उर्दू फारसी की कविताओ में काव्य चमत्कार के लिये मुहावरो का प्रयोग वड़ी प्रचुरता से किया जाता है। नीचे कुछ उदाहरणों में यह बात स्पष्ट झलकती है।

१ अय बरहमन हमारा तेरा है एक आलम।
हम ख्वाब देखते हैं तू देखता है सपना॥
२ बोला चपरासी जो मैं पहूचा वउम्मीदे सलाम।
फाँकिये खाक आप भी साहब हवाखाने गए॥
३ आँखे बिछाएँ हम तो उदू की भी राह में।
पर क्या करें कि तुम हो हमारी निगाह में॥

फलतः प्रतीत हीता है कि आनदघन और रसखान को यहीं से इसकी प्रेरणा मिली थी। रसखान तथा आनंदघन में इतना अतर है कि पहले

ने मुहावरों द्वारा काव्य के किसी विशेष चमत्कार की सृष्टि नहीं
दूसरे ने की है।

लोकोक्तियाँ मुहावरों से भिन्न हैं। लोकोक्तियों में जीवन के किसी
रण व्यापार का कथन होता है जो साम्य का समर्पक बनता है। इनके
में प्रायः वाक्यार्थ उपमान बनता है। कभी कभी साम्य के आधार
उसका प्रतीकवत् प्रयोग होता है। मुहावरों की अपेक्षा इनमें अर्थ
सामित होती है। साम्य की सिद्धि हो जाने से लोकोक्ति प्रयोग स्व
प्रकार का चमत्कार हो जाता है। इसलिये हिंदी के कवियों ने इसे एक
अलकार मान लिया है। ठाकुर ने लोकोक्तियों का प्रयोग अधिक वि
जैसे—

हमें को गनै कासों परोजन है सुनिवे में न बीन बाजाइवे में
ठा० ठ०

अधिरात भई हरि आए नहीं हमें ऊमर की सहिया करिगे
वही

ठाकुर जी पै यही करने तौ कहा मन मोहना क्रोध करैहै
है है नहीं मुरगा जेहि गॉव भटू तिहि गाँव का भोर नाहै है।
वही

जग एकन को भट वाइरे वीर सो एकन; को पथ दीजतु है
वही

चलु दूर भटू हौं वृथा भटकी लगें दूर के ढोल सुहावने री
वही

नीचे आनदघन जी द्वारा प्रयुक्त मुहावरों का विवरण दिया जात
लक्षणा भाषा का अक्षय बल होता है और मुहावरे प्रचलित
प्रसिद्ध लक्षणाएँ होती हैं। अतः लेखक के विचार से हिंदी भाषा की
बढाने का यह भी एक प्रयत्न होगा यदि श्रेष्ठ कवियों के मुहावरेदार
को संगृहीत किया जाए और उनके से प्रयोग व्यावहारिक भा
किए जाएँ।

मुहावरे

१—आँखों में बसना—ध्यान बने रहना।

कब तें सुजान प्रान प्यारे पुतरीन तारे।
आँखिन बसे हौ सब सूनो जग जोहिए॥

२—आँखों में आना—दिखाई पड़ना।

सुख लै अँखियान में आय हौ जू।

३—आँखों में छाना—सदा दिखाई पड़ना।

प्यारो घनआनद सुजान छायो आँखिन में।

४—आँख तले लाना—मूल्यांकन करना।

ल्यायौ न काहु वै आँखि तरे।

५—आबनना—संयोग बनजाना।

हमैं आनिबनी इन लोगन सौं इत।

६—आड़ माना—रुक जाना।

आड़ न मानति चाड़ भरी उघरी ही रहै अति लाग लपेटी।

७—आड़े होना—बीच में बाधक होना।

कहा ते दुर्गौ सो बैरी आडे आनि है भयौ।

८—आसपास न होना—बहुत दूर पड़ जाना।

सपने रस आसहू पास नहीं।

९—औसर सम्हारना—अवसर के योग्य कार्य करना।

औसर सम्हारौ न तो अनआइवे के सग।
दूर देस जाइबोकों प्यारी नियराति है।

१०—उघड़ कर नाचना—स्पष्ट रूप से किसी कार्य को करना।

उघरि नचै हैं लोक लाजतें बचे हैं।

११—उघड पड़ना—रहस्य खुलना, निर्लज्ज होना।

छाय तऊ उघरेई परौ।

१२—उघरी रहना—निर्लज्ज होना।

उदाहरण उपर्युक्त ही।

१३—उसर जाना—छिन्न भिन्न होना।

आए' द्यौस अवसर उसाँसहि उसरि जैहै।

१४—उसास छकना—निराश जीवन बिताना।

निस द्यौस उदास उसास छकौं।

१५—कलधरना—चैन आना।

धरै कल कौं अकुलानि थई है।

१६—कान खोलना—श्रवणोन्मुख करना।

कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलि है।

१७—कान में रुई देना—न सुनने का प्रयत्न करना।

रुई दिए रहोगे कहा लौं बहाराइवे की।

१८—कान करना—सुनना।

घनआनद कानन आन करे।

१९—गुहार लगना—सहायता करना।

जान प्यारे लागो न गुहार तो जुहार करि,
जूझि है निकसि टेक गहें पन धारे की।

२०—गोहन लगना—पीछे पड़ना।

लाग्यौ है गोहन ही प्रान प्रान घात कौं।

२१—गौं गहना—अनुकूल होना, लाभ देना।

घनआनंद मीत सुजान सुनौ,
तब गौं गहि क्यौं अब यौं अरसौं।

२२—घर उजाड़ना—अपनी हानि आप करना।

करौं कित दौर ओर रहौं तौ लहौं न ठौर,
घर कौं उजारि कै बसन बन जाय है।

२३—गैल रहना—साथ रहना।

उर आवति यौं छवि छांह ज्यौं हौं ब्रज छैल की गैल सदाई रहौं।

२४—घरबसे—उपपति।

एहो घर बसै राति कौन घरबसै हो।

२५—घर बसाना—उपपति बनना।

भोर भए आए भाँति भाति मेरे मन भाए,
एहो घरबसे आज कौन घरबसे हो।

२६—घाव का नमक होना—कष्ट पर कष्ट देना।

आना कानी दे वो देया घाव कैसो लोन है।

२७—धूर करना—नष्ट करना।

उडाय हौ सरीरै घनआनद यौं धुरि कै।

२८—चवाई जोड़ना—निंदा करना।

कोऊ मुंह मोरौ जोरौं कोरिक चवाई क्यो न।

२९—चित्त पर चढ़ना—प्रिय लगना।

चित चढ़ी मूरति सुजान क्यों उतारियै।

३०—चित्त छीलना—कष्ट देना।

घनआनद जान महाकपटी चित काहे परेखनि छोलि परी।

३१—चित्त में धरना—याद करना।

है घनआनद जीवनमूल धरौ चित में कित चातिक चूकैं।

३२—छाप देना—प्रभाव डालना।

चित पै हित हेरनि छाप दई।

३३—छाती पर चढ़े रहना—सामने ही कष्ट पहुँचाना।

पैने नैन तेरे से न हेरे मैं अनेरे कहूँ,
घाती बढे काती लिए छाती पै रहैं चढ़े।

३४—जक लगना—स्वभाव बन जाना।

जक लागियै मोहिं कराहनि की।

३५—ठिक ठौर लेना—शाति या स्थिरता प्राप्त करना।

मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर अमोही के मोह मिठास पगी।

३६—ठौर रहना—किसी के घर बैठ जाना, किसी की पत्नी बन जाना।

हाय दई न बसाय बिसासी सों ठौर रहेन कौ ठौर कहा है।

३७—ठौर रहे—किसी के अनन्य प्रेम में डूबना।

ठौर रहे न कौं ठौर कहा है।

३८—ढर जाना—अनुकूल होना, कृपा करना, पक्ष में होना।

दई गयो तुहूँ निरदई ओर ढरि रे।

३९—ढही देना—पड़े रहना।

निहारियै पौरि पै देहु ढही।

४०—तलुओं से लगना—सिर से पैर तक जलना।

पायनि तेरे रची मेंहदी लखि सौतिन के तरवानितें लागति।

४१—तन बढ़न—सुख मिलना।

वेई कुञ्ज पुञ्ज जिन तेरे तन बाढ़त हो।

४२—तारे गिनना—रात में प्रतीक्षा करना।

बीतै तभी तारनि को तारनि गनत ही।

४३—तृण तोड़ना—प्रेम व्यक्त करना।

ढरि डीठि हितू तिन तोरति हैं।

४४—दिनपारना—विपत्ति डालना।

दिन पारि इतै उत रातें पढ़।

४५—दिन फिरना—परिस्थिति बदल जाना।

दिनन को फेर मोहि तुम मन फेरि डार्यौ।

४६—दूरि देश जाना—मरना।

औसर सम्हारौ न तौ अनआयवे के संग,
दूरि देस जायवो क्यों प्यारी नियराति है।

४७—द्वार पड़ना—शरण में आना।

आस मरयौ गहि द्वार परयौ जिय।

४८—दृष्टि छिपाना—दिखाई न देना।

प्रीतिपगी अखियानि दिखायके हाय अनीति सु दीठि छिपै यै।
हितू जेऊ आरते ये लेखन दुराव ही। रसखान सु० र० २००,

४९—नाक चढ़ाना—अनिच्छा अथवा हल्का रोष प्रकट करना।

पैठत प्रान खरी अनखीली, सु नाक चढ़ाएई डोलत ऐंठी।

५०—नाँव रहना—यश का बना रहना।

मन मोहन नाव रहै सु करौ।

५१—पट्टी पढना—शिक्षा लेना।

यह कौनसी पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।

५२—ताबड़ी पडना—क्रोध करना।

आवरी है बावरी तू तावरी परति काहे।

५३—नॉव सहना—अपयश सहना।

नाँव धरै जग में घनआनँद नाँव सम्हारौ तो नाँव सहौ क्यौं।

५४—नॉव सम्हारना—नाम को सार्थक करना।

नाँव धरे जग में घनआनँद नाँव सम्हारौ तौ नाँव सहौ क्यौं।

५५—पाँव रखना—डट जाना।

हेतखेत धूरि चूरि चूरि माँस पाव राखि।
विष समुदेग घान आगे उर ओटिबो।

५६—पानी बहजाना—परिस्थिति बदल जाना।

वही जमुना पै हेली वह पानी बहिगौ।

५७—परस परोस—स्पर्श।

गैल सग डोलै पे न परसपरोस है।

५८—पायन लगना—प्रणाम करना।

तुव पायनि लागि न हाथ लगै।

५९—पैरों मे मॅहदी लगना—चलने से रुकना।

उत ऊतर पाय लगीं मिहदी सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।

६०—पीठ देना—विमुख होना, उदासीन होना।

आखिन दीठहि पीठि दई है।

६१—पैंडे रहना—पीछे लगना।

मुराई हमारेई पैंडे परे—आ० घ०

यह हेरनि तेरेई पैंडे परेगी—रसखान

६२—पॉय पसारना—आग्रह करना।

इते पर हाथ को पाय पसारै।

६३—पाले पड़ना—अधीन होना।

प्रेम के पाले परे जिय जाको

६४—प्राण आखों में आना—देखने के लिये व्याकुल होना, अत्यधिक लालायित होना।

६५—प्राण जुड़ाना—धैर्य अथवा सान्त्वना मिलना।

जोरि कै कोरिक प्राननि भावते
संग लिये आखियानि में आवत।

६६—प्रान सूखना—कष्ट का अनुभव करना।

मेरे प्रान सोचन ही सूखत सदा रहैं।

६७—प्राणों का होठों लगना—मरणासन्न होना।

अधर लगे हैं आनि करिके पयान प्रान।

६८—फरा जाना—सबके सब जाना।

धीर कैसे धरौं मन सों धन झरा गयौ।

६९—बनी का मोल—करनी का फल।

आगे न विचार्यौ अब पाछे पछताएं कहा
जान मेरे जियरा बनी कौ कैसौ मोल है।

७०—बादल घिरना—उमडना, अनुकूल होना।

अब देखिये कौ लौ घिरे घन आनंद।

७१—बाँट आना या बांट करना—भाग में आना।

तेरे बाट आयौ है अगारनि पै लोटिबो
इत बाट परी सुधि रावरे मूलनि कैसे उलाहनो दीजिए जू।

७२—बाह पकड़ना—अवलब या सहायता देना।

दई गहि बाह न बोरिये जू।

७३—बात की बात—शीघ्र ही।

बात की बात सु बात विचार्यो।

७४—बाट नापना—प्रतीक्षा करना।

तेरी बाट हेरत हिराने औपिराने पल
थाके ये विकल नैन ताहि नपि नपि रे।

७५—बिक जाना—दास बन जाना, अत्यधिक मुग्ध होना ।

रीझ बिकाई निकाई पै रीझ । आ० घ०

सिगरौ ब्रज वार बिकाइ गयौ है । रसखान ।

७६—बोरना—विपत्ति में डालना ।

दई कित बोरत हौ बिन पानी ।

७७—भाग जगना—परिस्थिति अनुकूल होना ।

भाग जागैं जो कहू बिलोकै घनआनंद तौ ।

७८—भरना—कष्ट उठाना ।

हौं ही भरौं इकली कहौं कौन सौं ।

७९—मुँह मोड़ना—विमुख हो जाना ।

कोऊ मुँह मोरौ आरौ कोरिक चबाई क्यौन ।

८०—मुह लगना—बड़प्पन पाना, आत्मीय बनना ।

औछी बड़ी इतरानि लगा मुँह नेको अघाति न आभिनिपटी ।

८१—मूड चढ़ाना—अत्यधिक महत्व देना ।

पाय डारि कित मूँड चढ़ावत मदन कौं ।

८२—रंग उड़ना—फीका पडना, हतप्रभ होना ।

उड़ि चल्यौ रंग कैसे राखियै कलंकी मुख ।

८३—रात भीजना—रात बीतना ।

जीव सूक्यौ जात ज्यों ज्यों भीजत सरवरी ।

८४—रीझ बूझ करना—ध्यान देना ।

रीझ न बूझ तऊ मन रीझत । आ० घ०

रीझ की कोऊ न बूझ करैगौ । रसखान

८५—रीझ में भीजना—स्नेहार्द्र होना ।

बावरे लोगन सौं घन आनद

रीझनि भींजि कै खींजि बकै कों ।

८६—रुख लेना—किसी की ओर होना ।

एक ही टेक न दूसरी जानति जीवन प्रान सुजान लियैं रुख ।

८७—विश्वास में विष घोलना—छल करना ।

रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में यौं विष घोरियै जू ।

८८—साँस भरना—कठिनता से जीवित रहना ।

रोम रोम रही भांय रोय परौं साम भरौं ।

८९—सातौं सुधि भूलना—बुद्धि का निष्क्रिय हो जाना ।

भूलै सुधि सातौं दसा बिवस गिरत गातौं ।

९०—सिर घूमना—चक्कर आना, भ्रांति मे पड़ जाना ।

घूमत सीस लगै कब पायनि ।

९१—सीधे पैर न पड़ना—इतराना ।

घनआनंद रूप गरूर भरी धरनी पर सूध न पाय परै ।

९२—सीरा पड़ना—जीवन हीन हो जाना ।

सीरी परि सोचनि अचमेसों जरों भरों ।

९३—सीस घिसना—अनुनय विनय करना ।

हित चायनि च्वै चित चायनि कै नित पायनि ऊपर सीस घिसौं ।

९४—सीस धुनना—पश्चाताप करना ।

दुखिया जिय सोचनि सीस धुनै ।

९५—हटतार लगना या फिरना—निष्क्रिय हो जाना, निरर्थक बनजाना ।

वह रूप की रासि लखी जब तें सखि आखिन को हटतार भई ।

९६—हाथ पड़ना या हाथ में पड़ना या
हाथ लगना, हाथ रहना,
हाथ चढ़ना—अधिकार मे होना, वशीवर्ती होना ।

९७—हाथ पड़ना—

प्रान लै साथ परी पर हाथ ।

मीत के पानि परै को प्रमानै । घनानंद

रसखानि परी मुसकानि के पानि । रसखान

९८—हाथ चढ़ना—मिल जाना ।

हाथ चढ़े जिहि स्यान सुजान कहूँ तिहि पायन रे परसेते तें ।

९९—हाथ मीड़ना—पछताना।

मीडिबे के लेखकर मीडियोई हाथ लग्यो।

हाथ रहना—अधिकार मे रहना।

सु कहा लगि धीरज हाथ रहै।

हाथ लगना—वश में रहना।

तुव पायनि लागि न हाथ लगै।

१००—हाथ पकड़ना—सहायता देना।

हाथ गहै पिय पायनि डारै।

१०१—हाथ सीना—निरर्थक बना देना।

जिन ही बरुनीन सों बेध्यौ हियौ तिन ही दृग हाथ सिवावत है।

रसखान के मुहावरे

१०२—गांठि पड़ना—मिलना, प्राप्त होना।

सौगुन औगुन गाटि परैगी।

१०३—अग ढलना—किसी के रग में रगजाना।

सहसाढरि राग सो आग ढर्यौ है।

१०४—छटांक न देना—कुछ न देना।

मन लेहु पै देहु छटाक नहीं। आनदघन। सुहि० २६७

मन लीनो प्यारे चितै पै छटाक नहि देत। रसखान

१०५—घर करना—बैठना, निवास करना।

रसखानि कर्यौ घर मो हियमें।

१०६—बाट परना—बिघ्न पड़ना।

तेरो न जात कछू दिन रात विचारे बटोही की बाट परैरी।

१०७—नगाड़ा ठोककर—खुल्लमखुल्ला।

तौ सजनी फिरि फेरि कहा पिय मेरो वही जग ठोकि नगारो।

१०८—अगूठा दिखाना—उपहास करना।

नैन नचाइ चितै मुसकाय सु ओट है जाइ अगूंठा दिखायौ।

१०९—मन मारना—मन को वश में करना, इच्छा को दबाना।

मन मारि के आपु बनी हौं अहेरी।

११०—पहाड़ हो जाना—दुर्गम बनना।

पग पावत पौरि पहाड़ भई।

१११—नाच नचाना—आज्ञा अनुवर्तन करना।

नचिये सोई जो नाच नचावै।

११२—काले का विष राख से उतारना—कठिन समस्या को साधारण उपाय से सुलझाना।

कारे विसारे को चाहै उतारयौ अरे विष बांवरे राख लगाइके।

११३—दाम सवारना—देखभाल करना।

वारि कै दाम संवार करौ।

११४—ताक में रखना—दूर करना।

इहि पाख पतिव्रत ताक धरौ जू।

११५—नेह भीजना—स्नेह मुग्ध होना।

नेह भीज्यौ जाव तऊ गुडालौं उड़यौं चहे।

११६—रंग में ढलना—अनुवर्ती होना।

मानि है काहू का कानि नहीं जब रूप ठगी हरिरंग ढलेगी।

११७—गाठ खोना—शिथिल करना।

लाजगाठन खोल दै।

———

व्याकरण

आनदघन जी के समस्त वाङ्मय में निश्चित व्याकरण व्यवस्था विद्यमान है। वह व्यवस्था ब्रजभापा की है। क्रिया कारकों का रूप विधान, ध्वनियों का उच्चारण, तद्भव रूपों का प्रयोग, कृदन्त-तद्धित की व्यवस्था आदि सब भापाविकास ब्रजभापा के स्वभाव के अनुसार हैं। साथ ही समास, नवीन रूप और शब्दों का निर्माण कवि के भापा सबंधी साधारण विकास के सिद्धांतो का परिचय देते हैं। व्याकरण व्यवस्था नीचे दी जाती है।

नाम रूप

कारक

कर्ता कारक

अकारात	एक वचन	बहुवचन
	राग, रागौ	राग, रागहि, रागन
	आरत	आरतें
आकारान्त	लता	लतानि
इकारान्त	आँखि	अँखिया, अँखियानि आखैं
उकारान्त	आँसु	अँसुवा

कर्म कारक

विभक्ति चिन्ह	नि, ऐ, एँ, न, हि, हिं, ओ, कों।	
नियान	एक वचन	बहु वचन
अकारान्त स्त्री०	चख	चखनि, चखन
अकारान्त पु०	पुंज	पुंजनि।
आकारान्त स्त्री०	भावना	भावनानि
इकारान्त स्त्री०	आँखि	आँखिन अखियानि
उकारान्त स्त्री०	हितू	हितूनि
एँ या ऐ		
	विपै	दोषै
	प्रानै	मनै
हि··	चदहि, अबीरहि	
औ ··	आपुनपौ, करेजौ	
कों ··	देखिबेकों, गुननिकों, पपीहाकों	

१०

करण कारक

विभक्ति चिन्ह सों, एँ,

	एक व०	ब० व०
सो···	अचमे सों	अपराधनिसों, नैननिसो
ए···	परेखें मरोरेँ	सोचनि, सोचन
निर्विभक्तिक ··	सोच	

संप्रदान कारक

विभक्ति चिह्न को, कौं, हि

	एक व०	बहु व०
	मोकौं	परकाजहि
		प्रानंनि
निर्विभक्तिक		

अपादान कारक

वि० चि० ते, तें, सों, हि ।

एक वचन	बहु वचन
सुधाते	हमतें
लवतें	दिनानितें
ब्रजसों	
ब्रजहि ।	

संबंध कारक

वि० चि० का, के, की, को ।

एक वचन	बहु वचन
प्रानके	प्राननके
पौनको	अमोहिन
चाहिनकी	नैननिकी

अधिकरण कारक

वि० चि० एँ, मधि, मैं, माझ, पै, बीच,

एक वचन	बहु वचन
हियेँ	
पाती मधि	

हिये मैं	
फरेजे वीच	नैननिमधि
	नैननि मे
	अगारनि पै

विशेषण

व्रजभाषा मे विशेषण अपने विशेष्य के लिंग वचन के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। पुलिंग एक वचन मे ओकारात, बहुवचन मे एकारान्त, स्त्री लिंग के एक वचन तथा बहु वचन मे ईकारात विशेषण आते हैं। अनेक स्थलो पर यह रूप परिवर्तन नहीं भी होता। उदाहरण के लिए नियमित रूप—

एक वचन	बहु वचन
अकेलो जीव	वियोग भरे असुवा
मति आवरी बावरी।	प्यासभरी अखिया

अपवाद···मूरतिवत महालक्ष्मी।
अथिर उदेगगति।

समास

अव्ययी भाव समास

नैन	उ	नैनउ—नेत्र भी
आपा	उ	आपौ—आप भी
मीच	उ	मीचौ—मृत्यु भी
लागी	इ	लागियै—लगीही
मेरी	इ	मेरियै—मेरी भी
एक	ए	एकै—एक ही
पख	नि	निपाख—पखरहित

तत्पुरुष समास

सवंघ···अतन + जतन = अतनजतन—कामदेव का प्रयत्न।
पीर + मीर = पीरमीर—अनेकपीडाएँ
आसू + प्रभाह = प्रवाहआँसू—आसुओं का प्रभाह
रुसनि + रस = रसरुसनि—अप्रसन्न होने का रस

देखी + न = अनदेखी—न देखी हुई
निहारनि + न = ननिहारनि—न देखने को

द्वन्द्व समास

रैनि + दिना दिनरैनि या रैनिदिना—दिन और रात।

समासोत्तरतद्धित

अनकान + आनाकानी—न सुनना।

क्रिया

अभिधानभाव (Indicative mood)

वर्तमान काल

		एक वचन	बहु वचन
प्रथम पुरुष	स्त्रीलिंग	परति, परति है	परतिं, परति हैं
		बरसै, बरसै है।	बरसैं, बरसैं हैं।
	पुलिंग	लसत	
		तरसै	तरसैं
		मरहि	
मध्यमपुरुष	पुलिंग	जानत	जानत
		जानै	जानैं
		जानत हौ	जानहौं
	स्त्रीलिंग	जानति हैं	जानति हौ
		जानै	जानैं
उत्तमपुरुष	स्त्रीलिंग	असीसति	असीसत
		देखति हौं	रोवति हैं
	पु०	धावत	धावत
	स्त्री० पु०	जरौं	रमैं
		बिताऊं बितावैं	

पूर्णवर्तमान

पु०	लाग्यो है	बुझे हैं
स्त्री०	छाई है	गई हैं

अपूर्णवर्तमान

पु०	मचाय रह्यौ
स्त्री०	उमगियै रहति है

भूतकाल

	ए० व०	ब० व०
पु०	उघरौ	
	देख्यौ	हेरे
	ढरिगौ	ढरिगे
	मुरझानौ	मुरझाने
स्त्री०	छाई	छाई
	हिरानी	हिरानी
	करी कीनी की	करी की कीनी
पु०	कियौ करयौ	किये कीने करे

भविष्यकाल

प्रथम पुरुष पु०	दहैगौ	लेहिंगे
स्त्री०	चलैगी	चलेंगी
	बोलिहै	बोलिहैं
मध्यम पुरुष स्त्री० पु०		जगौगे
		त्रसाय हौ
	पालिहौ	पालिहै जै हैं

(Imperative mood)

आज्ञाभाव

चाहौ　　　　अरसाहु

प्रार्थनाभाव

परेखिये[1]　　कीजीयिजू[2] हूजै

विधिभाव

पहचानौ　　　　पहचानैं

जताइयै

पहचाना

देहुँ

१—चातिक विचारें सौं चूकनि परेखियै　　घ० क० १६

२—इस रूप में 'जि' विकरण पहले से अधिक बढ़ गया है ।

लहै[1]

हेतु हेतु मद्भाव

पावतौ[2]

स्वभावभाव

निहोरत है, बरस्यौ करै[3]

कर्म वाच्य तथा भाव वाच्य

बखानियै, लहै, वारे[4] हस्यौ वितैयै, ढूकियौ

पूर्वकालिक क्रिया

√बढा–बढाय, √आ–आनि कै, √बो–बै, बोय, √हो–है, √खो–खोय।

विभिन्न कर्तृक पूर्व कालिक क्रिया

√हेर हेरैं, √आ   आएे[5],

क्रियार्थक क्रिया Infinitive mood

√देख देखनकौ, अविलोकिवेकौ

क्रियार्थक सज्ञा Verbal noun

प्रत्यय-नि √उरझ उरझनि, √बतरा–बतरानि, √घोट–घोटिबो

भाववाचक संज्ञा

ई प्रत्यय √चौर–चौरई, √निठुर–निठुराई, √ताई प्रत्यय, अमिल-ताई, रि प्र० बटवारि।

१—रोम रोम रसना है लहै जौ गिरा के गुन तऊ जान प्यारी निबर न मैं न आरतैं। घ० क० ३२

२—जौ जिय रावरी प्यार नपावतौ · तौ रुसे भये कौ परेखौ न आवतौ।

३—अग अग रूप रस आ बरस्यौ करै घ० क० ७५

४—वारे ये विचारे प्रान घ० क०

५—पूर्वकालिक क्रिया का कर्त्ता व्याकरण नियमानुसार वही होना चाहिए जो उत्तरकालिक क्रिया का होता है। पर ऐसे वाक्यों में जहा भिन्न कर्तृक पूर्व काल क्रिया हो तो उपर्युक्त रूप बनते है। वे धातु से भाववाचक सज्ञा बना कर उसके अधिकरण रूप प्रतीत होते हैं जैसे उत्क्रम में अस्तगते सविनारि मुनि रात्रिगत वान्।

प्रक्रियाएँ

नाम धतु

अनन अपनाय हौं जू। अरस—अरसाहु। अधिक अधिकाति
प्रमान प्रमानैं।

प्रेरणार्थक

√वढ वढाय हौं

इच्छार्थक

√देख दिखास

वीप्सार्थक

चितार√चित

———

चौथा परिच्छेद

(शैली, छंद, अलंकार और दोप)

चतुर्थ परिच्छेद

शैली

१—भाषा शैली

आनद घन की शैली के दो भाग किए जा सकते हैं, वक्र तथा ऋजु। भक्ति सम्बन्धी रचनाओं मे ऋजु तथा रसात्मक रचनाओ मे वक्र शैली का प्रयोग किया गया है। इन दोनों के भी दो उपभेद किए जा सकते हैं। १—सश्लिष्ट तथा २—विश्लिष्ट अथवा साधारण। ऋजु शैली में वर्णनात्मक निबध तथा गेय पदो की रचना हुई है। ये रचनाएँ भक्ति भाव की सरल मस्ती में या कीर्तन की धुन में लिखी गई हैं। इसलिए भावों की गहराई और वक्रता का चमत्कार दोनों को ही कवि ने छोड़ दिया है। रसात्मक रचनाओं का स्वरूप लौकिक तथा रहस्यात्मक होने से, प्रतीत होता है, वृन्दावन के सतों में उनका विशेष आदर नहीं हुआ। कवि को भी स्वय इससे सतोष नहीं हुआ यद्यपि भक्ति भाव के मार्मिक भाव उनमें भी पर्याप्त सख्या में व्यक्त हुए हैं। इसके फलस्वरूप कवियों की चमत्कार प्रधान शैली का त्याग कर सत शैली में भक्ति के भाव उन्होने पदो तथा निबन्धों मे व्यक्त किए हैं। यह परिवर्तन सहेतुक था इसका संकेत भडौवा छदो मे तथा कवि के एक गीत में मिलता है। भड़ौवाकार ने उनके विषय मे 'हुरकिनी सुजान तुरकिनी को सेवक है, तजि रामनाम वाको पूजै काम धाम है।' तथा 'बैन को चुरावे वाको मजमून लावै।' आदि लिखा है। प्रतीत होता है कि भड़ौवाकार को 'सुजान' छाप के वक्रतापूर्ण छदो मे फारसी के भावो की चोरी तथा वेश्या प्रेम की गन्ध आती थी। एक पद मे कवि स्वयं भक्ति भाव की रचना करने पर संतोष प्रकट करता हुआ कहता है।

रसना गुपाल के गुन उरझो।
बहुत भाँति छल छद वद यकवाद फदनि सुरझो॥[1]

१—आनद घन पदावली ६८७।

यहाँ 'छल छद वद तें सुरभी' मे वक्र शैली के त्याग की व्यंजना प्रतीत होती है। कारण कुछ भी हो शैली के दो भेद स्पष्ट हैं।

ऋजु शैली के सश्लिष्ट रूप मे संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग किया गया है जो वक्र शैली में नहीं मिलता। नृसिंह भगवान की स्तुति का निम्नलिखित पद्य इसका निदर्शन है।

जयति जयति नरसिंह प्रहलाद आरति-हरन वत्सल-विपुल-ग्रह-
विनोदकारी।

पूरन-प्रताप, अरितम-विहंडन, खंड-खडनि-प्रचंड-जसतुड-चारी।
सत्य-सकल्प-सदोह-संसर्ग-सग्राम-जृंभा-असुर-सघहारी॥[1] इत्यादि

इसका दूसरा रूप सीधी सरल भाषा का मिलता है जो पदों मे तथा वर्णनात्मक निबधों में व्यवहृत हुई। निबधो मे सरलता अपेक्षाकृत अधिक है। केवल 'गोकुल विनोद' सश्लिष्ट शैली मे लिखा गया है। इस सरल शैली की विशेषता यह है कि जिन भावों को कवि ने लक्षणा आदि के क्लेश के साथ व्यक्त किया है उन्हें ही यहाँ सीधी सरल भाषा मे प्रकट किया है। चमत्कार और प्रभाव अवश्य कम हे। 'प्रेम पहेली' में गोपिका का वचन देखिए।

मोहन इत है निकसे आय, हौं ठाढी अपने जु सुभाय।
डीठि डीठि मिलि भयौ मिलाप, दुरि दुरि मिली आपही आप।
फूलि भूलि वेहू अरु हौंहू, रहे लोभ लगि डर अरु गौंहू।
उनकी वे जानें क्यों कहिए, पै अपनी मन कहूँ न लहिये।
बहुत पची अपनो सो ऐंचि, हसि चितवनि लैगई सुखैंचि।

गेय पदों में भी प्रयः ऐसी ही शैली का प्रयोग किया गया है।
जैसे—

बनवारी रे तें तो बावरी करी।
बिसवासिनि विषभरी बाँसरिया तनिक बजाइ सब सुरति हरी।
मन की बिथा कौनसों कहिये बीतत जैसे घरी घरी।
आनंद घन सनेह झर झुकनि घर बाहिर अब उघरि परी।[2]

१—वही १९६। २—वही ५०५।

सरल शैली में भी कहीं कहीं कवित्त सवैयों की सी लाक्षणिक वक्रता मिलती है।

> निकसत लसत सांवरो छैल, रोकत मन नैनन की गैल।
> अटक मटक की भेंट अटपटी, हित कनौड़चित चाह चटपटी।

> ब्रजरस उफनि बढ़े हिय सोत। रसना ह्वै है प्रगटित होत। ब्रजस्वरुप,
> भावत रंगनि करि बढ वारि। वै-सम्हार ह्वै रहे सम्हारि। भा० प्रकाश

पर ऐसे उदाहरण अत्यल्प हैं। उन्हें अपवाद माना जा सकता है। जहाँ कीर्तनादि के उद्देश्य से रचना की गई है वहाँ काव्य के गुण-चमत्कार, मार्मिकता आदि नहीं हैं। आराध्य के नाम गुण आदि का स्मरण किया गया है। 'प्रिया प्रसाद' की प्रत्येक पंक्ति 'राधा' नाम से तथा 'रसनायश' की 'रसना' शब्द से प्रारम्भ होती है। इस प्रकार ऋजु शैली के संश्लिष्ट तथा विश्लिष्ट दोनों स्वरूप इनकी रचनाओं में प्राप्त होते हैं।

दूसरी शैली वक्रतापूर्ण है। कवित्त सवैयों की रसात्मक रचना इसी शैली में की गई है। इसमें संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग नहीं किया गया। भावों की मार्मिकता तथा गंभीर प्रभावशीलता इसके गुण हैं। वक्रता का आधार लक्षक भाषा है। मुहावरे भी जिन्हें रूढि मूल लक्षणा का घिसा हुआ रूप कह सकते हैं इस प्रयोजन के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

लाक्षणिक प्रयोग जैसे—

> जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगें,
> अब कबहू न दबै भरी भभक उमाह की।[1]
> रीझि बिलोएई डारति है हिय।[2]
> देखियै दसा असाध अँखियाँ निपेटिनि की
> भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं।[3]
> जान प्यारी सुधि हू अपुनपौ बिसरिजाय।[4]

इनमें जो लक्षणाएँ की गई हैं वे पूर्ण सिद्ध नहीं हैं। इसलिए इन्हें प्रयोजनवती कहा जाएगा। इनका यह रूप कवि ने ही प्रयुक्त किया है। दूसरे रूप मुहावरों की लक्षणाओं के भी हैं। जैसे—

१—सुहि० ६१

२—वही २७६

३—वही २०० सुहि० ११८

सूक्ष्म तथा गभीर होते हैं। वे कवि हृदय में अल्प क्षणों के लिए ही आते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिए यदि वह अनुरूप चेष्टाओं तथा वस्तुओं की बौद्धिक खोज करेगा तो वे लुप्त भी हो सकते हैं। उसे तो शीघ्र से शीघ्र उन्हें भाषा में बाँधना चाहिए।[1] आनदघन के नीचे लिखे सवैये मे छोटे छोटे भाव इतनी शीघ्रता से परिवर्तित होते प्रतीत होते हैं कि उनके लिए वस्तु विधान किए जाएँ तो काव्यत्व ही नष्ट हो जाए—

> **खोय गई बुधि, सोय गई सुधि, रोय हसे, उन्माद जग्यौ है।**
> **मौन गहैं, चकि चाकि रहै, चलि बात कहै तैं न दाह दग्यौ है।**
>
> इत्यादि

वस्तु प्रधान शैली विवेक प्रमुख साहित्य के लिए, जो शास्त्रीय मार्ग का होता है, उपयुक्त है। स्वच्छंद मार्ग के भाव प्रधान कवि के लिए तो भावों का सीधा वर्णन उचित होता है।

आनद घन की शैली मे भावो तथा हृदय की अन्तर्दशाओं का प्रत्यक्ष वर्णन है। वस्तु द्वारा परपरा से नहीं। इनमे रमणीयता तथा अनुभूति-योग्यता लक्षणा द्वारा उत्पन्न होती है। लक्षणा की वक्रता कहीं साम्यादि द्वारा अरूप भावों को रूपवत्ता प्रदान करती है, कहीं उक्ति के चमत्कार से विच्छित्ति का योग बढा देती है। अभिलाष का वर्णन करता हुआ कवि कहता है।

> **रस सागर नागर स्याम लखैं अभिलाखनि धार मंझार वहौं।**
> **सु न सूझत धीर को तीर कहूँ पचिहार कै लाज सिवार गहौं।**
>
> **सुहि० १२.**

× × ×

यहाँ अभिलाष भाव 'धार' उपमान का, 'धीर' भाव 'तीर' का तथा लज्जा भाव 'सिवार' का रूप धारण कर प्रत्यक्ष योग्य हो जाते हैं। फलतः अभिलाषामग्न व्यक्ति का जलमग्न व्यक्ति के समान चित्र बन जाता है।

१—साहित्यमीमासा—डा० सूर्यकांत—"वे (मनोवेग) क्षणभगुर हैं। हृदय में इनकी चिनगारियाँ सी उठती हैं और क्षणभर चमककर वहीं विलीन हो जाती हैं।" पृ० ८

नीचे लिखे सवैये मे लाक्षणिक वक्रता के सहारे भाववर्णन मे चमत्कार का पुट लगाया गया है।

> रीझि बिकाई थिकाई पै रीझि, थकी गति हेरत हेरन की गति।
> जीवन घूमरे नैन रुखें मति बौरी भई गति वारि कैं मोमति।
> बानी बिलानी सुबोलनि पै, अनचाहनि चाह जिवावति है हति।
> जान के जी की न जानि परैं घनआनंद या हू तें होति कहा अति।
>
> सुहि० २४

इसी प्रकार—

> साहस सयान ज्ञान ताकत तुम्हें सुजान,
> तब ही सबनि तजी अब हौं कहा तजौं।
> रावरेई राखे प्रान रहे, पै टहे निदान,
> यों ही इन काज लाज बिन हूं खरी लजौं।
>
> सुहि० ९२।

उपर्युक्त दोनों पद्यों में रीझ, ममता, चाह, मति, हेरनि, वाणी, साहस सयान, ज्ञान, लज्जा आदि का साक्षात् वर्णन है। उन्हें लक्षणा द्वारा चमत्कारी तथा रमणीय बनाया गया है। इस तरह बुद्धि तथा हृदय दोनों की तृप्ति का पदार्थ आनदघन के काव्य में निहित रहता है। भाव प्रधान शैली का ऐसा सरस एव चमत्कारपूर्ण रूप उपस्थित कर कवि ने हिन्दी साहित्य में एक नवीन मार्ग प्रदर्शित किया है और पुरानी बातों को ही नए ढग से कहने वाले रीति मार्गी कवियो की रचना से अतृप्त बौद्धिक वृत्ति के रसिकों के लिए रसास्वादन के लिए नया क्षेत्र निर्मित किया है।

भावों की अतिरंजना

वेदना की विवृति, प्रेम की एकपक्षीयता, विरह की प्रधानता, भाव प्रधान शैली का आश्रयण, आदि तत्व इनकी रचनाओं में फारसी प्रभाव से आए हैं। भाषा की लाक्षणिकता तथा भावों की अतिरंजना की प्रवृत्ति भी उसी स्रोत से आये हैं। उनमें भावों की अतिरंजना की मात्रा तो बहुत कम है। जितनी है वह एक सीमा के अन्तर्गत है। लाक्षणिकता के गुण को इन्होंने बहुत अपनाया है पर वह उर्दू-फारसी का अनुकरण नहीं है। अपनी भाषा के गुणों का ही उसमें उपयोग किया है। फारसी से केवल प्रेरणा

ली है। उसका विशद विवेचन भाषा के प्रसग मे किया जाएगा। भावो की अतिरजना की परीक्षा की जाय।

फारसी साहित्य मे विरह के कष्ट तथा वेदनाओं का चित्रण इतना अतिरजित होता ह कि विरह या तो करुण रस मे परिवर्तित हो जाता है या फिर वीभत्स मे। भारतीय मनीषियो ने शृगार को उज्ज्वल और शुभ्र माना है अतः कोई अशोभनतव इसमे नहीं आता। आनदघन ने इस विषय मे हिन्दी को रस परपरा की रक्षा की है। विरह कष्टो का प्रचुरता से वर्णन करने पर भी उसे वीभत्स रूप नही दिया। रक्त मासादि का प्रदर्शन न कर प्राणादि की तड़फन तथा भावो म हलचल दिखाते रहे हैं। फिर भी कुछ मात्रा मे अतिरजना विद्यमान है। 'प्राण कष्टों के कारण होठ, आँखो आदि में आ वसते हैं। वे पखेरू होकर रूप का चुगा लेकर विरह के फदे मे पड़ गये हैं। उन्हें विरह व्याध ने निपाख कर दिया है। 'शरीर मे विरह की दावाग्नि भड़कती है तो हृदय फट जाता है, सास वास की तरह चटक जाते हैं। सुजान की पीठ, अनखोहा स्वभाव उसका न देखना आदि पर कवि अपने प्राण न्यौछावर करता है। सुजान अपने कठ की सुराही मे वचनों की शराव लेकर अधर के प्याले मे भरती है और कानो के द्वारा प्रेमियों के प्राणों को पिला देती है पर उनकी चेतना को स्वय पी लेती है। इन भावों में फारसी प्रभावित चिंतन झलकता है। दो एक स्थानो पर यह प्रवृत्ति कुछ आगे वढ गई है। प्रेमी अपने पत्र मे प्रिय को हृदय के घाव लिखता है। नेत्र वाणों से विंधेप्राण सिसकते हैं, उठ नहीं सकते। वे प्रीति के वोझ से दव कर कुवडे हो गये हैं। चिंतन में तो सभी रीतिकाल के कवि थोड़ी वहुत मात्रा में फारसी साहित्य से प्रभावित थे। रसलीन कुन्दनशाह आदि तो उसका अनुकरण ही करने लगे थे। आनदघन ने उसे पचाकर अपने साहित्य के अनुकूल रूप में भावों को रक्खा है, कहीं कहीं सीमा का उल्लघन भी है।

४—रहस्यवाद

इनकी शैली में रहस्य भावना की भी झलक कहीं कहीं प्राप्त होती है। कहीं सम्पूर्ण पद्य में, कही उसकी एक पक्ति या वाक्य में ऐसे सकेत मिलते हैं जिनसे प्रेम भाव के अतिरिक्त आध्यात्मिक भावों की भी व्यजना होती है। प्रस्तुत के भाव या व्यापारों के वर्णन में परमेश्वर की व्यापकता अतर्यामिता, एकता

आदि गुणों के संकेत किए गए हैं। प्रिय आनंदघन के दर्शन के समय प्रेमी उनके तेज से हतप्रभ होकर उन्हे पूरा नहीं देख पाता। 'घन आये तो साथ ही बिजली की कौंध भी आई जिसने प्रिय को देखने ही नहीं दिया। बाद में बुद्धि को संदेह होने लगा कि वे आनंद घन सचमुच हैं भी या नहीं।

चेटक रूप रसीले सुजान दई बहुतै दिन नेकु दिखाई।
कौंध में चौंध भरे चख हायँ कहा कहौं हेरनि ऐसें हिराई।
बातें बिलाय गई रसना पै, हियो उमग्यौ, कहि एकौ न आई।
साँच कि संभ्रम हौ घनआनंद सोचनि ही मति जाति समाई।

सुहि० २५२

यहाँ प्रस्तुत वर्ण्य भाव प्रिया-मिलन है पर वह घन के अप्रस्तुत व्यापारो द्वारा व्यक्त किया गया है। अंतिम पंक्ति मे परमेश्वर की सत्ता के अस्ति-नास्ति के संदेहों की ओर भी संकेत किया गया जान पड़ता है। इसकी छाया मे ऊपर की तीनो पंक्तियो का अर्थ परमेश्वर को प्रिय मान कर तत्परक किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रेमी प्रिय आनंदघन को लक्ष्य कर कहता है।

उघरौ जग छाय रहे घनआनद चातिक ज्यों तकियै अबतौं।

यहाँ संसार के आँखो से हट जाने तथा आनंदघन के ही छा जाने से विरक्तों की उस स्थिति की व्यंजना प्रतीत होती है जब कि संसार की आसक्ति छूट जाने पर केवल परमेश्वर का ही ध्यान शेष रह जाता है। हृदयस्थप्रिय को प्रेमी उपालंभ देता है कि तुम हो तो हृदय के निवासी पर हम तुम में प्रवासी का सा अंतर बना हुआ है। इसी तरह इसका यह भी उपालभ है कि न जाने कब से प्रिय और प्रेमी साथ-साथ रहते आए हैं पर आपस में एक दूसरे की 'चिन्हारि' नहीं हो सकी। ऐसी उक्तियो मे कोरा भौतिक प्रेम का वर्णन नहीं किया गया प्रतीत होता, अध्यात्म सत्ता की ओर संकेत किया गया प्रतीत होता है। कुछ पद्यों में तो दार्शनिक भाव ही प्रस्तुत रूप से व्यक्त किए गए हैं। पर वे भी वर्णित हुए हैं आनद के घन के व्यापारो द्वारा ही। जैसे—

थिरता अथिर सोई थिर देखियत देखौ,
सब ही के जिय नेकौ मीच सौं न है चिन्हारि।
होनि सो सही है अनहोनि हू वही है, ऐसी,
होनि-अनहोनि को न सोच कोटयै विचारि।

उघरनि छावनि सुजान आनदघन मैं,
उघरि छए हैं पै पसारो आपनो पसारि ।
सुहि० ४२९

यहाँ ससार की नश्वरता तथा अस्थिरता का वर्णन कर उसे आनद के घन परमेश्वर का ही प्रसार बताया है जिसमें स्वय परमेश्वर भी छिप गया है। 'तत् सृष्टा तदेव अनुप्राविशत् ।' इस 'प्रकार की उक्तियो को समासोक्ति या अप्रस्तुत अलकार कह कर आलकारिक अभिव्यक्त नहीं कहा जा सकता। इनमे तो बादल और चातक, प्रेमी और प्रियतम, तथा ज्ञानी भक्त और भगवान् इस सभी का योग रहता है। अत. इसे रहस्य भावना ही मानना चाहिए।

इसकी मूल प्रेरणा का विचार किया जाय तो इनसे पूर्व चार परपराएँ रहस्य भावना की प्राप्त होती हैं। ज्ञानमार्गी कबीर आदि की, सूफियो की, वैष्णवो की तथा फारसी साहित्य की। इनमे ज्ञान मार्गी निर्गुण सतो की रहस्य भावनाओ मे अध्यात्म भावो की प्रमुखता रहती है। वे काव्य मे प्रस्तुत होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति के लिए विविध प्रकार के अप्रस्तुतो का उपयोग किया जाता है। इसे अप्रस्तुत प्रशसा पद्धति का रहस्यवाद कहना चाहिए। आनदघन ने सब कुछ घन के व्यापारो द्वारा ही कहा है। वह घन भी घनश्याम है, वही प्रस्तुत है। अत. कबीर आदि ज्ञान मार्गी सतो की रहस्य-शैली से इनकी शैली भिन्न है। उन्होने तो प्रस्तुत आनदघन श्रीकृष्ण प्रिय का ही वर्णन प्रमुखतया किया है। अरूप, व्यापक, परमेश्वर की प्रतीत तो यत्र तत्र हल्की सुगध सी भासित हो जाती है। इस रूप में वे सूफियो की परपरा से मिलते है पर सूफियो का अध्यात्म साप्रदायिक होता है और उसकी व्यजना समस्त कथा द्वारा की जाती है। आनदघन का अध्यात्म सर्व साधारण दार्शनिक भावना है—जैसे परमेश्वर की व्यापकता, एकता, अतर्यामिता आदि। इस तरह दार्शनिक सिद्धान्तों की दृष्टि से आनदघन सूफियों से भिन्न हैं। दूसरे इनकी अध्यात्म भावना कथा द्वारा व्यग्य नहीं है। परमेश्वर का क्षणिक तथा अर्ध-आभास होना, उनका गुप्त-प्रकट बने रहना, प्रकृति में छिपे रहना आदि परमेश्वर विषयक धारणाएँ सूफियों के प्रभाव से बनी तो प्रतीत होती हैं पर ये भारतीय दर्शनों में भी विद्यमान हैं। निवार्क सप्रदाय में भी परमेश्वर के साथ भेदाभेद सबध माना जाता है। अतः इतना ही कहा जा सकता है कि चिंतन पक्ष में इन पर सूफियों का प्रभाव हो सकता है, अभिव्यक्ति पक्ष में

नहीं। आनदघन स्वय सखी संप्रदाय के उपासक थे। जिसमे गुह्य रहस्य की भावना नियतरूप से वर्तमान रहती है। दूसरी ओर फारसी साहित्य का 'मिस्टीसिज्म' भौतिक प्रेम मे अध्यात्म प्रेम की भावना का ही नाम है। यह सिद्धान्त सौन्दर्य धर्म का है जिसके अनुसार स्वर्गीय पूर्णता जगत के अपूर्ण सौन्दर्य के आधीन समझी जाती है।

आनदघन द्वारा फारसी साहित्यसे अनेक प्रेरणाएँ स्पष्टतया ली गई प्रतीत होती है तो रहस्य भावना मे भी उसका प्रभाव अवश्य होना चाहिए। इनके प्रेम की अनुभूति का स्वरूप भी फारसी की तरह लौकिक ही है। राधा और कृष्ण तो तत्कालीन काव्य परपरा के कारण काव्य मे गृहीत हुए हैं। अतः सखी सप्रदाय, फारसी साहित्य तथा सूफी कवि, इन तीन की रहस्य भावना से कवि ने प्रेरणा ली प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त इनकी व्यक्तिगत भावना भी इसमे हेतु है। उन्होने अपने समस्त काव्य की आधार वस्तु 'आनद के घन' को बनाया है। प्रेम, भक्ति, ज्ञान आदि के सब भाव घन के द्वारा ही व्यक्त करने की एक शैली कवि ने बनाली है। इसलिए आनंदघन के व्यापार प्रतीकवत व्यवहृत हैं। उपमानो का प्रतीकवत आश्रयण रहस्य भावना का तत्व है। कवि अपने नामार्थ कोसमस्त काव्य मे व्याप्त करना चाहता है। यह बात घन के व्यापारो को प्रतीक बना कर ही किया जा सकता था। वही इन्होने किया है। परमात्मा के सदा ध्यान में बने रहने को, 'घन का छा जाना' तथा ससार की दृष्टि से हट जाने को 'उघडना' कवि ने कहा है। इस तरह आनदघन ने प्रस्तुत वस्तु के व्यापारो को ही जहाँ जहाँ प्रतीकवत् वर्णित किया है वहीं वहीं रहस्य भावना का अश आ गया है। प्रतीक पद्धति के आश्रयण के कारण ही इनकी रहस्य शैली भारतीय रहस्य शैलियो के निकट कम है फारसी रहस्यवाद के निकट अधिक है। फारसी काव्य मे प्रणय व्यापार प्रतीक बन कर ही दार्शनिक, सामाजिक आदि भाव समर्पित करते हैं। महाकवि हाफ़िज कहते हैं—चाहे जितना ही पवित्र मनुष्य क्यों न हो लेकिन तब तक वह स्वर्ग में नहीं जा सकता जब तक मेरे समान अपने वस्त्रों को शराब खाने में रहन नहीं कर देता।[1] यहाँ शराब आत्म विस्मृति प्रेम का प्रतीक ही कहा जायगा।

१—अयोध्या प्रसाद गोयलीय शेर श्रो शायरी पृ० ६४ पर उद्धृत।

इन्होंने अपने दार्शनिक विचार भी ऐसे व्यक्त किए हैं कि परमेश्वर विषयक मान्यता में रहस्य भावना का अंश प्रतीत होता है। परमेश्वर में 'उघरनि' और 'छावनि' अर्थात् प्रकट होना तथा गुप्त रहना दोनों गुण वर्तमान हैं। कवि प्रिय परमेश्वर को उपालंभ देता हुआ कहता है कि—

'आप रसीले हो। मेरे कहे का बुरा न मानना। मेरा मन तो तुम्हारे गुण गा गा कर उनमें और उलझ गया है। अभिलाष यही है कि जिस प्रकार कानों से सुना है उस प्रकार आँखों से देखें भी। पर तुम दिखाई नहीं देते हो। वैसे सर्वत्र छाए हुए हो। हे घनआनंद, तुम ऐसे आश्चर्यपूर्ण हो कि तुम्हें पाकर भी हम खोए खोए से रहते हैं। हम तुम एक वास में रहे हैं पर कभी आपस में परिचय नहीं हो सका।'

भले हौ रसीले अरसीले सुनि हूजियै न,
गुननि तिहारे उरझ्यौ है मन गाय गाय।
काननि सुनी है तैसें आँखिन हू देखैं जातें,
दीखत नहीं औ सब ठाव रहे छाय छाय।
ऐसें घनआनद अचंभे सों भरे हौ भारी,
खोए से रहत जित तित तुम्हैं पाय पाय।
एक वास बसे सदा वालम विसासी, पै न,
भई क्यौं चिन्हारि कहूँ हमैं तुम्हैं हाय हाय।

सुहि० ४६८

इसी प्रकार पदावली के पद में कवि ने कहा है— हे प्रभु मन मोहन तुम्हारे अगणित गुण जितने हैं उनका वर्णन नहीं हो सकता। वे कुछ उघड़े हैं कुछ ढके हुए। कुछ पता नहीं चलता कि तुम निकट हो या दूर हो।

इते ढके अरु उघरे केते।
कैसे कै कहि सकौं रावरे मनमोहन अगनित गुन जेते।
निकट दूरि लहि परत नहीं कछु आनदघन रसमगन सचेते।
हाइ हाइ बिसवासी बालम कबहूँ तौ आँखिन सुख देते।

पदा० ७८

इनकी रहस्य भावना की यह विशेषता है कि उसका प्रभाव प्रकृति-वर्णन पर विशेष नहीं पड़ता। प्रेम व्यापार का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है। काव्य की सरसता दर्शन की रूक्षता से विकृत नहीं होती।

५—उक्ति की वक्रता—

वक्रता इनकी शैली की प्रमुख विशेषता है। वक्रता का अर्थ है टेढ़ी या असाधारण उक्ति। भारतीय अलकार शास्त्र मे इसे वक्रोक्ति कहा गया है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति को अलकार मार्ग, रीतिमार्ग आदि की तरह काव्य का एक पृथक मार्ग ही प्रतिपादित किया है। उसका स्वरूप यह है।

काव्य का प्राण रस है। कवि का यही लक्ष्य है। कवि को अपनी रचना द्वारा श्रोताओं तथा सामाजिकों मे काव्य रस का उद्रेक करना चाहिए। काव्य रस अलौकिक एव असाधारण वस्तु है। अतः कवि का प्रयत्न असाधारण होगा तभी रसकी सिद्धि हो सकेगी। अर्थात् शब्द और अर्थ का निबंधन परस्परोत्कर्ष का हेतु होना चाहिए। कवि के प्रयत्न का ही अर्थ है अभिव्यक्ति। फलत. साराश यही हुआ कि काव्य को प्रभावशील बनाने के लिए कवि प्रतिभा को असाधारण अभिव्यक्ति करनी चाहिए। आचार्य कु तक ने इसी असाधारण अभिव्यक्ति को वक्रोक्ति कहा है। उन्होंने स्वाभावोक्ति मे इसका भेद बता कर इसके छ भेद बताए हैं। पदवक्रोक्ति, पदपरार्धवक्रोक्ति, पदपूर्वार्धवक्रोक्ति, वाक्यवक्रोक्ति, प्रकरणवक्रोक्ति, और प्रबध वक्रोक्ति। वक्रोक्ति की सब से छोटी इकाई पदार्ध भाग और सबसे बड़ी इकाई प्रबध है। ये सभी अभिव्यक्ति के स्वरूप हैं। वाक्य पर्यंत शब्द के भेद हैं शेष दो अर्थ के हैं। इससे वक्रोक्ति शब्दगत तथा अर्थगत दो प्रकार की हो जाती है। आचार्य कुन्तक ने वक्रोक्ति के प्रसग से ही रस का विवेचन भी किया है। इससे वक्रोक्ति की रसानुकूलता सिद्ध होती है। कुन्तक अलकार मार्गी थे। उनकी वक्रोक्ति अलकार का सामान्यवाचक शब्द है। अलकार भी रसानुकूल ही काव्य मे ग्राह्य होता है। वक्रोक्ति भी रसोपकारक होनी चाहिए। शास्त्रीय एव व्यावहारिक विचारों तथा भावों की अभिव्यक्ति के लिए मनुष्य जिस प्रसिद्ध, सरल मार्ग का आश्रय करता है उसका त्याग कर काव्यगतरस को बढाने के लिए जो विलक्षण पदपदार्थयोजना वस्तुयोजना करता है वह वक्रोक्ति है। अंग्रेजी मे जो आक्षेप सूचक वाक्य (Ironical Speech) या वक्र कथन (Crooked Saying) है वह इनसे भिन्न है। बाद मे जो वक्रोक्ति नाम का एक शब्दालकार माना जाने लगा था यह उससे भी भिन्न है। इसका एक ओर रस से सबंध है दूसरी ओर असाधारणता से या चमत्कार से। कुन्तक का विश्वास है

कि साधारण भणिति से किसी प्रकार के रस की उत्पत्ति नहीं हो सकती जिससे यह सम्भव है वह वक्रोक्ति है।

अलकारों की तरह यह भी भाव सहजात और भावान्तरजात दोनों प्रकार की होती है। कवि के हृदय मे भाव साधारण रूप से उत्पन्न हो और बौद्धिक प्रयास से बाद में वह असाधारण शब्द प्रयोग या वाक्य रचना द्वारा उनके साथ चमत्कार का योग कर दे तो वह भावान्तरजात वक्रोक्ति होगी।

मान तजो गहि सुमति वर पुनि पुनि होत न देह।
मानत जोगी जोग को हम नहिं करत सनेह।

यहाँ पहले वाक्य 'मान तजो गहि' का 'मानत जो गहि' अर्थ बौद्धिक प्रयास से किया गया है। कवि के हृदय मे किसी असाधारण भाव की उत्पत्ति नहीं हुई। यह भावान्तरजात निकृष्ट प्रकार का वक्रोक्ति है। आनद-घन की विरोध चमत्कार को उत्पन्न करने वाली उक्तियाँ इसी कोटि मे आएँगी। जैसे—

जान घनआनद पै खोइबो लहालहौं
× × × ×
जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगैं अब
कबहू न दबै भरी भभक उमाह की।
× × × ×
ढीली दसाही सों मेरी मति लीनी कसि है।
× × × ×
अनखि चढ़ै अनौखी चितचढ़ि उतरैं न
मन मग मूँदै जाकी बेह सब ओर तें।

आदि वक्र उक्तियाँ भाव जनित नहीं हैं। वे केवल चमत्कार की जननी हैं, ऐसी वक्रतायें भावान्तर जात हैं।

पर इसके अतिरिक्त आनदघन ने जो भाव व्यजक लक्षणायें की हैं वे भाव सहजात वक्रोक्तियाँ कही जाएँगी। उनका जन्म भावाकुल हृदय से हुआ है। जब किसी असाधारण प्रकार के भाव की अनुभूति हृदय में होती है तो वह अपने अनुकूल ही भाषा का निर्माण स्वय कर लेती है। ससार के वाङ्मय का सम्बन्ध प्रचलित भाव या विचारों से होता है। उन्हीं को वह व्यक्त कर सकता है। पर कवि की यह अनुभूति सर्वथा नवीन होती है। उसकी अभिव्यक्ति के लिए तो नवीन ही शब्द या वाक्य चाहिए। श्रेष्ठ

कवियो की रचनाओं में जो नए शब्द मिलते हैं, उसका कारण यही है। तुलसीदासजी का 'धूम धूसर' आनदघन के 'भूतागति' 'धूम की धूमरि' 'मलीलि सई' 'चितार' 'दिखास' आदि शब्द भाव की ऊष्मा से ही सृष्ट हुए हैं। इसी प्रकार पूर्व सिद्ध शब्दो का विलक्षण योग कर विलक्षण वाक्य बना दिए जाते हैं। एक वस्तु के धर्म का योग वस्त्वन्तर से कर दिया जाता है। जैसे—

१—लडकानि की आन परै छलकै
२—लाजन लपेटी चितवन।
३—रसनि चुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।
४—अँग अग तरंग उठै दुति की परि है मनौरूप अबै वर च्वै।

इन्हे लक्षक या लक्षणायुक्त वाक्य कहा जाएगा। वास्तव में यह भी वक्रोक्ति है। आचार्य कुन्तक का वक्रोक्ति से ऐसा ही तात्पर्य था। पहले वाक्य से इनमें इतना अन्तर है कि ये भाव सहजात हैं। इसलिए इनसे भाव की व्यंजना होती है। पहले वाक्य कवि की चमत्कार प्रवण बुद्धि ने रचे थे उनसे चमत्कार का ही जन्म होता था।

वक्रोक्ति मार्ग के अनुयायी आचार्यों का तो यह भी मत है कि चमत्कार का रस के साथ अविनाभाव सबध है। रस बिना चमत्कार के सिद्ध ही नहीं हो सकता। चमत्कार का काव्य मे कोई हेय या नगण्य स्थान नहीं है। चित्त की तीन भूमिकाएँ होती हैं—द्रुति, दीप्ति, और विस्फार। शृगार करुण और शातरस मे द्रुति का जन्म होता है। वह शृंगार से अधिक करुण मे और उससे भी अधिक शातरस मे उत्पन्न होती है। वीर, वीभत्स तथा रौद्र रस में दीप्ति का जन्म होता है। वह हृदय की ज्वलनशीलता की स्थिति है। वह भी वीर से अधिक वीभत्स में और उससे भी अधिक रौद्र मे होती है। हास्य अद्भुत और भयानक मे उत्तरोत्तर क्रम से चित्त विकसित या विस्फारित होता है। विस्फार दशा को ही विस्मय आश्चर्य या चमत्कार आदि शब्दो से कहा जाता है। आचार्यों का मतव्य है कि चित्त विस्फार विशेषरूप से हास्य अद्भुत आदि रसों में उत्पन्न होता है। पर सामान्यरूप से सब रसो मे उसकी विद्यमानता है। अलौकिक रस बिना किसी न किसी प्रकार की लोकोत्तरता के निष्पन्न नहीं हो सकता। यह लोकोत्तरता ही चित्तविस्फार की जननी है और वक्रोक्ति लोकोत्तरता का शब्दार्थमय शरीर है। वक्रोक्ति संप्रदाय के मूल मे

चमत्कार की सर्वरस व्यापिनी सत्ता की अनुभूति ही रहती है। रसानुभूति में अन्य आचार्यों ने भी चमत्कार के योग को स्वीकार किया है। आनंदवर्धनाचार्य ने रसास्वाद को 'चेतश्चमत्कृति विधायी' माना है। अभिनवगुप्त ने भी उन्हीं के अनुगमन से इसको 'चमत्कारात्मा' कहा है। पंडितराज जगन्नाथ ने चमत्कार को 'आह्लादात्मा' बताया है जो इसका ही संकेतक प्रतीत होता है। साहित्य दर्पणकार विश्वनाथ ने चित्तविस्तार या विस्फार को सत्वगुण का पर्याय माना है। चित्त में सत्व के उद्रेक से जो परिमित प्रमातृ भाव आता है वह विस्तार ही है यह विश्वनाथ का तात्पर्य है। इन सबसे यही स्पष्ट होता है कि प्रत्येक रसानुभूति में चमत्कार का प्रयोग निरंतर में रहता है। इसलिए कुंतक ने रसपूर्ण वाणी को कथा मात्र पर आश्रित वाणी से भिन्न बताया है।[1] इस तरह वक्रोक्ति मार्गियों की वक्रोक्ति रस पर्यंत जाती है। उन्होंने प्रबंध वक्रता प्रकरणवक्रता आदि में विविध प्रकारों से रस जन्य चमत्कार का अन्तर्भाव दिखाया है। फलत. आचार्य कुंतक की वक्रोक्ति अभिव्यक्ति की असाधारणता का समानान्तर एक व्यापक तत्व है जो कवि के लोक विलक्षण शब्दों से लेकर उसकी लोक विलक्षण अनुभूति तक फैला हुआ है। बाद में रसमार्ग के स्थापित होने के अनंतर इसका महत्व क्षीण हो गया। रसमार्ग में अनुभूति की मार्मिकता और सहजता पर अधिक बल दिया गया। इसके फलस्वरूप वक्रोक्ति एक साधारण अलंकारमात्र माना गया।

आनंदघन की वक्रता का स्वरूप भी शब्दों की बाह्य-वक्रता मात्र नहीं है। उसके दोनों रूप मिलते हैं। कुछ तो केवल बाह्य चमत्कार की सृष्टि करती है और कुछ अनुभूति की असाधारणता का द्योतन करती है। दूसरी श्रेणी की वक्रताएँ नवीन प्रयोजनवती तथा रूढिमूला लक्षणाओं में व्यक्त हुई हैं। विरोध तथा विरोधमूलक असंगति आदि अलंकारों के चमत्कार वाली पहली हैं। इनकी कुछ उक्तियाँ हिंदी के अलंकारों की सीमा में समा जाती हैं। पर कुछ ऐसी हैं जो केवल लक्षणा कही जा सकती हैं। किसी अलंकार विशेष के लक्षण से वे व्याप्त नहीं होती हैं। हैं सब वक्रताएँ ही। आचार्य कुंतक का भी कुछ ऐसा ही अभिप्राय था। वे अलंकार मार्ग को सीमित समझते

१—निरंतर रसोद्गार गर्भ सन्दर्भ निर्भरा।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता

वक्रोक्ति जीवित पृ० २२५

थे। अलकार मार्ग की मूल भावना उक्ति की असाधारणता की उपादेयता तो अनुभव करते थे पर उसे गिने गिनाए अलकारो मे बाधना अनुचित समझते थे। इसलिए उन्होंने वक्रोक्ति को प्रकरण तथा प्रबंध तक व्याप्त बनाया और वक्रता को मुख्य माना जो कवि की प्रतिभा के समान अशेयरूप है। आनद-घन कु तक के सिद्धात से परिचित थे,—यह तो नहीं कहा जा सकता। ऐसी कोई सभावना नही है। पर इनके चिंतन में दो परपराओ का मेल हुआ है। फारसी तथा हिंदी-सस्कृत की परपराओ का। फारसी साहित्य मे उक्ति की वक्रता का अत्यत प्राधान्य रहता है। उनमे अधिक सख्या तो बाह्य चमत्कार-जनक वक्रताओं की ही होती है। कुछ आतरिक अनुभूतियों से भी सबद्ध रहती हैं।

ए आँसुओ न आवे कुछ दिल की बात लब पर
लड़के हो तुम कहीं मत अफशाए राज़ करना।

(अशफाए राज=रहस्य का उद्घाटन)

यहाँ कवि कोरा चमत्कारवादी ही प्रतीत होता है अन्यथा करुणा रस मे आँसुओ को लड़के कहकर भाव को हल्का न करता। आनदघन ने प्रेरणा तो फारसी साहित्य से ही ली थी। क्योकि प्रयोग मे उनके समय मे दूसरी कोई पद्धति ऐसी न थी जिसमे उक्ति वक्रता का आदर हो। कु तक का मार्ग तो रस मार्ग के प्रभाव मे दब गया था। दूसरी ओर लक्षणा के प्रयोग को अलंकार मार्ग ने सीमित कर दिया था। वैयाकरणो ने लक्षणा को जघन्य वृत्ति कह कर उसके मुक्त प्रसार को अवरुद्ध कर दिया था। अतः कवियो की वाणी मे लाक्षणिक प्रयोग नहीं के बराबर होते थे। अभिधामार्ग ही समाश्रित था। बिहारी, देव, पद्माकर जैसे गभीर चिंतनशील कवियो की वाणी का प्रसार भी अभिधामार्ग से ही हुआ है। देव ने अभिधामार्ग को सर्व श्रेष्ठ माना है। लक्षणा प्रचलित अलकारो तक ही सीमित है। रीतिकारो ने तो इसका विवेचन भी छोड़ दिया था। दास, देव जैसे कुछ ही आचार्य कवियो ने इसका विवेचन में लिया है। उन लोगो ने भी पुराने उदाहरणो पर ही पूर्व प्रचलित विमर्श किया है। न नया विचार किया न नए उदाहरण ही दिए। क्योंकि लक्षणा का व्यवहार काव्य के क्षेत्र मे रुक गया था। अत. आनद घन के लिए हिंदी साहित्य मे वक्रता की प्रेरणा का कोई अवकाश नहीं था। फारसी इस तत्व से भरी पड़ी थी। इसलिए इन्होंने वहीं से प्रेरणा

प्राप्त की। पर और क्षेत्रों की तरह इस क्षेत्र मे भी उन्होंने इसको भारतीय स्वरूप प्रदान किया। लोकोक्तियाँ, मुहावरे आदि जो हिंदी मे प्रचलित थे उनके द्वारा वक्रोक्तियाँ कही है। कुछ प्रचलित अलकारो के द्वारा व्यक्त की और कुछ स्वतत्ररूप से स्फुरित लक्षणाओं के रूप मे उपस्थित की। जैसे—
अलकार रूप—

बदरा बरसै रितु मै घिरिकै नित ही अखिया उघरी बरसै।

नीर भीज्यौ जीव तऊ गुडी लौ उड्यौ चहै।

सोचनि ही पचियै घनआनंद हेत लग्यौ किधौ प्रेत लग्यौ है।

घन आनंद जान अजौं नहि जानत कैसे अनैसे है हाय दई।

यहा क्रमशः व्यक्तिरेक, विरोध, सदेह, तथा विरोध अलकार कहे जा सकते है।

मुहावरों के रूप मे

उघरौ जग छाय रहे घन आनद चातिक त्यौ तकियै अब तौ।

जीव सूख्यौ जाय ज्यौं ज्यौं भीजत सरवरी।

अकुलानि के पानि पर्‌यौ दिन राति सु ज्यौ छिन कौ न कहूँ बहरै।

उत इतर पॉय लगी मॅहदी सु कहा लगि धीरज हाथ लगै।

इनमे कुछ न कुछ अलकार है ही पर प्राधान्य मुहावरों के प्रयोग का है। मुहावरे हिंदी के ही है। अत. फारसी की प्रेरणा से प्राप्त वक्रता का यह भारतीयकरण है।

तीसरी वक्रताएँ ऐसी है जो कवि की अनुभूति से ही जन्मी है। इनमे प्रायः प्रयोजनवती लक्षणाओं का प्रयोग हुआ है। इनमे मार्मिक अनुभूति की व्यजना होती है। इन्हें देखकर पाठक यही कहेगा कि यदि यहाँ वक्रोक्ति न होती तो भाव स्फुट न हो पाता। वे भाव की समानकार सी लगती है। जैसे—

लाजनि लपेटी चितवनि
अँग अग तरग उठै दुति की परि है मनौरूप अबे धर च्वै।
लगमगति छबीली बाल।
मोहन-सोहन-जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति।
जीव की जीवनि जान ही जानै।

रोकी रहै न दहै घनआनंद बावरी रीझ के हाथनि हारियै ।
जो दुख देखति हौं घनआनंद रैनि दिना बिन जान सुतंतर ।
जानै वेई दिन रात बखानैं ते जाय परै दिन राति कौ अंतर ।
इत्यादि

इनमें से दो एक को ठोक पीटकर अलकारों के साँचे में फिट भी किया जा सकता है पर वह ऐसा ही होगा जैसे आनद घन की रसभीजी उक्तियो को नायिका भेद के घेरे मे घेरना ।

वास्तव मे इनकी इस प्रकार की उक्तियाॅ स्वतत्र हैं। कवि की अनुभूति ने अपने आप अपनी अभिव्यक्ति कवि को समर्पित का है । इनमें से किसी एक वाक्य पर विचार किया जाए तो वह भाव-सहजात और सप्रयोजन लक्षणा-युक्त मिलेगा । लज्जायुक्त न कह कर 'लाजनि लपेटी कहने' में तथा लज्जा को वहु वचन से व्यक्त करने मे कवि ने एक विशेष प्रकार की व्यजना की है । जो लज्जायुक्त या लजीली आदि किसी शब्द से व्यक्त न हो सकती थी । इसी प्रकार 'अंग अग तरंग उठे दुति की' मे दुति की तरगें उठा कर उसे तरल बताना सौंदर्य को शरीर मे लबालब भरा हुआ बताना, तथा सुदरी के हाव भाव का मूर्त चित्रण करना आदि न जाने कितने प्रयोजन सिद्ध किए हैं ।

अनुभूति के साथ चमत्कार का यह योग आनदघन की शैली की सर्वोपरि विशेषता है । फारसी मे कोरा चमत्कार था । हिंदी में जहाॅ अनुभूति थी वहाॅ चमत्कार न था, चमत्कार था तो अनुभूति नहीं थी । आनदघन ने दोनों का योग किया है । उसका कारण इनकी कोमल और गभीर अनुभूति थी । इनकी रचनाओं मे ऐसे पद्यों की ही सख्या अधिक है जिनमें अनुभूति मूलक वक्रताएँ विद्यमान हैं । नीचे लिखा सवैया भी ऐसा ही है ।

जीव की बात जनाइयै क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौं ।
तीरनि मारिके पीर नपावत एक सौं मानत रोइयो रागौ ।
ऐसी बनी घनआनद आनि जु आन न सूझत सो किन त्यागौं ।
प्रान मरैंगे भरैंगे विथा पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ ।

यहाॅ "जान कहाय अजाननि आगौं' 'अमोही सों काहू को मोह न लागौ' में विरोध, 'तीर पीर' 'आने,' 'आनि' तथा मरैंगे भरैंगे' के अनुप्रास चमत्कार विच्छित्ति के जनक हैं । प्रेमी न कहकर जीव कहने

तथा प्राणी न कह कर प्राण कहने की लक्षणा मे जो अनुभूति की उत्कटता व्यक्त की है उसका चमत्कार से सबध नहीं भावो से है।

इन्हें इस विषय की प्रेरणा फारसी से ही मिली थी इसलिए इसका प्रभाव भी कहीं कहीं विद्यमान है। भाव तक मिल गए हैं। कहने के ढग तो समानरूप हैं ही।

जैसे—

आली घन आनद सुजान सो बिछुरि परें

आपौ न मिलत महा बिपरीति छाई है। आनंदघन

होश ही मुझको न था जब पहलुओं में लूट थी।

मुझको क्या मालूम क्या जाता रहा क्या रह गया। साकिब

तेरो अग सग लहै लाडौ लड़कात है।

अलबेली सुजान के कौतुक पै अति रीझि हँसौंसी है लाज लजै। आनदघन

दिल में तुम आँखों में तुम छिपते फिरे किस वास्ते।

तुमको शर्म आती नहीं आशिक से शर्माते हुए। आज़ाद

इनमे वक्रोक्ति का प्रकार एक सा ही है। केवल शब्दों का अन्तर विद्यमान है। उर्दू फारसी में जो वस्तु वक्रता है वह उन्होंने कहीं नहीं अपनाई। वह उनके गभीर अनुभूति के अनुकूल नहीं पड़ती थी। इन्होंने भावों का तथा हृदय की अतर्दशाओं का सीधा वर्णन किया है। आँसुओ को लड़का बताकर रोने के वर्णन का पद्य पहले उद्धृत किया जा चुका है उसकी तुलना मे इनके नेत्रों की अतर्दशा यह है।

जिनकों नित नीके निहारति हीं तिनकों अखियाँ अब रोवति हैं।
पल पावडे पायनि चायनि सों असुवान की धारनि धोवति हैं।
घनआनद जान सजीवनि कों सपने बिन पाएई खोवति हैं।
न खुली मुदी जानि परैं कछु ये दुखहाई जगे पर सोवति हैं।

अतर स्पष्ट है। पहले मे चमत्कार की वस्तु वक्रता है और दूसरे में भाव व्यजक मनोदशा का वर्णन।

अचेतन में चेतनत्वारोप

फारसी के प्रभाव के कारण ही शरीर के अवयव नाक, कान, आँख, प्राण पलक आदि मे मानवीय व्यापारों की योजना भी प्रचुरता से इन्होंने की है।

प्राण मन आदि को संबोधन कर बातें कहने की प्रथा तो हिंदी साहित्य में भी है पर उनमें मानवीय व्यापार अधिक नहीं दिखाए जाते। इन्होंने इसको अनेक बार आवृत्ति के साथ प्रदर्शित किया है। आँखें बाट जोहती हैं, कान प्रिय के वचनामृत के लिए लालयित हैं, नाक चढी चढी डोलती है, प्राण प्रिय दर्शन के लिए कभी आँखों में कभी कानों में आते हैं कि प्रिय के दर्शन प्राप्त कर सकें, उनके वचन सुन सकें। जो व्यापार प्रेमी के दिखाने चाहिएँ वे उसके अवयवों में दिखाए जाते हैं। नेत्र तड़पते हैं प्राण दुख धूम की धूँधरि में घुटते हैं आदि। यह लक्षणा का ही परिणाम विशेषणविपर्यय है। पर काव्य में पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त हुआ है। यह शैली का एक प्रमुख गुण सा लगता है।

७—नाम का प्रयोग

कवि ने अपने नाम का प्रयोग भी एक विशेष प्रकार के सौन्दर्य के साथ किया है। अपनी प्रेयसी सुजान तथा अपना नाम कवित्त सवैये में प्रायः सर्वत्र प्रयुक्त किया है। पर रीतिकाल के कवियों की तरह 'भूषन भनत' या 'कहै पद्माकर' आदि की शैली का आश्रयण नहीं किया। दोनों शब्दों के वाच्यार्थ 'आनद के बादल' तथा 'चतुर' के अर्थ में श्रीकृष्ण और राधा का वाचक दोनों शब्दों को बनाया है। जैसी उस समय की शैली थी प्रेम शृंगार का वर्णन उन्हीं के व्याज से किया है। कुछ स्थलों पर यथार्थतः राधा और कृष्ण का ही वर्णन है। इन दो शब्दों में भी प्रधान आनदघन शब्द है। समस्त रसात्मक तथा भक्तिभाव पूर्ण रचनाओं का वही आधार है। प्रिय को आनद की वृष्टि करने वाला बादल माना है और हर्ष, शोक, पीड़ा, व्यथा, उपालंभ तथा विरह की विविध अतर्दशाओं का मार्मिक चित्रण करते हुए भी घन ही भावों का आलंबन बना है। प्रिय चातक है वही अपना विरह निवेदन करता हुआ सर्वत्र मिलता है। ज्ञान वैराग्य तथा भक्ति के भाव भी इसी आधार पर कहे गए हैं। उस स्थिति में 'आनदघन' (बादल) एक प्रकार का प्रतीक बन गया है। साथ ही कवि की दार्शनिक मान्यता का भी आभास मिलता है। ये प्रिय परमेश्वर को आनददाता मानते हैं। इसने ब्रह्म का सच्चिदानन्द स्वरूप जो कृष्णावतार में उनकी विविध लीलाओं तथा रास विहारों में साकार हुआ था, इनको मान्य है। घन के रूप को कवि ने और भी अधिक बढाया है। अधिक संख्या में ऐसे उपमानों का प्रयोग

किया है जिनका बादल से संबंध है। भक्त या कवि के हृदय में विविध अभिलाषाओं के उदय को 'चाहों का बरसना' प्रेमासक्ति को 'भीजनि', प्रिय परमेश्वर की व्यापकता को 'बादलों का घिरना' या 'छाजाना', उसके हटजाने को 'उघड़ना,' प्रिय के अभाव में मिलने वाले कष्टों को 'धूम धुंधरि में दम घुटना,' धूप या अग्नि से संताप पाना, प्रिय की कृपा या दर्शन को 'संताप मिटाने वाली वृष्टि' आदि कहा है। तात्पर्य यही है कि इनकी रचनाओं का बहुत सा भाग बादल के उपमान पर रचा गया सांग रूपक कहा जा सकता है। समस्त भावों को घनव्यापारों पर केन्द्रित करने के लोभ से पुनरावृत्ति दोष भी यत्र तत्र आ गया है। सुजान तथा आनंदघन दोनों गुण वाचक विशेषण मान लिए गए हैं। फलतः विशेषण-विशेष्य भाव भी दोनों का होता रहता है। कभी सुजान का विशेषण आनंदघन कभी आनंदघन का विशेषण सुजान बना है। ऐसे स्थल कुछ ही मिलेंगे जहाँ आनंदघन या घनआनंद कवि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हो, प्रसंगार्थ में अन्वित न हो। अपने तथा अपनों के नाम का सौन्दर्य के साथ काव्य में प्रयोग आनंदघन की एक विशेषता मानी जाएगी।

८—आत्म निवेदन

हिंदी संस्कृत के प्रेम व्याख्याता कवियों की शैली में आत्म निवेदन की परंपरा का अभाव रहा है। प्रेमी या प्रिय के मनोगत भावों को, उनकी मनोदशाओं को ये लोग किसी न किसी माध्यम द्वारा व्यक्त करते थे। वह माध्यम सखी दूती आदि होता है। जिन कवियों के जीवन में ही प्रेम की घटनाएँ घटी हैं उन्होंने आत्म निवेदन द्वारा भाव व्यक्त किए हैं जैसे बिल्हण ने अपनी 'चौर पंचाशिका' में उत्तमपुरुष द्वारा ही सब भाव निवेदन किया है। भर्तृहरि ने भी कुछ पद्य उत्तमपुरुष द्वारा व्यक्त किए हैं। राज महलों में जाने से ग्लानि का भाव प्रकट करते हुए वे कहते हैं कि 'हम न नट है न विट है, नाहीं विदूषक हैं। न हम सभा में व्यर्थ की बहस करने वाले पंडित है। स्तनों के भार से झुकी युवती भी हम नहीं हैं फिर राज-महलों से हमारा क्या प्रयोजन'। शृंगार के भी उन्होंने अनेकों पद उत्तम पुरुष द्वारा कहे हैं। उनका प्रसिद्ध श्लोक जिसमें उनके वैराग्य का कारण कहा गया है उत्तम पुरुष में ही लिखा गया है। उसका भाव है कि "मैं जिस की निरंतर चिंता करता हूँ वह मुझ से विरक्त है। वह भी जिससे प्रेम करती है वह दूसरी किसी सुन्दरी में आसक्त है। हमारे लिए तो कोई और ही

परितोष प्रदान करती है। उसे मुझे, उस पुरुष को तथा इस मदन को धिक्कार है।" संस्कृत के उपर्युक्त दोनों कवियों (बिल्हण और भर्तृहरि) ने अपनी जीवन कथा उत्तम पुरुष प्रधान पद्यों में कही है। उन्होंने इसे आत्मानुभूति के रूप में व्यक्त किया प्रतीत होता है काव्य शैली के रूप में नहीं। निरुक्त शास्त्र के आचार्य यास्क ने वैदिक ऋचाओं में आत्म-निवेदन की एक शैली बताई है जिसमें वेद का थोड़ा सा भाग लिखा गया है। उन्होंने आकार की दृष्टि से ऋचाओं के तीन भेद किए हैं—प्रत्यक्षकृत परोक्षकृत तथा आध्यात्मिक। आध्यात्मिक ऋचाओं में उत्तम पुरुष की क्रिया तथा उत्तम पुरुष का ही कर्त्ता आता है।[1] उन्होंने इसके लिए ऋग्वेद के समूचे तीन सूक्तों का उदाहरण दिया है। उस समय यह रचना की शैली प्रतीत होती है।

संस्कृत प्राकृत के काव्यों में इसे शैली के रूप में अपनाने के उदाहरण नहीं मिलते। फारसी साहित्य में यह एक शैली के रूप में ही व्यवहृत होता है। कवि अपने को प्रिय अथवा प्रेमी मान कर भाव निवेदन करता है। स्वच्छन्द धारा के कवियों में आलम और आनदघन ने इस शैली को अपनाया है। प्रतीत होता है, स्वयं प्रेमी होने के नाते प्रेम-कथा को अपने आप ही कहना इन्हें अच्छा लगा। अपने प्रेम में सामाजिक स्वच्छन्दता होने के कारण इन्हें भारतीय समाज की उस मान मर्यादा की आवश्यकता नहीं थी जो रीतिकाल के अन्य कवियों ने अपने प्रेम वर्णन में सुरक्षित की है।

इनकी शैली की एक विशेषता यह भी है कि पद्यों की सभी पंक्तियाँ समान बल की होती हैं। किसी एक में काव्य का प्राण निहित हो और शेष पंक्तियाँ उसकी भूमिका या उत्थानिका का कार्य करती हों ऐसी बात इनकी रचनाओं में देखने को नहीं मिलती। उदाहरण के लिए नीचे लिखा पद्य देखा जा सकता है:—

रावरे रूप की रीति अनूप नयो नयो लागत ज्यों ज्यों निहारियै।
त्यों इन आँखिन बानि अनोखी अघानि कहूँ नहिं आनि तिहारियै।
एक ही जीव हुतो सुतो वार्यो सुजान सकोच औ सोच सहारियै।
रोकी रहै न दहै घनआनँद बावरी रीझ के हाथनि हारियै।

इसके अतिरिक्त अनुभूति प्रधानता, विरोध की प्रवृत्ति, चिंतन की गहनता तथा गंभीरता, विरोध की सविशेष प्रवृत्ति आदि गुणों का भी इनकी शैली में प्राचुर्य है। इनका विवेचन अन्यत्र किया गया है।

१—निरुक्त ७२।

छंदों का विधान

छंद और कविता

कविता का छंद से नित्य संबंध है। जब से भाषा का जन्म हुआ है संभवतः तभी से प्रत्येक देश और काल में कविता और छंद का मूलगत आंतरिक संबंध रहा है। डा० नगेन्द्र का इस विषय में विचार है कि साधारणतः हमारे रक्त की धारा एक विशेष समगति से बहती रहती है। यह समगति, जो हृदय की धड़कन और श्वास प्रश्वास से नियमित आरोह अवरोह में मूर्त होती रहती है, स्वभावतः लययुक्त है, क्योंकि नियमित आरोह अवरोह ही तो लय है। भावोच्छ्वास की अवस्था में रक्त की गति तीव्र हो जाती है। हृदयकंपन तथा श्वास के आरोह अवरोह में भी उसी के अनुसार अंतर पड़ जाता है और इस प्रकार उस मूलगत सम लय में विशिष्टता आ जाती है। यह लय स्थिर और मंद न रह कर अस्थिर और तीव्र बन जाती है। यह विशिष्ट लय इतनी सशक्त होती है कि इसका हम स्पष्ट अनुभव करते हैं। यही अपने आप शारीरिक क्रियाओं में जैसे हाथ पैर उछालना आदि में व्यक्त हो जाती है। आरंभ में नृत्य का जन्म इसी प्रकार हुआ और इसी प्रकार कुछ दिनों के बाद इसी आंतरिक लय को भाषा पर आरोप कर मनुष्य ने सहजरूप से छंद का भी आविष्कार कर लिया। तभी वास्तविक कविता का जन्म हुआ और तभी छंद का[1]। पल्लव की भूमिका में श्री सुमित्रा नंद पंत ने भी इस विषय में छंद का कविता से आंतरिक संबंध अनुभव करते हुए लिखा है कि कविता तथा छंद के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है। कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छंद हृदय कंपन। कविता का स्वभाव ही छंद में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा गति को सुरक्षित रखते हैं जिनके बिना वह अपनी ही बंधन हीनता में अपना प्रवाह खो बैठता है उसी प्रकार छंद भी अपने नियंत्रण से राग को स्पन्दन, कंपन, तथा वेग प्रदान कर निर्जीव शब्दों के रोड़ों में एक कोमल सजल कलरव भर उन्हें सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियंत्रित साँसें नियंत्रित हो जाती, तालयुक्त हो जाती, उसके स्वर में प्राणायाम, रोओं में स्फूर्ति आ जाती, राग की असंबद्ध, झंकारें एक वृत्त में बँध जाती, उनमें

१—रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता पृ० २३४

परिपूर्णता आ जाती है। छंद बद्ध शब्द चुंबक के पार्श्ववर्ती लोह चूर्ण की तरह अपने चारों ओर एक आकर्षण क्षेत्र (Magic Field) तैयार कर लेते हैं। उनमें एक प्रकार का सामंजस्य, एकरूप, एक विन्यास आ जाता, उनमें राग की विद्युत धारा बहने लगती, उनके स्पर्श में एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।"

भारतीय छंद विधान स्वर और व्यंजन के वाणी विभाग पर आश्रित है। इनमें व्यंजन की अपेक्षा स्वर कोमल होता है। इसलिए भाषा विकास में कठोर व्यंजन कोमल में और कोमल व्यंजन स्वर में परिवर्तित होता है। जो भाषाएँ संश्लेषणात्मक होती हैं उनमें समास बहुलता के कारण वर्णों की एक शृंखला सी बन जाती है। ऐसी भाषा के लिए वर्णिक छंद अनुकूल पड़ते हैं। इसीलिए संस्कृत में वर्णिक छंदों की बहुलता है। यद्यपि शृंगारादि कोमल भावों की कविताएँ वहाँ भी आर्या आदि मात्रिक छंदों में ही की जाती थीं। लोकभाषाओं का स्वरूप व्याकरण आदि के बंधन से मुक्त होकर अपने सहज रूप से बहता है। वह प्राय. विश्लेषणात्मक होता है। अतः मात्रिक छंदों का ही प्रयोग उनमें प्राय. देखा जाता है। प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में उस समय भी मात्रिक छंदों का प्रयोग अधिक हुआ था। जब कि संस्कृत में वर्णिक छंदों का व्यवहार प्रचुरता से होता था। हाल की सतसई मात्रिक छंदों में ही लिखी गई है जो लोक विकीर्ण कविताओं का संग्रह तथा कवि की रचना दोनों का सम्मिलित रूप बताया जाता है।

हिंदी की प्रकृति विश्लेषणात्मक है। अतः मात्रिक छंद उनकी प्रकृति के अनुकूल पड़ते हैं। वीर गाथा काल में कुछ वर्णिक छंदों का प्रयोग हुआ है पर प्रधानता दोहा, छप्पय आदि मात्रिक छंदों की ही रही। भक्तिकाल के संत भक्तों की सरस्वती तो गेय पदों के रूप में ही मुखरित हुई जो मात्रिक छंदों का कोमलतम रूप कहा जा सकता है। छंदों की दृष्टि से महात्मा तुलसीदास की वाणी भक्ति काल में सर्वतोमुखी रही है। पर सर्वत्र वे सफल भी नहीं हुए। गेय पदों में जो कोमल मरजलता कबीर सूर और मीरा के पदों में प्राप्त होती है वह तुलसी के पदों में नहीं है।

भक्तिकाल के उपरांत रीतिकाल में गेयपदों की परंपरा केवल भक्त संतों ने ही सुरक्षित रखी है। पर इन भक्तों की संख्या अत्यल्प है। आनंदघन रीतिकाल के ऐसे ही संत हैं। उनके पद आकृति में ही नहीं स्वभाव में भी

वस्तुतः गेय हैं। ऐसे गेयपदकार संतों का वृंदावन में जमघट था। संतों के अतिरिक्त कवि लोगों ने दो वर्णिक छंद सवैये और घनाक्षरी का इतना प्रचुर प्रयोग किया कि वही एक मात्र छंद इस काल का बन गया।

छंद और रस

छंद और रस का बड़ा घनिष्ट संबंध है। भावाभिव्यक्ति के जितने साधन हैं, जैसे मूर्तिकला, संगीत, नाट्य तथा छंद आदि इन सब में छंद श्रेष्ठ है। मूर्तिकला चित्रकला आदि में केवल एक भाव का ग्रहण होता है। अतएव वे छंद की अपेक्षा स्थूल हैं। संगीत के स्वरों की सीमित परिधि में भी मानव वृत्तियों के समस्त व्यापारों का समाव नहीं हो पाता। केवल छंद ही ऐसा है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म और गंभीर से गंभीर भावों की व्यंजना करता है। साहित्यिक आचार्यों ने पहले से छंद और रस का अभेद्य संबंध माना है। किस रस के अनुकूल कौन छंद है, इसका नियमन बहुत पहले से ही होता आया है। वैदिक ऋषियों ने भाव के अनुसार विभिन्न छंदों का प्रयोग किया है। आचार्य भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में कात्यायन के मत का उल्लेख किया है कि वीरों के भुजदंडों के वर्णन में स्रग्धरा तथा नायिका वर्णन में वसन्त तिलका छंद उपयुक्त होता है[1] अपने मत से शृंगाररस में आर्या, वीररस, में जगती, करुण में शक्वरी आदि का प्रयोग उचित माना है। क्षेमेन्द्र में 'सुवृत्त-तिलक' के तृतीय परिच्छेद में रस के अनुगत अनेकों छंदों का विधान किया है—जैसे आक्षेप, क्रोध, धिक्कार में पृथ्वी छंद और वर्षा या प्रवास के वर्णन में मंदक्रांता का प्रयोग होना चाहिए[2] आचार्य मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में करुणरस में मंदक्रांता और पुष्पिताग्रा, शृंगार में पृथ्वी, वीर में स्रग्धरा, शिखरिणी शार्दूलविक्रीडित और हास्य में दीपक का प्रयोग बताया है। अग्निपुराण के अनुसार प्रबंध काव्य के लिए ११ से १६ मात्रा वाले छंदों का प्रयोग करना चाहिए। प्रबंध काव्य में रस का संतान बनाने के लिए ही एक सर्ग में एक ही छंद का प्रयोग होता है। सर्ग के अंत में भाव परिवर्तन होने पर छंद भी परिवर्तित हो जाता है। यदि एक ही सर्ग में विविध प्रकार के भाव विद्यमान हों तो मध्य में भी छंद परिवर्तित कर दिया जाता है। अंगरेजी तथा फारसी साहित्य में भी रसानुगुणछंद प्रयोग की

१—नाट्यशास्त्र १४, १२, वही अध्याय १६।

२—देखिये लेखक का 'आचार्य क्षेमेन्द्र' पृ० १०९।

प्रवृत्ति पाई जाती है। 'बैलड' प्रेम और युद्ध के वर्णन के लिए, 'इलैजी' करुण रस के लिए. 'ओड' आराध्य के प्रति गरिमा अभ्यर्थना आदि प्रकट करने के लिए, और ब्लैंकवर्स ओज प्रधान भावों को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। फारसी का भी गजल करुण तथा शृंगार में, मसनवी प्रबंध काव्य की अखंड धारा मे तथा कसीदा स्तुति आदि मे प्रयुक्त होता रहा है।

पुराने कवि कालिदास आदि ने अपने काव्यों मे रस के अनुसार ही छंदों का प्रयोग किया है। करुण मे वैतालीय तथा वियोग मे मंदाक्रांता छंद उनका प्रसिद्ध है।

रसानुकूल छंदों का जैसा विधान हमारे संस्कृत साहित्य में पहले था वैसा हिंदी साहित्य मे नहीं रहा। वैसे छंदों के प्रसंग से रसानुकूलता तथा रस प्रतिकूलता आदि का हिंदी के कला मर्मज्ञ भी विचार करते हैं। घनाक्षरी तथा सवैया छंदों को शृंगार, वीर, हास्य, (वीभत्स मे केवल सवैया) और शांत रस के लिए उपयुक्त मानते हैं। आचार्यों की तरह हिंदी के कवियों ने भी छंदों की विषयानुकूलता तथा प्रतिकूलता का वर्णन किया है। सुमित्रानंदन पंत ने पल्लव के प्रवेशक मे सवैया के विषय मे लिखा है कि 'सवैया और कवित्त छंद भी मुझे हिंदी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया मे एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उस मे एक प्रकार की जड़ता और एकस्वरता आ जाती है। कवित्त के विषय मे वे लिखते हैं. 'कवित्त छंद मुझे ऐसा जान पड़ता है कि यह हिंदी का औरसजात नहीं पोष्य पुत्र है। न जाने यह हिंदी मे कैसे और कहां से आगया है। अक्षर मात्रिक छंद बंगला मे मिलते हैं. हिंदी के उच्चारण की वे रक्षा नहीं कर सकते। कवित्त को हम सलापोचित छंद कह सकते हैं।'

प्लवंगम छंद के विषय मे पंतजी का विचार है कि वह करुण रस के लिए विशेष उपयुक्त है। अरिल्ल उन्हे निर्झरिणी की तरह कल कल छल छल करता हुआ बहता प्रतीत होता है। पंद्रह मात्रा का चौपाई छंद अनमोल मोतियों का हार है। इसका उपयोग बाल साहित्य के लिए होना चाहिए, इसकी ध्वनि मे बच्चों की बातें. बच्चों का कलरव मिलता है। बच्चों की तरह इधर उधर देखता हुआ अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बालकल्पना के पंखों मे खूब उड़ता है[१]।

---

१ पल्लव की भूमिका।

उत्पत्ति,

सवैया तथा घनाक्षरी छदो की उत्पत्ति के विषय मे छदोविद् विद्वानो के विभिन्न मत हैं। डा० नगेन्द्र का विचार है कि 'सवैया' शब्द सपाद का अपभ्रशरूप है। इस मे छद के अतिम चरण को सब से पूर्व तथा अत मे पढा जाता था। चारपक्तिया पाच बार पढी जाती थी। वह पाठ मे 'सवाया' होने से छद सवैया कहलाया। सस्कृत के किसी छद मे भी इसका मेल नहीं है। अतः यह जनपद-साहित्यका ही छद बाद के कवियो ने अपनाया होगा—ऐसा अनुमान किया जाता है[1]। यदि यह अनुमान सत्य हो तो प्राकृत, अपभ्रश आदि के साहित्य मे उस छद का स्वरूप अवश्य मिलना चाहिए, जो हिंदी मे रुपातरित किया गया है। पर ऐसा कोई छद नही प्राप्त होता। लेखक को तो ऐसा प्रतीत होता है कि तेईस वर्णोवाले सस्कृत के उपजाति छद के १४ भेदों मे से किसी एक का विकृत रूप सवैया बन गया है। ध्वनियो के उच्चारण से भी कठिन लय का उच्चारण होता है। अत. उसके अधिक विकृत होने की सभावना रहती है। सवैया २८ अक्षरो से लेकर २६ तक का होता है। उपजाति २२ अक्षरों का छद है। अक्षरो का लघु गुरु भाव सवैया मे भी पर्याप्त परिवर्तन ग्रहण करता है। वैदिक छदो का भी लौकिक सस्कृत छदों तक आते आते बड़ा परिवर्तन होगया है। इसी प्रकार उपजाति का परिवर्तित रूप सवैया हो जो सवाया बोलने से सवैया कहलाया यह सभव लगता है। इसका स्वरूप 'प्राकृत पैंगलम' में मिलता है, यद्यपि वहाॅ इसे सवैया नाम नहीं दिया गया पर ८ मगण वाला किरीट और ८ सगण वाला दुर्मिलम ये दो छद वहाॅ आए हैं। 'प्राकृतपैंगलम' का रचना काल सवत १३०० के आसपास माना जाता है। अतः अनुमित होता है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी मे सवैया का प्रयोग अवश्य होने लगा था।

घनाक्षरी के प्रथम दर्शन भक्तिकाल में ही होते हैं। कुछ विशेषज्ञों की धारणा है कि ध्रुवदराग में गाए जानेवाले पद इस से मिलते हैं। सूर सागर का एक पद इस के उदाहरण मे रखा जाता है जो यह है।

> **सेज रचि पचि साज्यौ सघन कुज,**
> **चित चरननि लाग्यौ छतिया धरकि रही।**

---

१ रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता। पृ० २३६

हा हा चलि प्यारी तेरो प्यारो चौंकि चौंकि परै
पातकी खरक पिय हिय में खरक रही।
बात न धरति कान तानति है भौंह बान,
उत न चलति वाम अँखिया फरक रही।
सूरदास मदन दहत पिय प्यारी सुनि ज्यों ज्यों,
कहो त्यों त्यों वह वतको ररकि रही।

रूप घनाक्षरी से यह पद्य मिलता है। इनके प्रचलन का प्रारंभ कब से हिंदी में हुआ इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। शुक्लजी ने अकबरी दरबार के कवियों के प्रसंग में लिखा है कि फुटकल कवितायें अधिकतर इन्हीं विषयों लेकर छप्पय कवित्त सवैयों और दोहों में हुआ करती थीं। हिंदी के आरंभकाल में इस के प्रयोग का उन्होंने उल्लेख नहीं किया। उस समय की जो काव्य सामग्री प्राप्त हुई है उस में भी इस के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। चंद के पृथ्वीराज रासो में भी दोहा तथा छप्पय छंदों की प्रचुरता है यद्यपि छंद और भी प्रयुक्त हुए हैं। पर सवैया घनाक्षरी का वहां भी प्रयोग नहीं हुआ।

'कवित्त' शब्द प्राचीनकाल से अनेक छंदों के लिए व्यवहृत होता था। रासो में छप्पय को कवित्त कहा गया है। 'घनानंद कवित्त संग्रह' में छप्पय और सवैया को भी कवित्त माना है। भक्तिकाल के आते आते छप्पय का प्रचलन रुक गया था। आरम्भकाल का दूहा दोहा के रूप में ज्यों का त्यों रहा। गेय पदों का व्यवहार विशेषकर मे होने लगा। सूफियों ने दोहा चौपाई को अपना छंद बना लिया था। इस तरह सूरदास के आविर्भाव तक हिंदी में सवैया और कवित्तों का प्रचलन नहीं हुआ था। जगनिक के आल्हा खंड में कुछ सवैया प्राप्त होते हैं पर इनकी भाषा से यही अनुमान होता है कि वे बाद में किसी ने जोड़ दिए हैं।

इस तरह भक्ति काल के भी प्रारंभ होते समय इनका प्रयोग नहीं होता था। प्रामाणिक रूप से इन छंदों का प्रयोग अकबर के काल से प्रारंभ होता है। उस समय अकबर, बीरबल गंग, नरोत्तमदास, तथा तुलसी दास आदि बड़े बड़े कवि इस के प्रयोक्ता थे। नरोत्तम दास तथा तुलसीदास दो के सवैयों के रूप विशेष परिमार्जित हैं। नरोत्तमदास तुलसीदास से भी

उत्पत्ति,

सवैया तथा घनाक्षरी छंदों की उत्पत्ति के विषय में छंदोविद् विद्वानों के विभिन्न मत हैं। डा० नगेन्द्र का विचार है कि 'सवैया' शब्द सपाद का अपभ्रंशरूप है। इस में छंद के अंतिम चरण को सब से पूर्व तथा अंत में पढ़ा जाता था। चारपंक्तियां पांच बार पढ़ी जाती थीं। यह पाठ में 'सवाया' होने से छंद सवैया कहलाया। संस्कृत के किसी छंद में भी इसका मेल नहीं है। अतः यह जनपद-साहित्यका ही छंद बाद के कवियों ने अपनाया होगा— ऐसा अनुमान किया जाता है[1]। यदि यह अनुमान सत्य हो तो प्राकृत, अपभ्रंश आदि के साहित्य में उस छंद का स्वरूप अवश्य मिलना चाहिए, जो हिंदी में रूपांतरित किया गया है। पर ऐसा कोई छंद नहीं प्राप्त होता। लेखक को तो ऐसा प्रतीत होता है कि तेईस वर्णोंवाले संस्कृत के उपजाति छंद के १४ भेदों में से किसी एक का विकृत रूप सवैया बन गया है। ध्वनियों के उच्चारण से भी कठिन लय का उच्चारण होता है। अत. उसके अधिक विकृत होने की संभावना रहती है। सवैया २८ अक्षरों से लेकर २६ तक का होता है। उपजाति २२ अक्षरों का छंद है। अक्षरों का लघु गुरु भाव सवैया में भी पर्याप्त परिवर्तन ग्रहण करता है। वैदिक छंदों का भी लौकिक संस्कृत छंदों तक आते आते बड़ा परिवर्तन होगया है। इसी प्रकार उपजाति का परिवर्तित रूप सवैया हो जो सवाया बोलने से सवैया कहलाया यह संभव लगता है। इसका स्वरूप 'प्राकृत पैंगलम' में मिलता है, यद्यपि वहाँ इसे सवैया नाम नहीं दिया गया पर ८ भगण वाला किरीट और ८ सगण वाला दुर्मिलम ये दो छंद वहाँ आए हैं। 'प्राकृतपैंगलम' का रचना काल संवत १३०० के आसपास माना जाता है। अतः अनुमित होता है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में सवैया का प्रयोग अवश्य होने लगा था।

घनाक्षरी के प्रथम दर्शन भक्तिकाल में ही होते हैं। कुछ विशेषज्ञों की धारणा है कि ध्रुपदराग में गाए जानेवाले पद इस से मिलते हैं। सूर सागर का एक पद इस के उदाहरण में रखा जाता है जो यह है।

सेज रचि पचि साज्यौ सघन कुंज,
चित चरननि लाग्यौ छतिया धरकि रही।

---

१ रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता। पृ० २३६

हा हा चलि प्यारी तेरो प्यारो चौंकि चौंकि परै
पातकी खरक पिय हिय में खरक रही।
बात न धरति कान तानति है भौंह दान,
उत न चलति वाम अँखिया फरक रही।
सूरदास मदन दहत पिय प्यारी सुनि ज्यों ज्यों,
कहो त्यों त्यों वह उनको ररकि रही।

रूप घनाक्षरी से यह पद्य मिलता है। इनके प्रचलन का प्रारभ कब से हिंदी मे हुआ इसका निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। शुक्लजी ने अकबरी दर्बार के कवियो के प्रसग में लिखा है कि फुटकल कवितायें अधिकतर इन्हीं विषयो लेकर छप्पय कवित्त सवैयों और दोहो मे हुआ करती थीं। हिंदी के आरभकाल में इस के प्रयोग का उन्होंने उल्लेख नहीं किया। उस समय की जो काव्य सामग्री प्राप्त हुई है उस मे भी इस के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती। चद के पृथ्वीराज रासो मे भी दोहा तथा छप्पय छदों की प्रचुरता है यद्यपि छंद और भी प्रयुक्त हुए हैं। पर सवैया घनाक्षरी का वहा भी प्रयोग नहीं हुआ।

'कवित्त' शब्द प्राचीनकाल मे अनेक छदो के लिए व्यवहृत होता था। रासो मे छप्पय को कवित्त कहा गया है। 'घनानद कवित्त सग्रह' में छप्पय और सवैया को भी कवित्त माना है। भक्तिकाल के आते आते छप्पय का प्रचलन रुक गया था। आरभकाल का दूहा दोहा के रूप में ज्यों का त्यों रहा। गेय पदों का व्यवहार विशेषरूप से होने लगा। सूफियो ने दोहा चौपाई को अपना छद बना लिया था। इस तरह सूरदास के आविर्भाव तक हिंदी में सवैया और कवित्तो का प्रचलन नहीं हुआ था। जगनिक के आल्हा खड में कुछ सवैया प्राप्त होते हैं पर इनकी भाषा से यही अनुमान होता है कि वे बाद मे किसी ने जोड दिए हैं।

इस तरह भक्ति काल के भी प्रारभ होते समय इनका प्रयोग नहीं होता था। प्रामाणिक रूप से इन छदों का प्रयोग अकबर के काल मे प्रारभ होता है। उस समय अकबर बीरबल गग, नरोत्तमदास, तथा तुलसी दास, आदि बड़े बड़े कवि इस के प्रयोक्ता थे। नरोत्तम दास तथा तुलसीदास दो के सवैयों के रूप निखर परिमार्जित हैं। नरोत्तमदास तुलसीदास से भी

अधिक व्यवस्थित और प्राजल छद के प्रयोक्ता सिद्ध होते हैं। वे हैं भी इन सब मे अर्वाचीन। उस समय तक इसका स्वरूप पूर्णरूप मे व्यवस्थित और परिमार्जित हो चुका था। पर नरोत्तमदास और अकबर आदि के काल मे इतना बडा अतर नही है कि उस मे ही इन छदो का स्वरूप उत्पन्न भी होगया और उसी समय वह इतना परिष्कृत तथा परिमार्जित भी होगया जैसा नरोत्तमदास के सवैये हैं। अवश्य अकबर से पूर्व भी इनका व्यवहार काव्य मे रहा होगा, भले ही वह मौखिक हो या जनपद साहित्य मे हो।

सवैयों का स्वरूप

सवैया बड़ा व्यवस्थित वर्णवृत्त है। गणो तथा अत के लघु गुरु अक्षरों के भेद से इसके अनेक भेद होते हैं। छन्द प्रभाकर मे श्री जगन्नाथ प्रसाद ने इसके बारह भेद माने हैं। इसके प्रमुख भेद तीन हैं। भगणाश्रित, सगणाश्रित तथा जगणाश्रित। इनमें भगणाश्रित छ. हैं जगणाश्रित तीन और सगणाश्रित तीन। प्रत्येक का पारिभाषिक स्वरूप इस प्रकार है।

भगणाश्रित

मदिरा	भगण ७ + S
मोद	भगण ५+मगण + सगण + S
मत्तगयद	भगण ७ + S
चकोर	भगण ७+S।
अरसात	भगण ७+रगण
किरीट	भगण ८

जगणाश्रित

सुमुखी	जगण ७+।S
मुक्तहरा	जगण ८
वाम	जगण ७ + यगण

सगणाश्रित

दुर्मिल	सगण ८
सुन्दरी	सगण ८+S
अरविंद	सगण ८ + ।

इसके लय सौष्ठव की सभी आचार्यों ने प्रशसा की है। कवित्त की अपेक्षा अधिक प्रिय होने का कारण इसकी लय चारुता ही है। एक ही प्रकार के ध्वनि समूह (गण) की सात-सात आठ-आठ बार आवृत्ति होने से संगीत की ताल का निर्माण होता है। ध्वनि का आरोह-अवरोह विषम की मधुर समता उत्पन्न करता है। इसकी प्रसशा में डा० नगेन्द्र के विचार है कि इस छद की गति और लय एक ही गण अर्थात् ध्वनि योजना की अनेक आवृत्तियो पर आश्रित रहते हैं। इसलिए उसमें एक निश्चित स्वर विधान होता है। यह लय राग वृत्तियों की शृखला सी बनाती है। जिसमें एक निश्चित क्रम से झकोरें सी उत्पन्न होती चलती है और अत में तुक पर जाकर एक और लपेट पड़ जाती है। नियमित रूप से राग का यह स्वरघात सवैया में एक अनूठी संगति पैदा करता है।[१]

आनंदघन ने सवैया छद के प्रयोग में रुचि की विविधता का प्रदर्शन नहीं किया है। प्रसिद्ध भेद दुर्मिल, मत्तगयंद, किरीट, अरसात आदि का जो भगणाश्रित और सगणाश्रित हैं प्रयोग किया है। भगण की लय अवरोह मूलक तथा सगण की आरोह मूलक है। दोनों का प्रयोग शृंगार में समलय के विधान के साथ अनुकूल है। जगणाश्रित लय मे मध्य मे गुरु अक्षर का उत्थान होने से लय मे अपेक्षाकृत कम मसृणता होती है। उसका प्रयोग इन्होंने बहुत कम किया है।

दुर्मिल सगण ८

सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
झ ल कै अ ति सु द र आ न न गौ र छ के द्द ग रा ज त का न नि छ्वै

सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
हँ सि बो ल नि में छ वि फू ल न की ब र पा उ र ऊ प र जा त है ह्वै

यहाँ उपान्त्यवर्ण 'है' का उच्चारण लघु है।

---

१ रीति काल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता। पृ० २३६

अधिक व्यवस्थित और प्रांजल छंद के प्रयोक्ता सिद्ध होते हैं। वे हैं भी इन सब में अर्वाचीन। उस समय तक इसका स्वरूप पूर्णरूप से व्यवस्थित और परिमार्जित हो चुका था। पर नरोत्तमदास और अकबर आदि के काल में इतना बड़ा अंतर नहीं है कि उस में ही इन छंदों का स्वरूप उत्पन्न भी होगया और उसी समय वह इतना परिष्कृत तथा परिमार्जित भी होगया जैसा नरोत्तमदास के सवैये हैं। अवश्य अकबर से पूर्व भी इनका व्यवहार काव्य में रहा होगा, भले ही वह मौखिक हो या जनपद साहित्य में हो।

सवैयों का स्वरूप

सवैया बड़ा व्यवस्थित वर्णवृत्त है। गणों तथा अंत के लघु गुरु अक्षरों के भेद से इसके अनेक भेद होते हैं। छन्द प्रभाकर में श्री जगन्नाथ प्रसाद ने इसके बारह भेद माने हैं। इसके प्रमुख भेद तीन हैं। भगणाश्रित, सगणाश्रित तथा जगणाश्रित। इनमें भगणाश्रित छः हैं जगणाश्रित तीन और सगणाश्रित तीन। प्रत्येक का पारिभाषिक स्वरूप इस प्रकार है।

भगणाश्रित

मदिरा	भगण ७ + S
मोद	भगण ५+मगण + सगण + S
मत्तगयंद	भगण ७ + S
चकोर	भगण ७+S।
अरसात	भगण ७+रगण
किरीट	भगण ८

जगणाश्रित

सुमुखी	जगण ७+।S
मुक्तहरा	जगण ८
वाम	जगण ७ + यगण

सगणाश्रित

दुर्मिल	सगण ८
सुन्दरी	सगण ८+S
अरविंद	सगण ८ + ।

इसके लय सौष्ठव की सभी आचार्यों ने प्रशसा की है। कवित्त की अपेक्षा अधिक प्रिय होने का कारण इसकी लय चारुता ही है। एक ही प्रकार के ध्वनि समूह (गण) की सात-सात आठ-आठ बार आवृत्ति होने से सगीत की ताल का निर्माण होता है। ध्वनि का आरोह-अवरोह विपम की मधुर समता उत्पन्न करता है। इसकी प्रसंशा मे डा० नगेन्द्र के विचार है कि इस छद की गति और लय एक ही गण अर्थात् ध्वनि योजना की अनेक आवृत्तियो पर आश्रित रहते है। इसलिए उसमें एक निश्चित स्वर विधान होता है। यह लय राग वृत्तियों की शृखला सी बनाती है। जिसमें एक निश्चित क्रम से झकोरें सी उत्पन्न होती चलती है और अत में तुक पर जाकर एक और लपेट पड़ जाती है। नियमित रूप से राग का यह स्वरपात सवैया में एक अनूठी सगति पैदा करता है।[1]

आनदघन ने सवैया छद के प्रयोग में रुचि की विविधता का प्रदर्शन नहीं किया है। प्रसिद्ध भेद दुर्मिल, मत्तगयद, किरीट, अरसात आदि का जो भगणाश्रित और सगणाश्रित हैं प्रयोग किया है। भगण की लय अवरोह मूलक तथा सगण की आरोह मूलक है। दोनों का प्रयोग शृगार में समलय के विधान के साथ अनुकूल है। जगणाश्रित लय में मध्य में गुरु अक्षर का उत्थान होने से लय में अपेक्षाकृत कम मसृणता होती है। उसका प्रयोग इन्होंने बहुत कम किया है।

दुर्मिल सगण ८

सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
झ ल कै अ ति सु द र आ न न गौ र छ के द ग रा ज त का न नि छ्वै

सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण सगण
। । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ । । ऽ
हँ सि बो ल नि मै छ बि फू ल न की ब र पा उ र ऊ प र जा त है ह्वै

यहाँ उपान्त्यवर्ण 'है' का उच्चारण लघु है।

---

[1] रीति काल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता। पृ० २३९

घनाक्षरी—

घनाक्षरी का इतिहास सवैयो के साथ ही साथ है। कुछ लोग इसे हिंदी का अपना छद ही नही मानते। कही से आया हुआ विजातीय छद समझते हैं। उनकी दृष्टि बगाल के 'पयार' छद पर पड़ती है, जो थोड़े परिवर्तन के साथ हिंदी मे कवित्त का स्वरूप लेकर आया है। इसे विजातीय कहने वालो मे सुमित्रानदन पत प्रमुख हैं। उनका कहना है कि कवित्त मुझे ऐसा जान पड़ता है कि हिंदी का औरसजात नहीं, पोष्यपुत्र है। न जाने यह कहाँ से कैसे हिंदी मे आ गया[1] दूसरे लोग इसे वैदिक छद अनुष्टुप का विकसित परिवर्तित रूप मानते हैं। इसकी लय की अवस्थाएँ विकसित हुई हैं। अक्षरो की सख्या वही है। इन अक्षरो वाले छद मे अत का सप्तक वैदिक उष्णिक (७ अक्षर) छद का अवशेष प्रतीत होता है। वैदिक युग का अनुष्टुप छद आज तक भारत की अनेक भाषाओ मे अनेक रूप धारण कर व्यवहृत हुआ है। वैदिक काल से ही इसका व्यवहार अत्यधिक मात्रा मे ही होता था। अतः ऐसे छद का परिवर्तित रूप मूल रूप से अधिक भिन्न हो जाए तो कोई आश्चर्य नहीं।[2]

उत्पत्ति की तरह इसकी लय माधुरी मे भी मत भेद है। पत के अनुसार कवित्त छद हिंदी के स्वर और लिपि के सामजस्य को छीन लेता है। उसमें यति के नियमो के पालन पूर्वक चाहे आप इकतीस गुरु अक्षर रख दें चाहे लघु, एक ही बात है। छद की रचना मे अतर नहीं आता। इसका कारण यह है कि कवित्त मे प्रत्येक अक्षर को चाहे वह गुरु हो या लघु एक ही मात्रा काल मिलता है, जिससे छदबद्ध शब्द एक दूसरे को झकझोरते हुए परस्पर टकराते हुए उच्चरित होते हैं। हिंदी का स्वाभाविक सगीत नष्ट हो जाता है। सारी शब्दावली मद्यपान कर लड़खड़ाती हुई अड़ती खिजती एक उत्तेजित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है।[3] निराला इसके विपरीत धारणा वाले हैं। उनके अनुसार यदि हिंदी का कोई जातीय छद चुना जाए तो वह यही होगा। कारण यह छद चिरकाल से इस जाति के कठ का हार

१—पल्लव प्रवेश पृ० २६

२—श्री पी० एल० शुक्ल—'आधुनिक हिंदी काव्य में छद' थीसिस हस्तलेख पृ० २१४

३—पल्लव प्रवेश पृ० २७

रहा है। दूसरे इस छंद में विशेष गुण यह भी है कि इसे चौताल आदि बड़ी तालों में तथा ठुमरी की तीन तालो मे सफलता पूर्वक गा सकते हैं। और नाटक आदि के समय इसे काफी प्रवाह के साथ पढ भी सकते हैं—इस छद मे art of reading का आनद मिलता है।[१]

यह दो परस्पर विरुद्ध धारणाएँ, प्रतीत होता है, कवियो की भावुकता का परिणाम है। पंत की कोमल भावुकता पौरुषपूर्ण छद की सवलता को हृदयग्राही नही समझ सकी और निराला की उदात्त विशाल पौरुष कला के लिए वह विशेष अनुकूल लगा। इस छद में मधुर भावों की अभिव्यक्ति उतनी सफलता के साथ नहीं हो सकती जितनी ओजपूर्ण रचनाओं की हो सकती है, वीर, भयानक, वीभत्स, आदि रसों के लिए यह अधिक उपयुक्त छद है। पहले जो इसका प्रयोग स्तुतियो और नाराशसाओं मे कवियो ने किया था वह इसकी प्रकृति के अनुकूल है। शिखरिणी आदि की तरह दीर्घ-काय होने के कारण यह स्तुतियो का छद है। रीति काल में इसकी प्रकृति का विचार नहीं किया गया। शृगार उस समय का सर्व प्रधान रस था। उसमें प्रचलित दोनों छदों का प्रयोग किया गया, सवैया का और इसका। तुलसी-दास, भूषण, पद्माकर चद्रशेखर, तथा वाजपेयी आदि ने इसका। प्रयोग वीर रस मे किया है तो उन्हें अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली है। कवित्त सवैयों के रसानुकूल प्रयोग तुलसी की कवितावली में अधिक है। लकाकाड के वर्णन में प्रायः कवित्तो का प्रयोग है। रीतिकाल के कुछ शृगारी कवियों ने लय और शब्दावली के आधार पर इसे शृंगार-अनुकूल भी बना लिया था। इसकी ओज प्रधान प्रकृति कोमल और तरल बन गई।

भेद

कवित्त के भेद तो अनेक हैं पर मुख्य दो ही हैं, मनहर और घनाक्षरी पहले में ३१ तथा दूसरे में ३२ अक्षर होते हैं। शास्त्रीय दृष्टि से ८, ८ अक्षरो पर यति होनी चाहिए। पर यह लय पर निर्भर है। १६ अक्षर पर भी विराम देते हैं। कही कहीं पर ८ के स्थान पर ७ या ६ पर भी यति पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त इसके विषय में कुछ सूक्ष्म नियम भी हैं, जो लय माधुरी की दृष्टि से मान्य हैं। रत्नाकर जी ने दो नियम विशेष बताएँ हैं। एक तो छंद के आदि मे तथा चार, आठ, बारह, सोलह, चौबीस तथा अट्ठाईस वर्णों के

१—परिमल की भूमिका।

पश्चात यदि कोई शब्द आरभ मे हो तो इसके आदि मे जगण तथा तगण न पड़ने पाएँ। दूसरे तीन, सात, ग्यारह, पद्रह, उन्नीस, तेईस और सत्ताइस अक्षरों के पश्चात् जो शब्द आए और एक अक्षर से अधिक का हो तो उसके आरभ में लघु गुरु : । ऽ · का होना आवश्यक है। आनदघन के कवित्त औरों की अपेक्षा सरस कोमल तो है ही। छन्द सपूर्णता तथा छादसपरिमार्जन भी इसके कवित्तों मे उच्चकोटि का है। इनका मनहर छद परखा जाए।

लाजनि लपेटी चितवनि भेदभाय भरी,
लसति ललित लोल चख तिरछानि मैं।
छवि को सदन गोरो वदन रुचिर भाल,
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि मैं।
दसन दमक फैलि हियें मोती माल होति,
पिय सों ललकि प्रेम पगी वतरानि मैं।
आनद की निधि जगमगति छबीली बाल,
अगनि अनग रग ढुरि मुरि जानि मैं।

इसमे केवल पहली पक्ति मे ८ वें अक्षर की यति चितवनि शब्द के मध्य में आती है अन्यत्र सर्वत्र जहाँ यति है वहीं शब्द भी पूर्ण हो जाता है। 'जगमगति' शब्द तो 'जग' 'मग' दो ध्वनियो के सयुक्त रूप का नाम धातु शब्द है। उसके 'जग' को एक ही शब्द माना जा सकता है। इस तरह यति का निर्वाह बडी सफलता के साथ हुआ है। लय की दृष्टि से देखें तो और अधिक स्वच्छता दिखाई पड़ती है। लय का विधान समध्वनि (दो ध्वनि गुरु या लघु) के बाद समध्वनि तथा विषम के बाद वैसी ही विषम ध्वनि के प्रयोग से बनता है। इस छद मे तीन ध्वनियो के अक्षर के बाद तीन तथा दो ध्वनियों के अक्षर के बाद दो ध्वनियो के अक्षरों का प्रयोग हुआ है। 'लाजनि' के बाद 'लपेटी', 'लसति' के बाद 'ललित' 'दसन' के बाद 'दमक' 'अगनि' के बाद 'अनग' शब्द आए हैं। इसी तरह 'भेद' के अनतर 'भाय', 'भरी', 'लोल' के बाद 'चख' और 'फैलि' के बाद चार अक्षर दो ध्वनियों के हैं।

इसी प्रकार अतिम पक्ति में 'रग' के बाद तीन ध्वनियों के शब्द हैं। एक एक शब्द की लय का ही सयोजन नहीं अनेक शब्दों की लय को भी

सयोजित किया है। 'छवि को सदन' के बाद 'गोरो बदन' की लयात्मक इकाई पर अनुप्रास योजना लय विधान के सौष्ठव को बढाती है। छदों की लय के द्वारा भाव व्यजना का उपयोग भी इस छद मे किया हुआ आभासित होता है। अत की पक्ति में 'अगनि' और 'अनग' दो शब्द तीन ध्वनियो के कहकर फिर एक विशेष लहक के साथ जो दो ध्वनियों के अक्षरों पर लय को मोड़ा है तो अर्थ की तरह लय भी अनुप्रास की ताल के साथ मुड़ सी जाती है। रत्नाकर जी के पहले नियम का पालन तो प्रायः इनके छदों में हो गया है पर दूसरे नियम का पालन कहीं नहीं हुआ। शैली ही कुछ ऐसी प्रतीत होती है। पहली पक्ति मे १२ वें अक्षर के बाद 'भाय' शब्द, दूसरी पक्ति मे ८ वें अक्षर के बाद 'बदन' तीसरी पक्ति में ८ वें 'फैलि' के बाद 'हिये' आदि शब्द न जगणात्मक हैं न तगणात्मक। पर तीसरे अक्षर 'लाजनि' के बाद 'लपेटी', 'अगनि' के बाद 'अनग' शब्द तो लघु गुरु हैं पर 'दसन' के बाद 'दमक' वैसा नहीं है।

इनकी रूप घनाक्षरी यह है –

जहाँ जौं संदेसो ताको वड़ोई अंदेसो आहि,
न्हानै मन वारे की कहैऽब को सुनै सु कौन।
निधरख जान अलबेले निलरक ओर,
दुखिया कहै या कहा तहाँ की उचिन हौ न।
पर दुख दल के दलन को प्रभजन हो
ढरकौंहैं देखि के विवस थकि परी मौन।
इतकी मसम दसा लै दिखाय सकत जू,
लालन सुवास सों मिलाय हू सकत पौन।

इसमें प्रत्येक पक्ति १७, १६ अक्षरों की हैं। यहाँ प्रथम पक्ति के 'ताको' तथा सातवीं पक्ति के 'दसा' शब्द पर तो अष्टमाक्षर की यति आती है, नहीं तो सर्वत्र १६ वें अक्षर पर ही यति विधान हैं। पहली पक्ति मे लय विधान भी अच्छा नहीं है। ध्वनियों का परस्पर मे मेल नहीं है। 'कहीं' दो ध्वनि का है 'जौ' एक का है। फिर 'सदेसो' तीन का है। इसके बाद 'ताको फिर दो का शब्द है।

सुमेरु छंद—'वियोग बेलि' सुमेरु छद मे लिखी गई है। यह छंद सस्कृत के वियोगिनी छंद की तरह करुण तथा विरह के भावो के लिए अत्यंत

उपयुक्त है। यह बारह मात्रा का मात्रिक छंद है। इसमें १२+७ अथवा १०+६ पर यति होती है। इसके आदि में लघु रहता है अंत में यगण (।SS)। भानु ने इसके विषय में विशेष नियम लिखा है कि इसके अंत में तगण (SS।) रगण (S।S) जगण (।S।) अथवा मगण (SSS) नहीं होने चाहिएँ। आनंदघन ने वियोग वेलि शीर्षक से विरह का वर्णन करने के लिए इस छंद का प्रयोग कर रसिकता का परिचय दिया है। इसीको बंगाली 'विलावल' भी कहते हैं।

छंद क्रम निम्न प्रकार से है।

१ २ २ २ १ २ २ २ १ २ २
स लो ने स्या म प्या रे क्यों न आ वौ। =१९

१ १ १ २ २ १ २ १ १ २ १ २ २
द र स प्या सी म रैं ति न कौ जि वा वौ। =१९

अरल्ल

जगन्नाथ प्रसाद ने अपने छंद प्रभाकर में इसका नाम प्लवंगम और अरल या अरिल्ल दिया है। यह २१ मात्राओं का छंद है। ८+१३ अथवा ११+१० पर इसकी यति होती है। पहली यति वाले को प्लवंगम और दूसरी यति वाले को चान्द्रायण कहते हैं। प्लवंगम तथा चान्द्रायण मिला देने से और अंत में लघु गुरु (।S) अक्षर कर देने से त्रिलोकी छंद होता है। भानु जी ने दोनों का भेद इस प्रकार दिया है।

१—प्लवंगम के आदि में S होता है। अंत में जगण और एक गुरु (।S।S) अथवा लघु गुरु (।S) अवश्य होते हैं।

२—चान्द्रायण में आदि में लघु या गुरु अक्षर समकलात्मक रूप से आते हैं। ११ मात्राएँ जगणांत तथा १० मात्राएँ रगणांत होती हैं।

घनानंद ने त्रिलोकी छंद का ही प्रयोग किया है। दोनों का मेल कर दिया है। यथा :—

१ १ १ १ २ २ २ १ २ १ २ २ १ २
स ज न स लो ना या र न द दा सो ह ना =२१

१ १ १ १ २ २ २ १ १ १ १ १ १ २ १ २
र सि क वि हा री छे क सु म न म थ मो ह ना। =२१

लेकिन—

२ १ १ १ १ २ २ १ १ २ १ • २ १ २
है ह ल ध र दे वी र च ले कि त जा त हौं =२१

१ १ १ २ १ १ १ २ १ १ १ १ २ २ १ २
नि ठु र का न्ह म ह वृ ब न सु न दे वा त हौं =१८

यहा पहली पंक्ति का आरभ अक्षर गुरु है दूसरी का लघु। पहला प्लवंग और चान्द्रायण का मिश्रित रूप है। यति भी ११+१० पर है।

इस छद की लय हलके भावों के अधिक उपयुक्त लगती है। करुण या वियोग जैसे विषादात्मक भाव के अनुकूल नहीं। यह छद बंदर की चाल से चलता है। इसलिए प्लवगम कहलाता है। 'प्रेम पत्रिका' मे भी इसी छंद का प्रयोग कवि ने किया है। वहा भी प्लवगम और चान्द्रायण का मिश्रण है।

ताटंक

यह ३० मात्राओ का १६+१४ की यति का छंद है। इस के अंत मे मगग होता। इश्कलता मे आनदघन ने इसका भी प्रयोग किया है। यहा होली के गीता में श्रीकृष्ण-गोपी के स्नेह का वर्णन है। छद का लय होली जैसे उल्लासमय अवसर पर गाए जाने वाले गीतों के लिए उपयुक्त है। इसी को लावनी तथा माझ भी कहते हैं।

२ २ २ २ १ २ १ २ २ २ २ २ २ २ २ १
की की खू बी क हैं तु सा डी हो हो हो हो हो री है =३०

२ २ २ १ १ १ १ १ १ १ १ २ १ २ १ २ १ १ २ २ २
वू का चं द न अ ग र कु म कु सा भ रें गु ला ल न मा रीं हैं।=३०

निसानी

इसे भानु ने उपमान छद बताया है। यह २३ मात्राओ का १३+१० यति वाला छद है। इसके अत मे दो गुरु अक्षर होते हैं। इश्कलता मे इसका भी प्रयोग हुआ है।

जैसे—

१ १ २ २ १ १ १ १ १ २ १ १ २ १ १ २ २
य न नू क्यों क र ग हि स कौं घ न आ नँ द पी चा =२३

२ २ २ १ १ १ १ १ २ २ १ १ २ २ २
मैं तैं ढी ल ट क न फँ घा क्या तु ज नू की या =२३

इश्कलता मे अरल्ल, ताटक, उपमान और दोहा चार छदो का प्रयोग हुआ है। भाषा भी पजाबी और ब्रज है, तथा फारसी के कतिपय शब्दो का प्रयोग किया गया है। छदो का लय, भाव, छद-परिवृत्ति तथा फारसी शैली से प्रतीत होता है कि कवि भाव की मस्ती मे रचना कर रहा है।

शोभन

गोकुल विनोद मे शोभन छद का प्रयोग हुआ है। यह २४ मात्राओ का १०+१४ की यति वाला जगणात छद है जिसे सिहका भी कहते हैं।

२ १ २ १ १ १ १ १ २ २ १ १ १ २ १ १ २ १ =२४
नं द गो कु ल व र नि धा नी वि स द जा ति नि वा स

१ २ २ २ २ १ १ १ १ १ १ २ १ १ २ २ =२४
न हा नि त्या न द घ न अ द्भु त अ ख ड वि ला स।

शोभन जैसे गभीर ओजमय छद मे जो कवि ने सस्कृत बहुल समस्त वाक्यो की सघन शैली अपनाई है वह छदोऽनुकूल ही है।

त्रिभगी

आनदघनजी के तेरह पद्य त्रिभगी छद के हैं जिन मे ३२ मात्राएँ १०+८+८+६ की यति के साथ होती है, अत मे गुरु अक्षर होता है। पर आनदघन जी ने १६+१६ की यति ही रक्खी है जैसे—

१ २ २ १ १ १ १ २ १ २ १ १ २ १ १ १ १ १ १ १ १ १ २ २=३२
क हाँ जा हिं अ रु क हैं क हा अ ब तु म तौ पि य स्य व ग ति नि थकाई

इस के अतिरिक्त प्रबधों में दोहे चौपाई का प्रयोग किया है। चौपाई मे मे कवि को अधिक सफलता नहीं मिली। इसका कारण एक तो उनकी भक्ति भावना की प्रधानता तथा कवित्व विच्छित्ति की उपेक्षा है। दूसरे चौपाई छद ब्रज भाषा के लिए अनुकूल नही पड़ता। यह तो अवधी के लिए ही मानों निर्मित हुआ है।

पदावली में गेयपद हैं। वे आकार में छोटे होने के कारण वस्तुतः गेय हैं। इसलिए बहुत से पदों के साथ न जाने कब से उनके रागनाम और ताल का उल्लेख मिलता है।

अलंकार योजना

१—आनंदघन को रचनाओ मे अलकारों का प्रयोग अत्यल्प है। सीधी सरल शैली से मार्मिक भावो को व्यक्त करने वाले पद्य सख्या में अधिक हैं। इन निरलकार पद्यो में भाव ऐसी सत्यता तथा मार्मिकता से प्रकट हुए हैं कि अलकार यदि आते तो उनकी उज्वल निश्छलता को मलिन ही करते। 'वियोगी विरह व्यथा के कारण जीवन तथा इन्द्रियों से ऊब गया है। उन्हें समाप्त करना चाहता है। पर प्रिय मिलन की आशा से ऐसा नहीं करता वह कहता है—

दृग नीर सों दीठहि देहुँ बहाय पै वा मुख कौं अभिलाषि रही।
रसना विष बोरि गिराहि ससौं वह नाम सुधानिधि भाखिरही।
घन आनंद जान सुबैननि त्यों रचि कान बचे रुचि साखि रही।
निज जीवन पाय पलै कबहू पिय कारन यौं जिय राखि रही।

इसी प्रकार प्रिय के निकट बैठने पर भी प्रेमी के वियोग की ही अनुभूति होती है। उसका वर्णन देखे—

ढिग बैठे हू पैठि रहै उर मैं धरकै खरकै दुख दोहतु है।
दृग आगे त बैरी कहूँ न टरै जग जोहनि-अतरजोहतु है।
घन आनंद मीत सुजान मिलैं बसि बीच तऊ मति मोहतु है।
यह कैसो सँजोग न बूझि परै जु वियोग न क्यौ हूँ विछोहतु है।

यहाँ कवि अपनी हृदय की अन्तर्दशाओं के कहने में भूला हुआ है। उसे अलकारो की सुधि नहीं, वर्णनात्मक प्रबधों में अलकार-योजना का अभाव ही है। गेय पदों में भी कहीं कहीं इनके दर्शन होते हैं। कवित्त सवैयों में इनका प्रयोग किया गया है। इनमें भी जो अत्यत मार्मिक पद्य हैं वे प्रायः निरलकार सरल भाषा में लिखे गए हैं—

वैसे कवि का जो भाषा सम्बन्धी आदर्श है उसमें अलकारो का स्थान है, पर वे अर्थोत्कारक हों। 'हृदय के भवन मे मौन का घूंघट डाल कर जो बात बनिता बैठी रहती है वह रस की मणियों तथा पदार्थों के मजु भूषणों से शोभायमान होती है'।

उर मौन मैं भौंन को घूंघट के दुरि बैठो विराजति बात बनी।
मृदु मजु पदारथ भूषन सों सु लसै हुलसै रस रूप मनी

सुहि० १६२

भूषण पदार्थो, प्रतिपाद्य अर्थो के ही बने होने चाहिए। 'अलकार सर्वस्व' में रुय्यक ने तथा 'अभिनय भारती' एव 'ध्वन्यालोक मे आनद-वर्धनाचार्य ने जिस अलकारप्रयोग को 'अभिधान प्रकार' और 'रसाभिव्यक्ति का अतरग साधन' माना है[1] उसके समान ही भावना आनदघन की है। इनके अनुसार पदार्थ ही अलकार बनें, उसके पूर्ण होने पर बाद मे अल-कार की नक्काशी न की जाए' नीचे लिखे पद्य इसी प्रकार के अलकार प्रयोग का निदर्शन है।

हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानैं।
नीर सनेही कों लाय कलक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानैं।
प्रीति की रीति सु क्यों समुझै जड़ मीत के पानि परे कों प्रमानैं।
या मन की जु दसा घनआनद जोव की जीवनि जान ही जानैं।

सुहि० ४

यहा कहने को व्यतिरेक अलकार स्पष्ट है पर उससे अतिरिक्त अलकार्य का कैसा स्वरूप होगा यह विश्लेपण नहीं किया जा सकता। इन्होंने प्रायः इसी प्रकार के प्रयोग किए हैं।

३—सिद्धाततः आनदवर्धन ने अपने ध्वन्यालोक मे अलकार के दो भेद किए हैं, पृथक्यत्ननिर्वर्त्य तथा अपृथग्यत्म निर्वर्त्य।[2] पहला वह है जो कवि की अनुभूति का निजस्वरूप तो निरलकार ही हो पर उसे सजाने के लिए जानकर कवि पृथक रूप से अलकारयोजना करता हो। रीतिमार्गी कवि प्रायः ऐसा ही किया करते हैं। दूसरा वह है जिसका जन्म हृदय के उसी अनुभवन प्रयत्न से हुआ हो जिससे भाव का होता है, अर्थात् अलकार और भाव में कोई अन्तर न हो। भाव का उदय जब हृदय मे किसी असा-धारण रूप में होता है तो वह अपने अनुकूल असाधारण भाषा का निर्माण आप ही कर लेता है। यह 'अपृथग्-यत्ननिर्वर्त्य' रूप है। दो शब्दो मे भाव- सहजात और भाव-अनुजात दो प्रकार के प्रयोग अलकारों के होते हैं। इनके विषय में जो हल्की धारणा बनती है वह भाव-अनुजात अलकारों के विषय में ही है। आनदघन के प्रयोग प्रायः भाव सहजात हैं। उत्प्रेक्षा के दो उदाहरण और देकर अपनी बात स्पष्ट करते हैं।

---

१ —अभिधानप्रकार विशेष्या एव अलकारा अलकार सर्वस्व।
न तेषा वहिरगत्व रसाभिव्यक्तौ, अभिनवभारती।

२— रसाक्षिप्ततया यस्य वन्ध शक्यक्रियोभवेत्।
अपृथग् यत्न-निर्वत्य सोलकारो ध्वनौमत। ध्वन्यालोक उद्योतश्कारिका १७

झलकै अति सुदर आनन गौर छके दृग राजत काननि छ्वै।
हँसि बोलनि मै छवि फूलनकी वरपा डर ऊपर जाति है ह्वै।
लट लोल कपोल कलोल करैं कल कठ वनी जलजावलि द्वै।
अँग अग तरग उठै दुति की परि है मनौ रूप अवै धर च्वै।

प्रकीर्णक २,

छवि को सदन गोरो वदन रुचिर भाल
रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यान मैं।

प्रकी० १,

यहा 'परिहै मनौ रूप अवै धर च्वै' तथा 'रस निचुरत' मे उत्प्रेक्षा है। वह भाव का ही अग है।

४--विरोध या तन्मूलक अन्य असगति आदि जो अलंकार प्रचुरता से बारबार आए हैं उनका कारण कवि की विपमता पूर्ण प्रेम भावना है। इनकी शैली जो वक्रतापूर्ण कही जाती है वह विरोध और लक्षणा की प्रकृति के कारण ही है और विरोध तथा लक्षणा दोनों का जन्म प्रेमानुभूति द्वारा हुआ है। जहा अनुभूति गभीर तथा आन्तरिक होती है वहा लक्षणा का और जहा प्रेम की विपमता एव विलक्षणता की अभिव्यक्ति होती है वहा विरोध विच्छित्ति आ जाती है। है सर्वत्र वाह्य विच्छित्ति का जन्म आन्तरिक अनुभूति से ही। वियोगी की आखो का एक वर्णन इस के लिए देखा जाए।

जल वूडी जरैं, दीठि पाय हू न सूझ करैं
अमी पियैं मरैं, मोहि अचिरज अति है।
चोर सौ न ढकैं, वानी विन विथा बकैं,
दौरि परैं, न निगोडी थकैं, वडी भूतागति है।

सुहि० ५१

यहा नेत्रो की वास्तविक दशा ही ऐसी है कि वे परस्पर विरुद्ध धर्मों का आश्रय हो गई हैं। इसलिए इनका विरोध सत्य सा लगता है। विरोध जैसे चमत्कारप्राण अलंकारों मे भी कवि आत्मकथा सी कहता प्रतीत होता है, अन्य अलकारो की तो बात ही दूसरी है।

५--भावसहजात होने के कारण ही अलकारो में जो उपमान प्रयुक्त हुए हैं वे अनुभूति के व्यजक, प्रभाव साम्य के द्योतक तथा मनोवैज्ञानिक हैं। मनोवैज्ञानिक से तात्पर्य यह है कि उनके देखने से साधारण व्यक्तियो को

भी उन्हीं भावों की अनुभूति होती है जिनका साम्य देने के लिए कवि ने प्रयुक्त किए हैं। ये उपमान कवि परंपरा प्राप्त प्रायः नहीं हैं, अनुभूति प्रसूत हैं। जैसे यौवन के उच्छ्वल रूप को 'लहराता हुआ जल' और अंगदीप्ति को उसकी 'तरंगे बताया है। इस से सौंदर्य का तरलस्वरूप, यौवनागम के कारण शरीर का लहराना, तथा सौंदर्य का शरीर में लबालब भरा रहना व्यंग्य होता है। साथ ही सौन्दर्य को कवि 'लहराते जल की तरह शान्ति-दायक समझता है—यह भी स्पष्ट हो जाता है। उपमान केवल सारूप्य या साधर्म्य का ही द्योतक नहीं है। वह प्रभाव साम्य का भी व्यंजक है। विरह की व्याकुलता की उपमा 'धूएं की धूंधरि में घुटने' से दी है। आशा को दूसरे लोग हरियाली या अंधकार में चमकने वाला दीपक कहते हैं। आनंद-घन उसे कभी तो फाँसी कहते हैं जो उनके गले में पड़ कर प्राण नहीं निकलने देती। कभी उसे आकाश बताते हैं, जो विस्तृत तो इतना है कि कोई सीमा ही नहीं पर है शून्य ही। वियोगी के लिए असफल आशा का इससे अच्छा और क्या चित्र हो सकता है। रीझ या चाह के आगमन को वर्षा समझा है। जिस प्रकार वर्षा में एक के बाद एक बूंद पड़ती है उसी प्रकार चाह में एक के बाद एक अभिलाषा हृदय से उत्पन्न नहीं होती, कवि कहता है, बरसती है। वर्षा में विन्दुसतान के अवरोध से जिस प्रकार निकटस्थ वस्तु भी दिखाई नहीं देती उसी प्रकार चाह के कारण भी प्रिय का रूप पूरा दिखाई नहीं देता। चाह की अनुभूति की आंतरिक दाह से समता देते हैं और प्रिय के रूप की जल से तथा प्रिय की आनंदघन से। इससे कवि की भावना भवभूति की प्रेम भावना से भिन्न सिद्ध होती है। भवभूति ने स्नेहा-भिलाप को मधुर मोह बताया है जो इन्द्रिय व्यापारों का आवरण कर चैतन्य को निमीलित करता है। वह एक आनंद है।[1] पर ये उसको चेटक, दाह, मोह, मिठास की लाग, आदि कह कर अपने शारीरिक आसक्ति प्रधान मांसल प्रेम का स्वरूप प्रकट करते हैं, जिसकी उत्कटता प्रिय के अभाव तथा भाव में दुःख रूप ही बनी रहती है। वासनात्मक प्रेम की अभिव्यक्ति इन उपमानों से ही हो सकती है। ये भी प्रभाव साम्य के उदाहरण हैं। प्रिय के बिना घर को प्रेमी 'झाकसी' समझता है जिसमें दम घुट घुट कर प्राणान्त होता है।

आनंदघन के उपमानों में भी भावों की तरह व्यक्तित्व की झलक है। सुख दुख की अनुभूति के जो व्यक्तिगत रूप होते हैं उनका परिचय इनके

१—उत्तर रामचरित अंक १ श्लोक ३५

अलकारो में भी मिलता है। स्नेह को इन्होंने फदे की गाठ कहा है और चाह को प्रवाह। फदे की गाठ खोलने लगें तो स्वय उसमें फंस जाते हैं। बाहर निकलना नहीं होता। इसी प्रकार प्रवाह में पडे व्यक्ति का बाहर निकास नहीं होता उसी में बहा हुआ चला जाता है। उदात्त हृदय की प्रेम भावना भी इसी प्रकार की होती है कि उससे छुटकारा किसी प्रकार नहीं मिलता। आनद घन की प्रेमभावना में सयोग में भी प्रेमी दुखी है और वियोग में भी वह चाह के प्रवाह में पड़ा हुआ है। किसी प्रकार निकास नहीं होता।

सूझै नहीं सुरझि उरझि नेह गुरझनि
मुरझि मुरझि निसिदिन डावाडोल है।
आह की न थाह देया कठिन भयौ निबाह
चाह के प्रवाह घैरयौ दारुन कलोल है।

इस पद्य मे अप्रस्तुत द्वारा जो भाव व्यक्त किए गए हैं उनकी अतर्दशाए दूसरे पद्य में प्रस्तुत रूप से वर्णित हुई हैं।

जैसे—

अतर उदेग दाह, आखिन प्रवाह आसू
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोइबो न जागियो हो, हसिबो न रोइबो हू,
खोय खोय आप ही, मैं चेटक लहनि है।
जान प्यारे प्रानन बसत पै आनदघन
विरह विषम दसा मूक लौं कहनि है।
जीवन मरन जीव मीच विना वन्यौ आय
हाय कौन विध रची नेही की रहनि है।

आ० घ० क० ३९

इसमें जो भाव व्यक्त हुए हैं वे ही ऊपर की 'मुरझनि' तथा 'प्रवाह' उपमान से व्यक्त होते हैं। कवि की अनुभूतियों का स्पष्ट आभास उनके उपमानों द्वारा लग जाता है क्योंकि वे भाव जन्मा है। ऊपर के उपमान तथा उसके अनुसार जो अन्तर्दशाएँ कवि ने व्यक्त की हैं उसीं के समानान्तर भावना है कि 'यदि दुख के धुएँ की धूमर में घुट कर प्राण मर भी जाएं तो मनभावन से नाता तनिक भी न छुटेगा' प्राणों के गले मे जो आशा का पाश पड़ा हुआ है वह टूटेगा नहीं।

दुख धूम की धूंधरि मैं घनआनद जौ यह जीव विरयौ घुटि है।
मनभावन मीत सुजान सौं नातो लग्यौ तनकौ न तऊ टुटि है।
घुरि आस की पास उसास गरैं जु परी सु मरैं हू कहा छुटि है।

इस तरह कवि के अप्रस्तुत उसके व्यक्तित्व के प्रतिनिधि हैं। उसकी अनुभूतियो का पूर्ण परिचय उनमे मिलता है।

कुछ उपमान वस्तु व्यजक भी आए हैं जैसे वियोग मे अपने मन को समझाता हुआ प्रेमी कहता है।

विष लै विसारयौ तन कै विसासी आप धारयौ।
जान्यौ हुतौ मन तै सनेह कछु खेल सो।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रै भली भांति
नीकैं सहि असह उदेग दुख सेल सौं।
गए उडि तुरत पखेरु लौं सकल सुख
परयौ आय औचक वियोग वैरी डेल सौ।

सुहि० १६४

इनमे वियोग की डेल वताने से उसका आकर न जाना, तथा सुखों का पक्षी की तरह सर्वथा शीघ्र लुप्त हो जाना, व्यजित होता है। उपमानों के प्रयोग में कवि की यह भी विशेपता है कि फारसी साहित्य से प्रभावित होकर भी उन्होंने उपमानों का स्वरुप भारतीय रक्खा है। चातक पपीहा, पकज, चन्द्रमा, आदि की ही सख्या अधिक है, वधिक पखेरू आदि की कम।

६—कुछ अलकारो की योजना कल्पनाप्रसूत भी हैं जो रीतिकाल के प्रभाव का अवशेष ही कहा जाएगा। पर ऐसे पद्यों की सख्या अत्यल्प है। वियोग में प्रिय के ध्यान का वर्णन करता हुआ कवि कहता है कि 'मेरा शरीर फानूस की हाडी है। उस पर विघ्नों के पट लिपटे हुए हैं। पर तुम्हारा ध्यान दीपक की तरह मध्य में रक्खा हुआ है। नेत्र पतगों के समान उसी के साथ रहते हैं'।

घेरयौ घट आय अंतराय पर निपट पै
ता मधि उजारे धारे फानुस के दीप हौ।
लोचन पतग सग तजै न तऊ सुजान।

सुहि० ६४

इसी प्रकार का विरह की दावाग्नि का वर्णन है

विरह दवागिनि उठी है तन मन बीच
जतन सलिल के सु कैसें नीचियै परै।
अन्तर पुढ़ाई फटे चटकत सांस वांस
आस लखी लता हू उदेग झरसों जरै।
दुख धूम धुंधरि मै घिरे घुटैं प्रान खग
अब लौं बचे हैं जौ सुजान तनकौ ढरै।
बरसि दरस घन आनद अरस छाड़ि
सरस परस दै दहनि सब ही हरै।

सुहि० ५०

७—जिन अलंकारों का इन्होंने प्रयोग किया है वे प्रसिद्ध ही हैं। इस प्रकार के अलकार सभी के काव्य में आ सकते हैं। इससे कवि की प्रवृत्ति अलकार निरपेक्ष प्रतीत होती है। इनके काव्य मे लगभग नीचे लिखे अलकारों का प्रयोग हुआ है।

१—यमक

टारें टरैं नहीं तारे कहूं सु लगे मन मोहन मोह के तारे।

सुहि० १

तारे आखो की पुतली तथा ताले।

काहू कलपाय है सु कैसें कल पाय है।

प्रकीर्णंक ६

कलपाय=दुखी करेगा तथा चैन पाएगा।

२—श्लेष

मित्र अक आएं जोति जालनि जगत है।

सुहि० २००

मित्र=सूर्य तथा सुहृत्।

३—अनुप्रास

वक विसाल रंगीले रसाल छबीले कटाछ कलानि मै पंडित।
सांवल सेत निकाई निकेत हियौ हरिलेत है आरस मंडित।

सुहि० १८

सासनि सुगध सोंधे कोटक समोय धरे।
अंग अग रूप रग रस धरयौ करै।

सुहि० २१६

४—उपमा

चित चबुक लोह लौं चायनि च्वे चुहटै उहटै नहि जेतो गहौं ।

सुहि० १०

मन पारद कूप लौं रूप चहै उमहै सुरहै नहि जेतो गहौं ।

सुहि० ११

५—सांगरूपक

रस सागर नागर स्याम लखें अभिलाखनि धार मझार बहौं ।
सु न सूझत धीर को तीर कहूँ पचि हारि कै लाज सिवार गहौं
घनआनंद एक अचभो बडो गुन हाथ हूँ बूडति कासौं कहौं ।

सुहि० १२

रूप चमूप सज्यौ दल देखि भज्यौ तजि देसहि धीर मवासी ।
नैन मिलै उर के पर पैठते लाज लुटी न छुटी तिनका सी
रीझ सुजान सटी पटरानी बची बुधि बावरी ह्वै करि दासी ।

सुहि० ४८

६—व्यतिरेक

हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै ।
नीर सनेही सों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै ।
प्रीति की रीति सु क्यौं समझै जड़ मीत के प्रान परे को प्रमानैं ।
या मन की जु सदा घनआनद जानकी जीवनि जान ही जानै ।

७—अनन्वय

सब भाति सुजान समान न आन कहा कहौ आपु ते आपु लसै ।

सुहि० ८८

८—संदेह

सीमा सुमेरु की सखितटी किधौं मान मवास गढ़ास की घाटी ।
कै रसराज प्रवाह को मारग बेनी बिहार सों यों दग दाटी
काम कलाधर ओपि दई मनौ प्रीतम प्यार पढावन पाटी
जान की पीठि लखें घनआनंद आनन आन तें होति उचाटी

सुहि० १०२

९—विनिमय

दुख दे सुख पावत हौं तुम तौ चित के अरपे हम चिंत लही ।
तुम कौन धौं पाटी पढे हौ लला मन लेहु पै देहु छटाक नहीं ।

१०—अपह्नुति

जारति अंग अनग की आचनि जोन्ह नहीं सु नई अगिलाई ।

सुहि० १९८

११—प्रतीप

तेरे आगे चन्द्रमा कलंक सो लगत है ।

सुहि० २००

१२—उत्प्रेक्षा

अग अग आली छवि छल क्यों करति है ।

प्रकीर्णक १४

अग तरग उठै दुति की परि है मनौरूप अबै घर च्वै ।

प्र० २

१३—दीपक

नाद को सवाद जानै वापुरो वधिक कहा ।
रूप के विधान को बखान कहा सूर सों ।
सरस परस के विलास जड़ जानै कहा ।
नीरस निगोड़ी दिन भरै भखि ऊरसों
चाह की चटकतें भयौ न हिये चौंप जाके
प्रेम पीर कथा कहै कहा भकभूर सों ।

सुहि० ५०६

१४—अर्थान्तरन्यास

पीर मरयौ जिय धीर धरै नहि कैसें रहै जल जाल के बाधे ।

सुहि० १६१

१५—अतिशयोक्ति

रोम रोम रसना ह्वै लहै जो गिरा के गुन ।
तऊ जान प्यारी निबरैं न मैन आरतें ।

सुहि० १८४

१६—अनुमान

जौ उहि ओर घटा घन घोर सों चातक ओर उछाहनि फूलते ।
त्यों आनदघन औसर साजि सजोगिन झुड हिंडोरनि झूलते ।
ग्रीष्मतैं हतई जु लता द्रुम अकनि लागती है रसमूल ते ।
तौ सजनी जिय ज्यावन जान सु क्यौं इत के हित की सुधि भूलते ।

सुहि० २२३

१७—प्रतिवस्तूपमा

महो दूध सम गनै हस बग भेद न जानै,
कोकिल काक न ज्ञान काच मनि एक प्रमानै।
चदन ढाक समान राग रूपौ सम तोलै,
विन विवेक गुन दोप मूढ कवि व्यौरि न बोलै।
प्रेम नेम हित चतुराई जे न विचारत नेकु मन,
सपनेहु न विलविये छिन तिन ढिग आनदघन।

सुहि० २८५

१८—असंगति

जान प्रवीन के हाथ को बीन है मोचित राग भर्‌यौ नित राजै।

वही १३५

१६—विरोध

आनदघन का विरोधाभास अलकार दूसरे कवियो के इस अलकार से भिन्न है। साधारणतया इसकी योजना शब्दमूलक होती है। द्वयर्थक शब्दों के एक अर्थ को लेकर विरोध का आभास होता है और दूसरे अर्थ से उसका परिहार होता है। संस्कृत साहित्य मे इसकी यही परपरा है। इसके मूल में श्लेप प्राय. होता है। हिन्दी के कवियों की पद्धति भी इस विपय में यही है। महाकवि केशव की रचनाओ मे विरोध का यही रूप मिलता है।

जैसे—

विपमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति।
केशव जीवन हार को दुख अशेप हर लेति।

रामचंद्रिका।

यहा 'विप' शब्द का जहर अर्थ लेकर विरोध प्रतीत होता है पर जल अर्थ से उसका परिहार हो जाता है। इस प्रकार की योजना में श्लिष्टत्व, अप्रतीतत्व आदि दोप नियमित रूप से बने रहते हैं। पर इस अलकार का सहजरूप वहीं पर होता है जहा वर्ण्य वस्तु का स्वभाव विरोधयुक्त हो। उस योजना में शब्दो की करामात आदि की आवश्यकता नहीं होती जैसी तुलसीदास के निम्नलिखित दोहे मे विरोध का सहजरूप उपलब्ध होता है।

मूक होय बाचाल पंगु चढ़ै गिरवर गहन।
जासु कृपा सो दयाल करहु कृपा कलिमल दहन।

रामायण बालकांड

आनदघन ने प्रायः इसी प्रकार के विरोध अधिक प्रयुक्त किए हैं। इसे स्वभावगत विरोध कहना चाहिए।

जैसे—

अंतर उदेग दाह आंखिन प्रवाह आंसू
देखी अटपटी चाह भीजनि दहनि है।
सोयबो न जागिबो हो हंसिबो न रोयबो हू।
खोय खोय आप ही मैं चेटक लहनि है।

सुहि० १९६

होनि सों मह्यौ पै अनहोनि जाके बीच भरी
जामैं चलि जायबै बनाई रहठानि है।

सुहि० ४१७

नेह भीजी बातें रसना पै उर आंच लागै
जागे घनआनंद ज्यौं पुंजनि मसाल है।

४१ घ० क०

मीरी परि सोचनि अचंभे सों जरों मरों।

घ० कवित्त ४६

जल बूड़ी जरैं दीठि पाय हू न सूझ करैं
अमो पियें मरैं मोहि अचिरज अति है।
चीर सों न ढकैं बानी बिन बिथा बकैं।
दौरि परैं न निगोडी थकैं बड़ो भूतागति है।

सुहि० ५१

दूसरे प्रकार का विरोध शब्द गत है। इसमे लक्षणावृत्ति तथा मुहावरों का कवि ने प्रयोग किया है। जहा कवि कृत लक्षणाएं हैं वहा कुछ क्लिष्टता अवश्य आ गई है। मुहावरो के आश्रित विरोध सरल और सुबोध है। इन दोनों प्रकारो को शब्द गत कह सकते हैं। वस्तु के स्वभावगत भेद मे चमत्कार लक्ष्य नहीं प्रतीत होता। दूसरे भेद मे कवि की कौतुक वृत्ति चमत्कार का लक्षित बनाती है।

लक्षणाश्रित विरोध—

चलिवे मधि वैठि रहे हौ कहा डग द्वै मग धारि के रग रलो
जतन वुझै है सव जाकी कर आगे।
झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हित कचाई पाक्यौ।

घ० क० २०

देखिये दसा अगाध अखिया निपेटनि की
भसमी विथा पे नित लंघन करति हैं।

२६ घ० कवित

औसर सम्हारौ न तो अनभाववे के सग
दूरि देम जायवे कौ प्यारी नियराति है।

सु० हि० ४१०

कृपा कान मधि नैन ज्यौं त्यौं पुकार मधि मौन।

सुहि० ४५१

मुहावरों पर आश्रित विरोध--

घनआनद छावत भावत हौ दिन पारि इतै उत रातैं पढे

सुहि० ५०१

दिन पारना—आपत्ति डालना। रातें पढ़ना—रातभर रहना।
उघरि छए हैं पै पसारो आपनो पसारि।
उघरना—वादलों का हटना तथा स्पष्टरूप से प्रतीत होना।
बदरा वरसैं रितु मैं घिरिकै नित ही अंखिया उघरी वरसैं।
जीव सूख्यौ जाहि ज्यौं ज्यौं भीजत सरवरी।
जीव सूखना—कष्टपाना। भींजत सरवरो-रात बीतना।

सुहि० ५८

अलकार योजना के लिए लाक्षणिक तथा मुहावरेदार प्रयोगों का व्यवहार कर कवि ने अपनी भापा प्रवीणता का परिचय दिया है। इनमें न तो क्लिष्टता या अप्रतीतत्व आदि दोप है और न विरोध के केवल शब्दाश्रित होने से अतात्विकता है। अर्थगत विरोध का प्रभाव चमत्कार नहीं है। गभीर अनुभूति है। लक्षणाश्रित तथा मुहावरों के विरोधों में बुद्धि क्लेश नहीं। परिचित शब्दों मे ही विरोध का आभास होने से चमत्कार और अधिक हो गया।

आनदघन ने कुछ नए प्रयोग भी किए हैं जिन्हें सुविधा के लिए अलकार ही कह सकते हैं। इनमें पहला है अचेतन में चेतनत्व का प्रयोग। हिन्दी की मध्यकालीन कविताओं में यह तत्व कहीं कही भले ही आजाए पर प्राचुर्य इसका नहीं मिलता। इन्होंने बड़ी बहुलता से इसका व्यवहार किया है। यह फारसी के प्रभाव का फल है जैसे—

पैने नैन तेरे से न हेरे मैं अनेरे कहूँ
घाती बडे काती लिए छाती पै रहे चढ़े।

सुहि० ५२

तरसि तरसि प्रान जान मनि दरस कौं
उमहि उमहि आनि आंखिनि बसत हैं।
विषम विरह के विसिख हिय घायल हैं
गहवर घूमि घूमि सोचनि ससत है।
निसिदिन लालसा लपेटे ही रहत लोभी
मुरझि अनोखो उरझनि में गम्नत हैं।
सुमिरि सुमिरि घनआनंद मिलन सुख
कटनि सों आसा पट कटि लै कमत है।

सुहि० २६

यहा नेत्र और प्राणों में चेतनत्व का आरोप है।

दूसरा प्रयोग एक शब्द के अनेक अर्थों में प्रयोग का है। इस मे अनेक अर्थ प्रायः लक्षणा और मुहावरों के आधार पर किए जाते हैं। यहा सर्व-त्रक्लिष्टत्व दोष आ गया है। लक्षणा आदि निष्प्रयोजन होती हैं। कवि की चमत्कारप्रधान कौतुक वृत्ति का ही संतोष होता है। सस्कृत के कवि माघ और भारवि ने ऐसे प्रयोग अधिक दिए हैं।

रीझ बूझ शब्द को लेकर—

रीझ तिहारी न बूझि परै अहो बूझति है कहौ रीझत काहे।
बूझि कै रीझत हौ जु सुजान किधौं बिन बूझकी रीझ सराहै।
रीझ न बूझ तऊ मन रीझत बूझि न रीझे हू और निबाहै।
सोचनि बूझत मूझत ज्यौं घन आनंद रीझ औ बूझहि चाहै।

———

दोष

कवि कितना ही निपुण तथा भाषा प्रवीण हो थोड़े बहुत दोष सब ही की रचनाओं में मिल जाते हैं। आनदघन भी इसके अपवाद नहीं हैं। उनके कवित्त सवैयों में निम्न लिखित दोष प्राप्त होते हैं।

१—न्यूनपदता

हिय की गति हाय कहा कहियै तिनत्यों तबही कबहू को हिलैं।

इसमें—तबही से होना चाहिए।

दई बहुतै दिन नेकु दिखाई

सुहि० ३५३,

इसमे 'तैं' की कमी है।

२—अर्थान्तरप्रतीतिकृत्

ता विन विचारनि ही जोति जाल तमी है।

घ० क० ३३

यहा 'विचारनि' वेचारनि के स्थान पर छंद अनुरोध से किया गया है। पर विचार शब्द के बहुवचन का अर्थ भी देता है।

३—अश्लीलता

ह्वे है सोऊ घरी भाग उघरी आनदघन
सुरस बरसि लाल देखिहौ हरी हमै

व्रज भाषा मे हरी होना या हरी करना आदि शब्द गाय भैंसो के गर्भवती होने के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

४—लयभग

जान परी जान प्यारी निकाई की निधि है।

सुहि० १६२

यहा 'निकाई की निधि है' में लय भंग है।

सुनिबो देखिबो स्वाद आदि दै धरम जेते

वही १६५

यहा स्वाद पर्यन्त लय का भग है।

५—समाप्त पुनरात्तता

चद चकोर की चाह करै घनआनद स्वाति पपीहा को धावै।
त्यौ त्रसरैनि के ऐन बसै रवि मीन पै दीन ह्वै सागर आवै।

मोसों तुम्हैं सुनौ जान कृपानिधि नेह निवाहिवौ यौ छवि पावै ।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अक बसावै ।

सुहि० २०२

यहा पहली दो पक्तियो मे उपमान है । उनका उपमेय तीसरी पक्ति मे आ जाने से वाक्यार्थ पूर्ण हो गया । चतुर्थ पक्ति मे फिर एक उपमान का प्रयोग किया है । समाप्त का पुनरादान होने से समाप्तपुनराप्तता दोष हो गया ।

६—दूरान्वय

एरी घनआनद बरसि मेरी जान तेरी
हियो सुख सीचे गति तिरछी चितौन की ।

सुहि० १५५

यहा 'तेरी' का सबध 'चितौनि' से है जो बहुत दूर पडा हुआ है ।

७—हीनोपमा

वलि नेकु मया करि हेरो हाहा अवला किधौ फूलि रही तुरई ।

सुहि० २१३

इसमे अवला को तोरई बताना हीनता है ।

इसी प्रकार अलवेली सुजान के पायनि पानि प-यौ न ट-यौ मन मेरो झवा ।

इस में मन को झवा बताने से उसकी हीनता होती है ।

८—अभवन्मतसबंध

काहू कजमुखी के मधुप ह्वै लुभाने जानैं ।

सुहि २७

यहा मधुप का सबंध कज से होना कवि की अभिमत है पर वह इसलिए सभव नहीं कि वह कज मुखी मे गौण हो गया है । प्रस्तुत वाक्य रचना में कजमुखी से मधुप का अन्वय हो सकता है वह इष्ट नहीं है । अतः अभवन्मत सबध दोष हो गया । काहू मुख कज के कहा जाए तो ठीक होगा ।

९—क्लिष्टत्व

लाक्षणिक वक्र तथा विचारपूर्ण शैली होने के कारण क्लिष्टत्व दोष बहुत से पदो मे विद्यमान है । जैसे—

सर्मै के सरूप को जथारथ है बोध जाहि
आए सो हरप औ विपादहू न गत को
प्यारो घनआनद सुजान छार्यौ आखिन में
रस छाकै ताकै वाहि ठगिया ठगत को
ताही न्यारो मिलयौ जो बिचारो सो तौ ताहू मधि
ताहि रग ढग रागै सुमन पगत को
ऐसी दसा भाग जाग्यौ जागैं जौ जगाय भेंटै
प्रेम मैं जगत जिहि खेम मैं भगत को।

सुहि० ३९४

१०—पुनरावृत्ति

एक ही भाव की तथा उपमानो आदि की अनेक छदो में आवृत्तिमिलती है। कवि का चिन्तन बहुमुखी नहीं है।

११—च्युत संस्कृति

कहूँ घनआनद घमडि उघरत कहूँ नेह की विपमता सुजान अतरकहै।

यहा 'घमडि' पूर्व कालिक क्रिया है उघरत साधारण क्रिया। दोनो की की समानवलता नहीं है। इसलिए दो वार कहूं का प्रयोग व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है। घमडत उघरत होता तो ठीक था।

पाँचवाँ परिच्छेद

(स्वच्छंद काव्य-धारा)

पाँचवाँ परिच्छेद

स्वच्छंद काव्य धारा का लक्षण, इतिहास तथा आनंदघन की काव्य प्रवृत्ति,

"सुछंद सदा रहै"

१—काव्य प्रवृत्ति

हिन्दी साहित्य में 'स्वच्छंद' अथवा 'रीति बद्ध' काव्य धाराओं का चिन्तन यूरुप की क्लासीकल तथा रोमांटिक प्रवृत्तियों की समता से किया गया है, भले ही उसका प्रभाव वहाँ की प्रवृत्तियों पर न हो। भारतीय साहित्य-शास्त्र में काव्य के स्वरूप तथा प्रभाव का चिंतन एक विशेष रूप से हुआ है। स्वरूप की दृष्टि से अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि मार्ग आते हैं। प्रभाव में ध्वनि, रस, औचित्य आदि के सिद्धान्तों का समावेश है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में आधुनिक युग की नई धारा के साहित्य को चार भागों में विभक्त किया है। उनमें से अंतिम विभाग को 'स्वच्छंद धारा' लिखा है।[1] शुक्लजी का तात्पर्य इस शब्द से 'रोमांटिसिज्म' का ही है। इसलिए उन्होंने अंग्रेजी साहित्य की उन परिस्थितियों की जिनके कारण वहाँ 'रोमांटिसिज्म' प्रवर्तित हुआ तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य की परिस्थितियों की समता की है। रीति बद्धता उभयत्र एक सी ही है। अंग्रेजी साहित्य में रीति बन्धन विदेशी साहित्य लैटिन का था, हिन्दी में स्वदेशी संस्कृत साहित्य का, पर एक ही देश और एक ही जाति के बीच आविर्भूत होने के कारण दोनों में कोई मौलिक पार्थक्य नहीं।[2] शुक्लजी ने श्रीधर पाठक को इस धारा का प्रवर्तक माना है तथा सर्व श्री माखनलाल चतुर्वेदी, सियारामशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा, 'नवीन', हरिवंशराय बच्चन', रामधारी सिंह दिनकर, ठाकुर गुरु भक्त सिंह तथा उदय शंकर भट्ट आदि को इस धारा में गिना है। श्रीधर पाठक

१—हि० सा० इतिहास प्रवर्धित संस्करण पृ० ७२१, ७२० ।

२—वही ६०३ ।

तो रीति काल से चली आई व्रजभाषा काव्य की परपराओं से मुक्त होने के कारण तथा अन्य शेष कवि छायावाद के साहित्यिक सम्प्रदाय से मुक्त होने के कारण स्वच्छद धारा मे परिगणित किए गए प्रतीत होते हैं। रीति सम्प्रदाय की मुक्तता का तत्व घनानद, बोधा आदि कवियो मे देखा गया है। फलतः वैसा साहित्यिक सम्प्रदायो का बधन अग्रेजी साहित्य पर था लगभग वैसा ही रीति काल के हिन्दी साहित्य पर विद्यमान था। इसलिए हिन्दी की स्वच्छद काव्य-धारा को भलीभॉति समझने के लिए यह आवश्यक है कि अग्रेजी साहित्य की स्वच्छद प्रवृत्ति का भी सूक्ष्म परिचय प्राप्त कर लिया जाए। अग्रेजी साहित्य की 'स्वच्छद धारा' का यहॉ की काव्य प्रवृति पर कोई प्रभाव था यह इससे अभिप्रेत नहीं है। दोनो धाराओं का स्वभाव तथा परिस्थिति प्रत्यक्षतः भिन्न भिन्न हैं। फिर भी कुछ समान धर्म भी हैं जिनका कारण देश काल आदि बाह्य वस्तु नहीं वरन कवि प्रतिभाओं का वह स्वभाव है जो अधिक देर तक किसी प्रतिबन्ध में भी नहीं रह सकता। असाधारण प्रतिभाओं की एक ऐसी अनुभव भूमि होती है जो देश काल के भेद से भी ऊपर उठ जाती है। और सत्य प्राय इसी भूमि पर आभासित होता है।

अंगरेजी साहित्य में शास्त्रीय एव स्वच्छद काव्य धाराऍ

२—निरुक्ति और लक्षण—

'रोमाटिक' शब्द रोमन 'या रोमास शब्द से बना विशेषण है। 'रोमन' या रोमास शब्द का अर्थ है अनुवाद। मध्य युग में लेटिन भाषा का अपभ्रश रुपो से जो अनुवाद किया जाता था वह 'रोमास या रोमन' कहलाता था। गौण लक्षणा के आधार पर यही अर्थ विस्तार पाकर विदेशी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। आलोचक स्टोडार्ड के विचार से 'रोमास' ऐसी वस्तु का नाम है जो दूर से लाई हो और वर्तमान जीवन से अधिक अच्छी सुसम्पन्नतर तथा भद्रतर हो। यह जीवन से पृथक हो, इसलिए उसका अभिलाप तो हो पर प्राप्त्याशा न हो।

अग्रेजी में सत्रहवीं शताब्दी की कहानियो के लिए भी 'रोमाटिक' विशेषण व्यवहृत होता था। उन में मुख्य रूप से दो तत्व विद्यमान होते थे। साहसिकता वीरभाव और काल्पनिकता। फलतः 'रोमाटिक' शब्द का सकेतत अर्थ ऐसा साहित्य बन गया जो एक ओर तो पात्रों के वीर चरितो

का वर्णन करे और दूसरी ओर ऐतिहासिक सत्य न होकर साहित्यकार की कल्पना मात्र हो।

इसके बाद अगले डेढ सौ वर्षों मे इस शब्द के साथ एक प्रकार की निंदा और घृणा का भाव सबद्ध हो गया। 'रोमाटिक' वही कहा जाने लगा जो उपहासास्पद, असत्य और अस्वाभाविक था। पोप ने अपनी कविता की श्लाघा करते हुए कहा था कि—

'यह कल्पना का कोरी मृग तृष्णा मे नही घूमा' वह सत्य पर टिका और अपने गीतो को नैतिक बनाता रहा'।

यह रोमाटिक कविताओं के विरोध में ही कहा गया था।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे फिर 'रोमाटिक' भावना का पुनरावर्तन हुआ। जो वस्तु कल्पना के लिए आकर्षक हो, वह इस शब्द का गम्यार्थ बन गया। एडिसन ने मिलटन की कविता की प्रशसा मे उसे उत्तम रोमाटिक बताया था।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ मे इस शब्द की अभिधा शक्ति और विस्तृत हो गई। इसका अर्थ 'अनुभूतियो का एक विशेष प्रकार अथवा अनुभूतियो को रूप देना हो गया। रस्किन के अनुसार शास्त्रीय मार्ग (क्लासीकल प्रवृत्ति) के कवियों के लिए यह सम्भव नहीं था कि ये उच्च कोटि की बुद्धि तथा अनुभूतियो के अधिकारी बन सकें। यह कार्य स्वच्छद मार्गी कवियो का था।

३—परिस्थितियाँ

इगलैंड मे जिस समय रोमाटिक साहित्य का आविर्भाव हुआ तो वह भाव - क्रान्ति साहित्य शास्त्र के क्षेत्र मे ही सीमित नहीं रही थी, इसका प्रसार धर्म, नीति, राजनीति, स्वजनता आदि सब क्षेत्रो मे हो गया था। बल्कि साहित्य में स्वच्छंदता की भावना सामाजिक स्वच्छंदता के फलितरूप मे उत्पन्न हुई थी। उस समय मनुष्य ने प्राचीन तथा वर्तमान जीवन पर सदेह की दृष्टि से सिंहावलोकन किया था। केवल एक ही वस्तु संदेह से परे मानी जाती थी। वह था मनुष्य। मनुष्य ने प्रत्येक वस्तु पर सदेह प्रकट किया पर मनुष्य पर नहीं किया। उसने अपने प्रति विश्वास बनाए रखा और कला का

देवता ईश्वर के स्थान पर मनुष्य को बना दिया। जहाँ जीवन के व्यावसायिक, राजनीतिक आदि क्षेत्रो मे वैयक्तिक स्वाधीनता की प्रतिष्ठा हो गई थी। इसके साथ ही लोगो ने विचार प्रारम्भ कर दिया कि स्वाधीनता का प्रयोग सदाचार के क्षेत्र मे किया जाए। गाडविन ने निःसशय भाव से घोषित किया कि मनुष्य स्वय सदाचारी प्राणी है। यदि सब कानून और नियम रद्द कर दिए जायँ तो मनुष्य की बुद्धि और चरित्र मे अभूतपूर्व उन्नति होगी। शैली ने इन्हीं भावो को काव्य बद्ध कर दिया था। इस प्रकार राजनीतिक, सामाजिक स्वतत्रता के भावो ने कला तथा नीति के क्षेत्रो मे जो स्वच्छदता का प्रसार किया उससे 'रोमाटिक' साहित्य की सृष्टि हुई।[1]

४—'क्लासिकल' अथवा शास्त्रीय मार्ग

'क्लासिकल' का अर्थ है सर्व श्रेष्ठ, अद्वितीय, गभीरतम, तथा अप्रतिम। जो साहित्य अपनी महत्ता, उच्चता और गौरव से ससार के अन्य साहित्यो को पीछे छोड़ देता है और अपनी एक पृथक श्रेणी—'क्लास' बना लेता है वह क्लासिकल' है। मानव का स्वभाव है वर्तमान की कटुता से अतीत की प्रिय भूमि की ओर मुड़कर देखना, उसकी सराहना करना। उसका कारण वर्तमान से ऊब जाना होता है। अतीतदर्शी मनुष्य के लिए अतीत ही आदर्श बन जाता है। यही 'क्लासिकल'की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि' है। इंगलैंड के कवियों के सामने १५ वीं और १६ वीं शताब्दी मे कविता की जाँच का मान दड ग्रीक और लैटिन का साहित्य था। अतः रोमन और ग्रीक की श्रेष्ठ रचनाओं को 'क्लासिक' कहा जाता था। साथ ही उस ढाँचे पर बनी अन्य रचनाएँ भी 'क्लासिकल' कहलाती थीं। सन् १६६० से लेकर सन् १७६८ तक इगलैंड में जो साहित्य धारा प्रवाहित हुई उसका सचालन करने वाले होमर, विरीजल तथा हौरेस थे। इन सब के भी नियन्ता थे आचार्य अरस्तू। इनका अनुकरण करना ही साहित्य की श्रेष्ठता समझी जाती थी। इस प्रवृत्ति का नाम 'क्लासिकल' था।

अरस्तू से पहले काव्य समीक्षा का कोई व्यवस्थित रूप नही था। निंदा या प्रशसा की न तो कोई सीमा थी न उसका कोई मानदड था। वैयक्तिक रुचि ही उसका आधार थी। भारतीय साहित्य की समीक्षा के इतिहास में भी

१—श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी—'रोमाटिक साहित्य शास्त्र' की भूमिका।

इस प्रकार की प्रवृत्ति रह चुकी है। 'सूर सूर तुलसी ससी', 'तत्व तत्व सूरा कही' आदि हिन्दी की सूक्ति समीक्षाएँ इसी ढग से चली आती हैं। अरस्तू ने अपने पूर्व के तथा अपने समय के समस्त साहित्य का समूहात्मक दृष्टि से अध्ययन किया और पता चलाया कि साहित्य का कौनसा गुण सब से अधिक प्रभावित करता है। उसी से यह स्पष्ट हो गया कि रसिक लोग क्यों किसी कृति की निंदा अथवा प्रशसा किया करते हैं। उसने विपुल साहित्य राशि में से कुछ ऐसे सूत्र चुने जो आलोचकों के लिए तो आलोचना के मान दंड बने और कवियों के लिए साहित्य सृजन के आदर्श। अरस्तू से पहले आलोचना वेनकेल का ऊँट था और कला मन मानी उच्छृङ्खलता थी। अरस्तू ने जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे ही क्लासिकल साहित्य की विशेषताएँ हैं। वे सिद्धान्त निम्नलिखित हैं।

अरस्तू का पहला सिद्धान्त है अनेकत्व में एकत्व की स्थापना। संसार विविधताओं का भडार है। एक जाति की ही एक वस्तु दूसरे से भिन्न होती है। इसी प्रकार कलाकृतियाँ भी विभिन्न होती हैं। पर इस विविधता में एकता भी दृष्टिगोचर होती है। मनुष्य की लंबी नाक, चपटा मुँह, गोल सिर, मोटी आँखें और पतली टांगें सब मिल कर जीवन धारण का कार्य करती हैं। प्रयोजन सब का एक है। यह प्रयोजन ही एकता है जो विविधताओं को एक सूत्र में बाँध कर समन्वित कर देती है। इसके अभाव में मानव शरीर असबद्ध और विशृङ्खल हो जाए। इसी आधारपर कविता की श्रेष्ठता पहचानने के लिए यह देखना चाहिए कि रचना का कोई मुख्य उद्देश्य है या नहीं। यदि कोई प्रयोजन है तो फिर देखना होगा कि रचना के विविध भाग कहाँ तक इस उद्देश्य की सिद्धि में सहायक हैं। इसका नाम 'अनुरूपता' है। इसी से पारस्परिक संघटन, समन्वय आदि गुण आते हैं। रचना को पढ लेने पर ऐसा संस्कार मन में जम जाना चाहिए कि उसके अंग प्रत्यंग विस्तारपूर्वक उन्हीं बातों को दिखला रहे हैं, जो जो उद्देश्य के अन्तराल में अतर्हित थीं। इस प्रयोजन प्रवणता के द्वारा रचना में एक ओर तो सार्थकता और सोद्देश्यता आती है दूसरी ओर उसके अंगों की निजी विविधताएँ समन्वित होकर रचना का शरीर सौष्ठव, सघटन और अनुरूपता उत्पन्न कर देती है। उदाहरण के लिए तुलसी की रामभक्ति उनकी रचनाओं की ऐसी ही प्रयोजनीय एकता है।

इस अनेकत्व मे एकत्व के सिद्धान्त के आधार पर ही अंग्रेजी साहित्य का तीन एकताओं का उपनियम बना है। इसका नाटकों मे अर्थ होता है।

१—कथा वस्तु की अवधि अधिक लंबी न हो।

२—घटनाएँ विभिन्न स्थानो पर घटित न हो।

३—वातावरण की एकता विद्यमान हो। जैसे रचना का वातावरण आदि गभीर है तो उसमे हल्कापन लाने के लिए मसखरापन आदि के भाव न आने चाहिए।

इस तरह 'एकत्व' क्लासिकल काव्य का प्राण है जिसकी रक्षा उपर्युक्त सकलनत्रय से होती है।

इसके अतिरिक्त नीचे दिए गए कुछ नियम और अनिवार्य समझे जाते हैं।

१—रचना मे जो कहा जाय वह थोडे शब्दों मे कहा जाए।

२—घुमा फिरा कर बात न कही जाए।

३—पुनरावृत्ति की प्रवृत्ति न हो।

४—अलकारों का व्यर्थ भार न बढाया जाए।

५—कथा वस्तु सीधी सादी हो।

वैसे ये नियम सभी को स्वीकार्य होगे, पर इनका अत्यधिक अधानुकरण कवि की मौलिकता के लिए अवकाश नहीं रहने देता। कलाकृति निष्प्राण हो जाती है।

'क्लासिकल' प्रवृत्ति के साहित्यिक भाव पक्ष और बाह्याकार पक्ष को पृथक् पृथक् समझाते हैं। और बाह्याकार के सँवारने सजाने पर पर्याप्त बल देते हैं। अलकार, छद आदि का सयोजन बाह्याकार के रूप में ही आता है। इगलैंड के १८वीं शताब्दी के कवियों की यही प्रवृत्ति थी।

५—दृष्टिकोण—

वास्तव में 'क्लासिकल' और रोमाटिक प्रवृत्तियाँ केवल समय विशेष के कारण ही नहीं उत्पन्न हो जातीं। मनुष्यों के मानसिक सघटन भी उसमें हेतु का कार्य करते हैं जो प्रत्येक समय प्रत्येक देश में सभव हैं। जीवन के प्रति दो प्रकार का दृष्टिकोण मनुष्यों का होता है—वैज्ञानिक और भावुकता

पूर्ण। वैज्ञानिक दृष्टि से हम वस्तु के बाह्य अंग प्रत्यंगों को देखते हैं। उसका विश्लेषण करते हैं। इसी दृष्टि से जीवन के अन्य कार्यकलाप देखे जाते हैं। इसके फल स्वरूप कुछ साधारण सिद्धान्त बना लिये जाते हैं। मनुष्य और प्रकृति के सबन्ध के विषय में भी यही नियम लागू होते हैं। इन नियमित धारणाओं का जब कविता में प्रयोग होता है तो वह 'क्लासीकल' कहलाती है। इस स्थिति में प्रतिपाद्य नियमानुसार सब के लिए एक सा और साधारण होता है। इसलिए उसमें कोई चमत्कार विशेष नहीं रहता। फलतः कलाकार वस्तु के प्रतिपादन मे चमत्कार का योग करता है। उसका ध्यान यह रहता है कि सर्व विदित सत्य को ही ऐसे ढग से प्रकाशित किया जाए कि वह नवीन सा प्रतीत हो। यही बाह्याकार की सवार-सज्जा है। इस दृष्टिकोण मे महत्व अभिव्यग्य का नहीं होता अभिव्यक्ति का होता है। कविता कवि के पसीने का फल होती है, हृदय रक्त से लिखी हुई नहीं।

दूसरी दृष्टि भावुकता की होती है। भावुक व्यक्ति जब प्रकृति के रूप-व्यापारों को देखता है तो उसके हृदय पटल की तह की तह खुलने लगती हैं। नए-नए भाव जागने लगते हैं। वह उन भावो में ही विभोर हो जाता है। उसे नियम उपनियमों का ध्यान नहीं रहता। भावो के उद्गार अपने अनुकूल भाषा का निर्माण कर लेते हैं, इसलिए इन लोगों की भाषा भी कुछ नवीनता युक्त होती है। यही स्वत. प्रसूत भावो का प्रवाह अपने अनुकूल शब्द जाल में अभिव्यक्त होकर 'रोमाटिक' काव्य कहलाता है।

६—लक्षण (रोमांटिक मार्ग)

'रोमाटिक' काव्य प्रवृत्ति के अनेकों लक्षण आचार्यों द्वारा किए गए हैं। ऐसी स्थिति मे यह कहना कि कौन लक्षण वैज्ञानिक है, साधारण विद्यार्थी के लिए अत्यत कठिन है।

१—कुछ विद्वान इसका परिचय निषेधात्मक लक्षणों से देते हैं। उनके अनुसार 'रोमांटिक' असाधारण का वाचक है। इस मार्ग के कवि का अभिलाष लोक साधारण विषयों से हट कर ऐसे विषयों पर जाता है जिसमे आवेगपूर्ण प्रयत्न हो और अस्पष्ट इच्छाओं को उत्पन्न करने की क्षमता हो।

२—दूसरे विद्वान 'रोमांटिक' शब्द का अर्थ सभाव्य का विरोधी असभाव्य मानते हैं। इस मत मे सभाव्य के विपरीत आशास्य और कल्पनाकलित विषयों का कला मे अंगीकार करना 'रोमांटिक' प्रवृत्ति कहलाता है।

३—अभिव्यक्ति के क्षेत्र मे 'रोमांटिक' वाचक का विरोधी माना जाता है। इसमे साकेतिकता अधिक होती है। प्रतीकों का प्रयोग होता है जिनका अर्थ केवल उन्हीं को स्पष्ट होता है जो अपने आध्यात्मिक उच्चैस्त्व के कारण अन्तर्हित तत्व को भी देख लेते हैं। इस प्रकार रोमांटिक' प्रवृत्ति मे रहस्यवाद का भी कुछ अश आ जाता है।

४—यह रूपप्रधानता का भी विरोधी है। क्लासिकल मार्ग का कलाकार रूप की सजावट पर विशेष ध्यान देता है। रोमांटिक मार्ग का कलाकार व्यक्तिगत अनुभूतियों की यथार्थ अभिव्यक्ति पर।

५—श्लेगल के अनुसार 'क्लासिकल' और 'रोमांटिक' प्रवृत्तियों में यह अतर है कि पहले प्रकार की कृति अपने मे पूर्ण होती है। उसका उतना ही तात्पर्य होता है जितना उसके शब्द स्पष्ट प्रकट करते हैं। पर रोमांटिक कविताओं में एक प्रकार का रहस्य विद्यमान रहता है। एक छाया रहती है जो तात्पर्य को पूर्णतया प्रकट भी नहीं होने देती और उसकी उच्चता तथा विस्तार को अधिकाधिक बढाती है।

६—'क्लासिकल' प्रवृत्ति के कलाकार की प्रशसा इस बात में है कि वह ज्ञेय पदार्थों का अपनी प्रतिभा से याथार्थ्य ग्रहण करे और उसकी प्रमविष्णु अभिव्यक्ति कर सके। पर रोमांटिक प्रवृत्ति के कलाकार की श्रेष्ठता यह है कि उसका आत्मा स्फुरित होकर अपनी ऐसी अभिव्यक्ति दे कि यह जादू का सा कार्य करे।

७—'क्लासिकल काव्य का कवि वस्तु के पूर्ण सौन्दर्य में परिचय का परिवर्धन करता है। वस्तु की उपस्थापना ऐसे प्रकार से की जाती है कि वह हमे अत्यन्त परिचित लगती है। बार बार उसे सुनते या देखते इसलिए हैं कि वह बहुत अच्छे प्रकार से कही गई है। रोमांटिक काव्य में सौन्दर्य के साथ अजनबीपन और बढा दिया जाता है।

७—स्कौटजेम्स ने अपनी पुस्तक 'मेकिंग ऑफ लिटरेचर' में दोनों मार्गों का तुलनात्मक अध्ययन कर दोनों का अन्तर व्यक्त किया है। उनके

विचार से क्लासिकल प्रवृत्ति का पहला भेदक तत्व है बाह्यरूप की प्रमुखता। इसी के साथ साथ अवयवों की परस्पर संगति, संतुलन, क्रम, सामंजस्य और सयम आदि गुण और बढ जाते हैं। रोमांटिक प्रवृत्ति में रूप के पीछे छिपे आत्मा का विशेष चिंतन होता है। इस से कवि अरूपवादी तो नहीं बनता पर ऐसी स्वतंत्रता का उपभोग अवश्य करता है जिस से वह अपने अतःकरण के भाव कभी किसी माध्यम से और कभी किसी से व्यक्त कर सके। पहले का प्रभाव प्रथा के अनुयायियों पर विशेष होता है। दूसरे का नवीनतानुयायियों पर। क्लासिकल काव्य के गुण-दोषों का विवेचन करते समय जिन गुणों पर विशेष ध्यान दिया जाता है वे योग्यता, औचित्ती, परिमाण, सयम, परिवर्तन, प्रमाण, अनुभव, और सुन्दरता हैं। दूसरे पक्ष के आवश्यक गुण हैं भावों को उभारना, शक्ति, बेचैनी, आध्यात्मिकता, चाव, विक्षोभ, स्वतत्रता, प्रयोगवाद और उत्तेजना आदि।

महा मनीषी अबर क्रौम्बी ने इस समस्या पर गहराई और स्वतत्रता से विचार किया है। उनकी धारणा है कि रोमांटिक प्रवृत्ति कला की कोई धारा विशेष नहीं अपितु एक तत्व है जो वस्तु की चरित्रगत विशेषताओं से सबद्ध रहता है। क्लासिकल प्रवृत्ति में वस्तु की चरित्रगत विशेषताओं के साथ अन्य गुणों का भी समन्वय किया जाता है। केवल उसी का चित्रण नहीं होता। जिस कृति को रोमांटिक कहा जाता है उसमें एक ही तत्व चरित्रगत विशेपता, प्रमुख बन जाता है। इस तरह इन दोनों प्रवृत्तियों का अन्तर केवल एक तत्व से अन्य गुणों का मेल करने और न करने में है। उनके अनुसार दोनों धाराओं में यह कोई बड़ा मौलिक अतर नहीं है। रोमांटिक प्रवृत्ति का वास्तविक विरोध तो यथार्थवाद से होता है।

वास्तव में स्वच्छदतावाद 'रोमांटिक प्रवृत्ति', कलाकार की एक विशेष प्रकार की मानसिक स्थिति है। इसका न काल से सबंध है न देश से। हाँ राजनीतिक परिवर्तनों का कलाकार पर अवश्य प्रभाव पड़ता है। अपरिवर्तन की अति से ऊबे हुए कुछ उत्साही लोग क्रांति मचाते हैं। इसी का साहित्यिक नाम स्वच्छद धारा है। स्वच्छदता की अति उच्छृखलता में परिणत होती है तो उसकी सीमाएं बांधना आवश्यक हो जाता है। यही सीमा का बंधन और उनका अनुवर्तन शास्त्रीय (क्लासिकल) मार्ग है।

इस पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस तरह भी विचार किया जाता है। कुछ व्यक्तियों की वृत्ति बहिर्मुखी होती है और कुछ की अंतर्मुखी। बहि-

मुखी वृत्ति वालों की मान्यता है कि सत्य का परिचय न तो केवल अंत-करण से होता है और न केवल इन्द्रियों से। अंत. करण केवल अनुभव का ज्ञान कराता है। इन्द्रियां विषय का। सत्य इन दोनो मे पृथक और दोनों का समन्वित रूप है। इसलिए सत्य का ज्ञान होने के लिए दोनो की ही आवश्यकता पड़ती है। यह समन्वय भावना शास्त्रीय मार्ग 'क्लासिकल' का मूल है।

चिन्तन का दूसरा मार्ग यह है कि इन्द्रियो की पहुँच स्थूल तक ही है। सत्य का स्वरूप अपेक्षाकृत सूक्ष्म होता है। इसलिए अंत.करण की अनुभूति इन्द्रिजन्य ज्ञान से प्रबल होती है। साथ ही जीवन का आदर्शस्वरूप उसके यथार्थ स्वरूप से अधिक सत्य होता है, क्योंकि उसमे अंत.करण जन्य अनुभूति का भाग अधिक होता है। इस प्रकार ससार का अनुभव करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अपना अनुभव करने वाला व्यक्ति अधिक सच्चा और प्रामाणिक है। शकुतला नाटक में शकुतला की ग्राह्यता पर दुष्यन्त की यह उक्ति कि, 'यह कन्या अवश्य क्षत्रियो के ग्रहण योग्य है क्योंकि मेरा हृदय इस पर आसक्त हुआ है। सदिग्ध स्थलों पर सत्पुरुषो के अन्तःकरण ही प्रमाण होते हैं'।[1], हृदय की विश्वसनीयता का द्योतन करती है और इस से कालिदास की भी काव्य प्रवृत्ति के स्वच्छद होने का अनुमान कराती है।

जीवन का सच्चा स्वरूप आदर्श है यथार्थ नहीं। यह विचारसरणि स्वच्छद धारा के कलाकारों की है।

डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने डा० देवराज द्वारा लिखे गए रोमाटिक साहित्य शास्त्र की भूमिका में रोमाटिक प्रवृत्ति का परिचय देते हुए कहा है कि रोमाटिक साहित्य के जन्म का कारण जीवन के आवेगमय पहलू पर विशेष बल देना है। यह कल्पनाप्रवण अन्तर्दृष्टि द्वारा चालित किंवा प्रेरित होता है और स्वय भी इस प्रकार की अन्तर्दृष्टि को चालित और प्रेरित करता है। उन के शब्दों में 'रोमाटिक' साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिस मे कल्पना के अविरल प्रवाह से घनसश्लिष्ट निविड आवेग की प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रमाण और निविड आवेग वे दो निरतर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व प्रधान साहित्य की प्रधान जननी हैं।'

१—असंशय क्षत्रपरिग्रहक्षमा यदार्यमस्यामभिलाषि मेमन। सता हि सदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्त करण प्रवृत्तय। अ० शा० अक १।

भारतीय साहित्य में स्वच्छंद धारा

यह पहले कहा जा चुका है कि हिंदी या संस्कृत के साहित्य मे थोडी बहुत स्वच्छदता को जो प्रवृत्ति मिलती है उस पर न तो अगरेजी साहित्य की इस प्रवृत्ति का प्रभाव है और न यह उससे सब गुणो मे मिलती है। बंधन-मुक्तता का साम्य दोनो मे समान है। बधन दोनो के भिन्न भिन्न प्रकार के अपनी परिस्थितियों के फलस्वरूप हैं। बधन-विमोक होने के कारण इधर भी कुछ ऐसी साहित्यिक विशेषताओं का अवतार हो गया जो उधर भी मिलती हैं। अब संस्कृतादि के प्राचीन साहित्य पर विहगम दृष्टि डालकर इस प्रवृत्ति का पता करने का प्रयत्न किया जाता है

१—वैदिक साहित्य

प्रेम जीवन की सहज अनुभूति है और स्वच्छदता प्रेम की सहज प्रकृति। उसका यह रूप किसी भी वाङ्मय के प्रेम साहित्य मे मिल सकता है। भारतीय वाङ्मय मे प्रारभ से ही इस के दर्शन होते हैं। ऋषि पुत्र श्यावाश्व तथा रथवीतिकन्या की कथा और विमद तथा शुन्ध्यु की कथा स्वच्छद प्रेम की है।[१] यम यमी का सवाद ऋग्वेद काल के उच्छल मासल प्रेम की प्रसिद्ध कथा है। शतपथ ब्राह्मण में पुरुरवा-उर्वशी की कथा भी स्वच्छद प्रेम की है। इसी को कालिदास ने अपने प्रसिद्ध नाटक 'विक्रमोर्वशीय' का कथानक बनाया है। पुराणों मे अगस्त्य पत्नी अहल्या का चन्द्रमा के साथ प्रणय व्यवहार स्वच्छन्द है। महाभारत मे भीम और हिडम्बा की कथा एव अर्जुन और सुभद्रा की कथा में स्वच्छन्द प्रेम ही प्रतीत होता है। ऊषा अनिरुद्ध की कथा वैसी ही है। रुक्मिणी परिणय की कथा को तो आलम ने 'स्यामसनेही' मे स्वच्छद शैली से वर्णित ही किया है।

१—श्यावाश्व की कथा—श्यावाश्व निर्धन पुरोहित पुत्र था। उसका राजा रथवीति की कन्या से प्रेम हो गया। रथवीति और उनकी पत्नी से विवाह के लिए उसने कन्या मागी तो रानी ने यह कह कर निषेध कर दिया कि श्यावाश्व न कवि है न धनवान। उसे कन्या नहीं दी जा सकती। श्यावाश्व का भावुक हृदय इस से बड़ा आहत हुआ। वह रथवीति कन्या की प्रणयगीतिया बना बनाकर गाने लगा। कोई दूसरी राजकुमारी शशीयसी पुरमिल्हनय मे प्रेम करती थी।

२—सस्कृत साहित्य

लौकिक सस्कृत के काव्यकाल से पूर्व ही स्मृतियो का प्रभाव समाज पर बहुत बढ गया था। अतः काव्यो में स्वछन्द प्रेम के यथार्थरूप के दर्शन तो नहीं होते। कालिदास जैसे स्वच्छद प्रेमी कवि भी शकुन्तला को 'क्षत्र परिग्रह क्षम' बताना आवश्यक समझते हैं। उनके आदर्श राजा रघु के प्रजाजन मनु के मार्ग के रेखा मात्र का भी उल्लंघन नहीं करते थे।[1] उनके नायक एव नायिकाएँ वर्णाश्रम मर्यादा में आबद्ध हैं। ऐसी स्थिति में स्वच्छन्द प्रेम का दर्शन मर्यादाओ के आवरण मे ही सभव था। वही उनके काव्य

उसने श्यावाश्व को विरह पीडित जानकर अपने विरह संदेश का दूत बनाया। इसने यह कार्य स्वीकार कर लिया और स्वानुभूत विरह पीड़ा के आधार पर शशीयसी की विरह वेदना पुरुमिल्ह तनय को सुनाई तो वह विवाहार्थ प्रतिश्रुत हो गया। विवाहोपरात दम्पतियों ने श्यावाश्व को प्रचुर धन दिया। अब वह यक्ष की भाँति अपनी विरह कथा सबसे कहने लगा—'रात्रि मेरा संदेश दर्भतनया के समीप पहुँचा। देवि, तू मेरी गिरा का रथ बनकर जा। जब रथवीति अग्नि में आहुत डालता हो तब तू उससे मेरा सदेश कह कि तेरी सुता के प्रति मेरा मोह कम नहीं हुआ, आज भी जाग्रत है।' रथवीति ने इस प्रणय पुकार को सुनकर अपनी कन्या के विवाह की अनुमति दे दी। राजकन्या का उसके साथ विवाह हो गया।

विमद और शुध्न्यु की कथा

शुध्न्यु पुरु मिल्ह की दुहिता थी। विमद ब्राह्मण ऋषि था। दोनों एक दूसरे को प्रेम करते थे। पिता से विवाह की अनुमति नहीं मिली तो दोनों किसी अज्ञात स्थान को भाग गए और प्रणय का निर्वाह किया।

डा० भगवत शरण उपाध्याय ऋग्वेद में ऋषियों की प्रणय गाथाएँ, साप्ताहिक हिदुस्तान वर्ष ४ अक १६,

१—रेखामात्रमपि क्षुण्णादापमनोर्वर्त्मन· सरम्
नव्यतीयु प्रजास्तस्य नियन्तुर्नेमिवृत्तय

रघुवश १मसर्ग,

मे मिलता है। इन के तीन नाटक 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्,' 'विक्रमोर्वशीयम्' तथा 'मालविकाग्नि मित्रम् तथा कुमार संभव और मेघदूत में कवि की अन्तः प्रवृत्ति प्रेम के स्वच्छन्द रुप की ही है। कालिदास के सब पात्र, चाहे वे देव हो, यक्ष हो, चाहे मानव, मानवीय प्रेमानुभूतियों के आश्रय हैं,। अज इन्दुमती (रघुवंश) शिपपार्वती (कुमार सभव) यक्ष और यक्ष की पत्नी (मेघदूत) इसके निदर्शन हैं। पौराणिक काल के देवत्व पर मानवत्व की विजय इनकी काव्य शैली की स्वच्छन्द प्रवृति का ही द्योतक है। शकुन्तला नाटक में प्रेम को आत्माओं का जन्म-जन्मान्तर का अटूट बन्धन[1] बताकर सामाजिक मर्यादाओं पर उसकी विजय दिखाई है। प्रणय के प्रसार का क्षेत्र अत.पुर का सीमित वातावरण न होकर जगलो की खुली प्रकृति है।

कालिदास की अभिव्यजना। शैली भी सहज, भाव प्रधान है। कृत्रिम चमत्कार प्रधान नहीं। दास गुप्ता उन्हें स्वच्छन्द प्रेम का विश्वासी मानते हैं[2]। इसी प्रकार नाटककार भास अभिव्यक्ति और चिंतन दोनों मे रीति-मुक्त हैं। शूद्रक राज का 'मृच्छकटिक' नाटक भी स्वछदधारा की श्रेष्ठ रचना है। गणिका ब्राह्मण का प्रशंसनीय प्रेम, समाज के निम्न वर्ग को गुणी दिखाना, शर्वलिक की साहसिकता आदि इसी के तत्व हैं।

बाद मे स्मृतिकारों के बधन भी ढीले पड गए थे। उन्मुक्त प्रेम को मार्गान्तरो से औचिती मिल गई थी। काम सूत्र के अनुसार कन्याओं एवं गणिकाओं आदि के साथ उन्मुक्त प्रेम करना न निषिद्ध ही था न आज्ञप्त।[3] प्रणय व्यापार मे ब्रह्मचर्य व्रत भंग होने पर भी स्त्रियों की शुद्धि की मास

१—भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि। अभिज्ञानशाकुन्तलम् अक /

२—Beleive as he was in some amount of free love Dassgupta and De-A History of Sanskrit Literature Page 31

3—अवरवर्णासु अनिर्वसितासु च वेश्यासु पुनर्भूषु च न शिष्ट नप्रतिषिद्ध सुखार्थत्वात

काम सूत्र १, ५, ३,

१—संस्कृत के प्राचीन काव्यों में। यह धारा आगे चलकर शास्त्र और समाज की मर्यादा के मरुस्थल में मग्न गई।

२—जन पद साहित्य की कथा धारा।

३—जनपद साहित्य के मुक्तक।

४—हिंदी साहित्य

(क) 'वीर गाथा काल'

इसके बाद हिंदी साहित्य प्रारंभ होता है। यहाँ प्रारंभ में ही स्वच्छंद धारा की दो श्रेष्ठ रचनाएँ उपलब्ध होती हैं। पहली 'ढोला मारुरा दूहा' है और दूसरी मुलतान के अब्दुल रहमान का 'सनेह रासय' (संदेशरसिक) पहले में ढोला मारवणी के प्रेम की मर्म व्यथाओं का सहज सरल अभिव्यंजन है और दूसरे में किसी विरहिणी का विरह संदेश है। दोनों रचनाओं में प्रेम की मार्मिक संवेदनाओं की निश्छल सहज अभिव्यक्ति है। कवि काव्यशास्त्र या समाज के नियमों से बंधे हुए नहीं प्रतीत होते।

(ख) भक्तिकाल

भक्तिकाल में वैसे तो प्रमुखता प्रेम की है पर वह परमेश्वरोन्मुख है। इसलिए स्वच्छंद प्रेम के दर्शन इस काल में अत्यल्प हैं। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस काल में प्रेमाख्यानकों के तीन प्रकार के प्रयोग अपने इतिहास में बतलाए हैं।[1]

१—अध्यात्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए।

२—ऐतिहासिक या अर्ध ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवन चरित के लिए।

३—लौकिक प्रेम के विश्लेषण-व्याख्यान के लिए।

तीसरे में काव्य की स्वच्छंद धारा के दर्शन होते हैं। आलम और रसखान इस धारा के प्रमुख कवि हैं। आलम प्रबद्धा और मुक्तककार दोनों हैं। रसखान मुक्तककार ही हैं। पहले की प्रबंध रचनाएँ 'माधवानल' कामकंदला तथा 'स्याम सनेही' हैं। उन्हीं का 'सुदामा चरित्र' स्वच्छंद धारा में नहीं

---

[1] हिंदी साहित्य पृ० २६३।

आता। उनके मुक्तकों का संग्रह 'आलमकेलि' में है। इनके प्रबंधों पर न तो सूफियों का प्रभाव है न भक्ति सम्प्रदाय का। प्रेम के लौकिक और आत्मानुभूतरूप की अकृत्रिम शैली से अभिव्यक्ति हुई है। मुक्तक रचनाओं में कुछ पद्य रीति के ढर्रे के प्रतीत होते हैं कुछ रीति मुक्त पद्धति से लिखे हुए। पहलों को कवि की प्रारंभिक रचना मानकर इस धारा की रचना से पृथक् कर देना होगा। उन्होंने प्रेम रसके व्यक्तिगत अनुभव को काव्य बद्ध किया है। शास्त्रादि की परंपरा का अनुसरण नहीं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल का इनके विषय में विचार है कि 'आलम रीति बद्ध रचना करने वाले नहीं थे। प्रेमोन्मत कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार कविता करते थे।'[1] रसखान की रचनाओं में भी भक्ति के साम्प्रदायिक रूप के दर्शन नहीं होते। प्रेम की देवाश्रित लौकिक अनुभूतियों का चित्रण है उसी प्रकार जैसे कालिदास ने 'कुमार संभव' में शिवपार्वती के लौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति की है। गेय पदों की रचना न कर कवित्त सवैयों में भावोद्गार प्रकट करने का अर्थ यही प्रतीत होता है कि गेय पद संत भक्तों की आध्यात्मिक रचनाएँ थे और कवित्त सवैये लौकिक अनुभूति की अभिव्यक्ति के साधन। श्री परशुराम चतुर्वेदी इनके विषय में लिखते हैं कि "इन्होंने प्रेम लक्षणा भक्ति का सुंदर परिचय दिया है और अधिकतर व्यक्तिगत उद्गारों द्वारा ही प्रकट करने की चेष्टा की है।[2] इनका प्रेमीरूप भक्तरूप की अपेक्षा अधिक उज्वल और मार्मिक है। इसलिए इन्हें भक्तिधारा से पृथक् स्वच्छंद काव्य धारा में रक्खा जाता है।[3]

(ग) जयशंकर प्रसाद और भारतीय साहित्य—

कविवर जयशंकर प्रसाद ने अपने 'प्रारंभिक पाठ्य काव्य' निबंध में भारतीय साहित्य को एक विशेष प्रकार की दृष्टि से देखा है और उसके अनुसार वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक के साहित्य में दो धाराओं का घात-प्रघात उन्हें अनुभूत हुआ है। एक धारा है बौद्धिक दूसरी है रस प्रधान। प्रबंध काव्यों को वे बौद्धिक साहित्य कहते हैं। इनमें रामायण महाभारत आदि सब ग्रन्थ बौद्धिक साहित्य के श्रेणी में आते हैं। नाट्य में

१—हि० सा० इतिहास, परिवर्धित संस्करण, पृ० ३३०।

२—हिंदी काव्य धारा में प्रेम प्रवाह पृ० ६६।

३—दोनों कवियों का विस्तृत विवेचन अन्यत्र किया गया है।

कवि का नाम	कवि की रचनाएँ
१—महाराज जसवंत सिंह	अपरोक्ष सिद्धान्त
	अनुभव प्रकाश
	आनंद विलास
	सिद्धान्त बोध
२—मंडन	जनक पचीसी
३—सुखदेव मिश्र	अध्यात्म प्रकाश
४—देव	ब्रह्म दर्शन पचीसी
	तत्व दर्शन पचीसी
	आत्म दर्शन पचीसी
	जगद्दर्शन पचीसी
५—महाराज विश्वनाथ सिंह	वेदान्त पंचक शतिका
	ध्यान मंजरी
	परमतत्व
६—नागरीदास	वैराग्यसार
७—जनकराजकिशोरी शरण	विवेकसार
	सिद्धान्त चौंतीसा
	आत्म सम्बन्ध दर्पण
	वेदान्तसार
	श्रुतिदीपिका
८—नवल सिंह कायस्थ	विज्ञान भास्कर
	अध्यात्म रामायण

२—भक्ति धारा

यह धारा भक्ति काल की भाव धारा का ही अवशेष है। नीचे लिखे कवियों के अतिरिक्त रीतिकाल के कवियों के भी अनेकों पद्य भक्ति भाव के मिलते हैं। "आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानौ है"। दास की इस उक्ति से भी भक्ति और रीति दोनों का समान भाव से पालन ही कवि को अभिमत प्रतीत होता है। नायक नायिकाओं को राधाकृष्ण तो सभी कहते हैं। भले ही उससे भक्ति का सात्विक रूप न व्यक्त हो। वास्तव में रीति मार्ग के कवि अपने व्यक्ति

गत जीवन मे भक्ति मार्ग के किसी न किसी सप्रदाय के अनुयायी होते थे। ये लोग राजदरबारो मे गुरुपद पाकर आसीन रहते थे। रीति काल का शृंगार साहित्य राधा कृष्ण के नाम से जो चला है उसमे काव्य की 'फैशन' ही नहीं थी भक्ति के भावो की एक दुर्बल रेखा भी कवियो के अंतः-करणों मे प्रवहमान थी। रीति विवेचन के साथ शृंगार का सबंध ही सस्कृत साहित्य की देन थी। उसी का अनुकरण रीति काल में हुआ।

शुद्ध भक्ति भाव से प्रेरित होकर जो रचनाएँ लिखी गई हैं उनमे कुछ स्तोत्र रूप की हैं, कुछ वर्णनात्मक निबंध हैं, कुछ फुटकल। इनमें से कुछ का विवरण नीचे दिया जाता है—

कवि	कवि की रचनाएँ
१—मडत	जानकी जू का विवाह
२—सोमनाथ	कृष्ण लीलावती
३—ग्वाल कवि	यमुना लहरी
	भक्तमाल
	गोपी पच्चीसी
	राधाष्टक
	राधा माधव मिलन
४—रसिक गोविंद	रामायणसूचनिका
	कलियुग रासो
	युगलरस माधुर्य
५—गुरु गोविंद सिंह	चडी चरित्र
६—बख्शी हसराज	सनेह सागर
७—जानकीराजकिशोरीशरण	तुलसी चरित्र, कवितावली,
	सीताराम सिद्धात मुक्तावली,
	अनन्य तरगिणी, समास तरगिणी
	रघुवर करुणाभरण
८—ब्रजवासी दास	ब्रजविलास
९—आनदघन	३९ वर्णात्मक प्रबंध तथा
	१००० से ऊपर गेय पद
१०—नागरीदास	७० के लगभग छोटी बड़ी रचनाएँ

कवि	कवि कीरचनाएँ
११—मंचित	कृष्णायन
११—कृष्णदास	भाषा भागवत माधुर्यलहरी
१३—नवल सिंह	भाषा सप्त शती
१४—ललकदास	सत्योपाख्यान
१५—खुमान	लक्ष्मणशतक, हनुमान नखशिख नृसिंह पचीसी
१६—गिरधरदास	गर्गसंहिता, वाल्मीकि रामायण वाराह कथामृत, नृसिंह कथामृत वामन कथामृत, परशुराम कथामृत रामकथामृत, बलरामकथामृत बुद्धकथामृत
१७—साधूराम	जेमिन पुराण

३—नीति धारा

नीति धारा का भी पूर्व क्रम भक्ति काल मे प्राप्त होता है। महापात्र नरहरि वंदीजन ने 'छप्पय नीति' मे नीति के पद्य लिखे हैं। इसके बाद महाराज टोडरमल, बीरबल, मनोहर कवि, कमाल तथा रहीम भक्ति काल के ही नीतिकार हैं। यही क्रम आगे १८ वी शताब्दी में भी यथावत चलता गया। वैसे नीति की भाव धारा भक्ति के समान ही व्यापक है। जो कवि रीतिकार हैं या शृङ्गारी हैं उन्होंने भी थोडे बहुत पद्य नीति के अवश्य लिखे हैं। रीतिकाल के नीतिकार और उनकी कृतियाँ इस प्रकार हैं।

नाम कवि	कवि की रचनाएँ
१—वृन्द	वृन्द सतसई
२—कुलपति मिश्र	युक्ति तरंगिणी
३—देव	नीति शतक
४—तोष निधि	विनय शतक
५—वैताल	फुटकल पद्य
६—गुरु गोविन्द सिंह	सुनीति प्रकाश, बुद्धिसागर
७—महाराज विश्वनाथ सिंह	उत्तम नीति चन्द्रिका

नाम कवि	कवि की रचनाएँ
८—गिरधर कविराज	फुटकल पद्य
९—सम्मन	फुटकल
१०—घाघ	फुटकल
११—खुमान	नीति विधान
१२—बाबादीनदयाल गिरि	दृष्टान्त तरगिनी

४—वीरधारा

चौथी धारा वीर रस प्रधान काव्यो की है। केशव ने भक्ति काल मे 'वीर सिह देव चरित' लिखकर वीरगाथा काव्य की वीररस प्रधान काव्यधारा का सतान बनाए रक्खा था। रीतिकाल के कवियो ने भी इस दिशा मे पर्याप्त प्रयत्न किए हैं। अनेकों प्रबन्ध काव्य, स्वतत्र और अनुवाद, वीर चरितो पर लिखे गए। यद्यपि इन कृतियों में प्रबन्ध काव्यों के गुण कम मिलते हैं पर यह दोष रीति परपरा के प्रभाव के कारण है। कवियो की चिन्तन प्रवृत्ति वीर चरितो के वर्णन की ओर थी, इसका परिचय इन रचनाओं से अवश्य मिलता है। सब के सब काव्य सर्वथा नगण्य भी नहीं हैं। इनका विवरण यह है—

कवि	कवि की रचनाएँ
१—भूषण	शिवाबावनी
२—कुलपति मिश्र	द्रोणपर्व, सग्राम सार
३—श्रीधर मुरलीधर	जगनामा
४—पद्माकर	रामरसायन
५—सबल सिह चौहान	महाभारत
६—छत्रसिह कायस्थ	विजय मुक्तावली
७—नवल सिह	आल्हा रामायण, आल्हा भारत मूलढोला
८—लालकवि	छत्र प्रकाश
९—जोधराज	हमीररासो
१०—गुमान मिश्र	नैषध चरित
११—सूदन	सुजान चरित

कवि	कवि की रचनाएँ
१२—गोकुलनाथ गोपीनाथ मणिदेव	महाभारत
१३—मधुसूदनदास	रामाश्वमेध
१४—गणेश	प्रद्युम्न विजय नाटक
१५—चन्द्रशेखर	हम्मीर हठ
१६—गिरधरदास	वाल्मीकि रामायण, जरासन्धवध, महाकाव्य नहुप नाटक।

५—प्रेम शृंगार धारा

रीति निरपेक्ष प्रेम शृङ्गार की कई रचनाएँ भक्तिकाल मे भी प्राप्त होती हैं। राजस्थानी कवि छीहल ने 'पचसहेली' पुस्तक मे पॉच वियोगिनियो की विरह व्यथा का वर्णन किया है। पोकर का 'रसरतन', लालचन्द का 'पद्मिनी चरित्र' राजा पृथ्वीराज की 'वेलि कृष्ण रुक्मिणीरी' दामोदर कवि की 'लक्ष्मण सैन पद्मावती कथा तथा काशीराम की 'कनक मजरी' भक्ति निरपेक्ष शृङ्गार रस की रचनाएँ हैं जो भक्ति काल मे लिखी गई थीं। इनकी शैली मे स्वच्छन्दता के दर्शन भले ही कम हो पर चिन्तन प्रवृत्ति भक्ति तथा रीति के मार्ग से हटकर है—इसमे सन्देह नहीं। रीति काल मे रीति निरपेक्ष प्रेम प्रधान रचनाएँ जिन्होने लिखी हैं उनका विवरण निम्नलिखित है।

कवि	रचनाएँ
१—निवाज	शकुन्तला नाटक
२—सोमनाथ	माधव विनोद
३—आलम	माधवानलकामकदला, स्याम सनेही, सुदामा चरित्र फुटकल पद्य
४—घनानद	फुटकल पद्य, गेय पद तथा प्रबंध रचनाएँ
५—बक्शी हसराज	फुटकल
६—भगवतरसिक	फुटकल
७—ठाकुर	फुटकल

कवि	कवि की रचनाएँ
८—हरनारायण	माधवानलकामकदला
९—बोधा	इश्कनामा, विरहवारीश
१०—द्विजदेव	शृंगार लतिका

३—समाहार

इस प्रकार जिसे रीतिकाल कहा जाता है उसमें पाँच भावधाराएँ प्रवाहित हुई प्रतीत होती हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का विश्वास है कि इस काल की समस्त रचनाओं पर 'रीति' का प्रभाव है। जिन कवियों ने रीति का कोई ग्रंथ नहीं बनाया वे भी रीति परंपरा से प्रभावित थे। इसलिए उन्होंने इसे 'रीतिकाल' संज्ञा प्रदान की है। पर स्वयं शुक्लजी ने ही घनानंद, बोधा, ठाकुर आदि को रीति प्रभाव से मुक्त माना है।[1] द्विजदेव, बक्शी हंसराज आदि और भी कवि इस श्रेणी में आते हैं जिनका समाव 'रीतिमार्ग मे नहीं होता। अत. श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे रीतिकाल न कह कर 'शृङ्गार काल' ही कहना उचित समझा है।[2] स्वयं शुक्लजी ने भी इस काल में शृङ्गार रस की प्रधानता मानते हुए उसके आधार पर काल के नामकरण की सम्भावना प्रकट की है।[3]

नीति विज्ञान तथा वीर रस की जो रचनाएँ इस काल में उपलब्ध होती हैं उनका प्रश्न अवश्य शेष रह जाता है। उन्हें शृङ्गार के अन्तर्गत कैसे लिया जा सकेगा? इनमें वीररस प्रधान प्रबंध काव्यों में तो शृङ्गार का पर्याप्त प्रभाव विद्यमान है। केवल भूषण की अब तक प्राप्त रचनाएँ ऐसी अवश्य हैं जिन्हें शृङ्गार-प्रधान या शृङ्गार-प्रभावित नहीं कह सकते। पर नीति और विज्ञान की रचनाओं को सूक्ति कह सकते हैं। कविता कोटि मे वे नहीं आती। अतः निरापद रूप मे इस काल को 'शृङ्गार काल' भी कह सकते हैं। नाम कुछ भी हो विचारणीय इतना ही है कि इस काल में शृङ्गार रस की प्रधानता सर्वोपरि विद्यमान रही। ऐसी स्थिति मे यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि इस समय में शृङ्गार रस के अन्य भेद भी उपलब्ध होते हैं। केवल मर्यादाबद्ध रूप ही नहीं। दो सौ वर्ष से ऊपर के समय मे समस्त कवि

१—'रसखान घनानंद आलम ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हैं उनमें किसी ने लक्षण बद्ध रचना नहीं की थी'। हि० सा० इ० पृ० २७७।

२—घनानंद ग्रन्थावली वाङ्मुख पृ० २–१६।

३—'प्रधानता शृङ्गार की रही इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृङ्गार काल कहे तो कह सकता है।' हि० सा० इ० पृ० २४१।

जी ने स्वप्न मे राधा और कृष्ण की सोने की अगूठी भी बदलवाई है। मोर मुकट बनमाली श्री कृष्ण के लिए यह उपहासास्पद ही सिद्ध होती है। कृष्ण यहाँ स्वच्छद प्रेमी न होकर राजकुमार सदृश है जो अपने सखाओ द्वारा प्रेयसी को प्राप्त करते हैं। इसी नाटक मे श्री कृष्ण का राधाविरह मे जो अभिलाप दिखाया है वह 'अशिकाना' स्वभाव का हो गया है। वे राधा के पैरों की महदी, बालों का कघा आदि बनाना चाहते हैं। यह अभिलाप उस कृष्ण को शोभा नही देता, जो भागवत के दशम स्कन्ध मे यह कहते हैं कि मैं प्रेम करने वाली गोपियो से भी प्रेम प्रकट नही करता। मे निरभिलाप हूँ।' बख्शी जी ने प्रेम की शराब का भी उल्लेख किया है। अतः बख्शी जी की वह कृति स्वच्छद मार्ग की रचना नही कही जा सकती। रीति का अत्यधिक और भद्दा बधन इस मे प्राप्त होता है। वर्ण्य विषय के आधार पर काव्यमार्ग का निर्णय नहीं किया जाता। वर्णन शैली के आधार पर किया जाता है। शैली के अनुसार बख्शी जी शास्त्रीय मार्गी हैं, स्वच्छद मार्गी नहीं।

६—द्विजदेव और स्वच्छंद धारा

द्विजदेव के मुक्तक पद्यो में प्रकृति-प्रेम स्वच्छद रूप से चित्रित हुआ है। प्रकृति भावों का आलबन प्रतीत होती है, उद्दीपन नहीं है। 'शृगार लतिका सौरभ' मे इनकी समस्त रचनाएँ उपलब्ध हैं। इस के ऋतु दर्शन के पद्य इस दृष्टि से विशेष विचारणीय हैं। वृक्षावलियाँ वसत का स्वागत करती हैं।

> 'डोलि रहे विकसे तरु एकै, सुएकै रहे हैं नवाइकै सीसहि।
> 'त्यौं द्विजदेव मरंद के व्याज सों एकै अनद के आसू बरीसहि।'
> तेसेई कै अनुराग भरे कर पल्लव जोरिकै एकै असीसहि'।[1]

इसी प्रकार 'मालती आदि लतारूपी वालिकाएँ अपने पुष्पों के व्याज से वसन्त पर खील बरसाती हैं। लताएँ नाच कर उसका मन हरण करती हैं। भौंरे चारणों की तरह उसका स्तुतिगान करते हैं। सारा वन फूलों का भर लगा कर 'चिरजीवौ वसन्त' की ध्वनि लगाते हैं। कोई युवक चिन्तित है। वह मालती के नीचे अँगूठे से जमीन कुरेद रहा है। दिशाओं

१—शृगार लतिका सौरभ २७

२—वही २८

को देख कर भी नहीं देखता। जंघा पर कुहनी और हाथ पर मुँह रक्खे चिन्ताओं मे मग्न है।[1]

इस प्रकार द्विजदेव ने लगभग ३३ पद्य वसन्त वर्णन मे लिखे हैं। इसमे प्रकृति प्रेम की प्रमुखता अतएव प्रकृति की स्वच्छदता का आभास स्पष्ट मिलता है। पर इतना ही स्वच्छन्द मार्गी सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है। ऋतु वर्णन या बारहमासा लिखने की प्रथा तो रीति बद्ध कवियों मे भी प्राप्त होती है। किसी में कुछ कम और किसी मे कुछ अधिक अपने अभिनिवेश के कारण हो सकती है। द्विजदेव रीति परपरा से सर्वथा मुक्त नहीं प्रतीत होते। प्रकृति की नागरिक शोभा ही इनका काव्य विषय बनी है, जो प्राचीन परपरा के अन्तर्गत कही जायगी। गुलाब, चमेली, सेवती आदि के समान ही बबूल नीम आदि का भी वर्णन होता तो वह स्वच्छन्द प्रकृति प्रेम कहा जा सकता था। वन मे केवल ढाक आया है जिस की प्राचीन परपरा है। वह भी मानिनी बालाओं को मनाने वाला है।[2]

'किंसुक जातन कौ कल्प द्रुम मानिनी बालन हू कौ मनायक'

जगल मे कोयल, भौंरे, पिक चातक आदि पुराने पक्षियों ने ही शोर मचाया है। उल्लू, लोमड़ी, भेड़िये आदि ने नहीं। प्रकृति वर्णन की प्रचुरता तो सेनापति मे भी पर्याप्त है। पर केवल इसी आधार पर स्वच्छद मार्गी वे नहीं कहे जा सकते। प्रयोक्तव्य और प्रयोग का प्रकार दोनों का ही काव्य मार्ग के निर्धारण में उपयोग किया जाता है। इस तरह द्विजदेव मे स्वच्छन्द प्रकृति का कुछ ही अश प्राप्त होता है।[2] आधुनिक काल मे श्रीधर पाठक की सी प्रकृति प्रेम-प्रवृत्ति इन मे होती तो ये स्पष्टत. स्वच्छन्द मार्गी कहे जा सकते थे।

७—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी और स्वच्छंद धारा

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस धारा को 'रीति मुक्त' कहा है और उस मे उन्मुक्त प्रेम के कवियों के अतिरिक्त नीतिविज्ञान की रचनाएं करने वालो तथा प्रबधकारो की भी गणना की है। उन्मुक्त प्रेम के कवियों मे बेनी कवि को भी लिया है। द्विवेदीजी के अनुसार 'उनकी कविताओं मे

१—वही ३२

२—वही ७

प्रस्तुत निबंध का विवेच्य विषय स्वच्छन्द प्रेम की काव्य धारा है। उसका नाम चाहे कुछ भी रख लिया जाए। कुछ लोगों ने स्वच्छदधारा शब्द का व्यवहार अंग्रेजी साहित्य की रोमाटिक काव्यधारा के अर्थ में किया है जैसा कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास मे। पर लेखक का तात्पर्य स्वच्छद प्रेम की काव्य धारा से है। रोमाटिक काव्य-प्रवृत्ति मे नहीं है। वह प्रवृत्ति तो अंग्रेजी साहित्य की अपनी है। यहाँ तो उन कवियो की काव्य प्रवृत्ति का विवेचन अभीष्ट है जो हिन्दी साहित्य के प्रेमी कवि हैं और जिनका प्रेम स्वच्छद है। इसी धारा को स्वच्छद प्रेम की काव्य धारा लेखक ने कहा है। घनानद इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। उनके काव्यादर्शों तथा काव्य प्रवृत्ति का विवेचन किया जाता है।

स्वच्छन्द धारा की विशेषताएँ

१—मनोवेग तथा प्रेम की स्वच्छन्दता

इस धारा के कवियो मे सब से पहली विशेषता तो यह है कि ये अपने मनोवेगों के प्रवाह में बहकर कविता लिखा करते थे। इन की दृष्टि मे काव्य शास्त्र के नियम उपनियम नहीं रहते थे। इसलिए इनके काव्य मे प्रेम की जीवनगत स्वच्छन्दता तथा काव्यगत स्वच्छन्दता दोनो के दर्शन होते हैं। इनकी दृष्टि प्रेमभाव की अनुभूति पर अधिक रहती थी। उसी का ये लोग काव्य में चित्रण करते थे। इसका फल यह हुआ कि इन लोगो की अतर्दृष्टि प्रेमानुभूति को पहचानने में बड़ी व्यापक और सूक्ष्म हो गई। इनका प्रेम केवल नारी के स्थूल शरीरसौंदर्य तक ही सीमित न रहा। वह ईश्वर-पर्यन्त ऊँचा उठा और समस्त विश्व का प्रेम इस शरीरोत्थ ईश्वरपर्यवसायी प्रेम में समाने लगा। यह दृष्टि की व्यापकता थी। सूक्ष्मता के कारण प्रेम के शरीर ससर्ग की ही रमणीयता ये लोग नही देखते थे। मानस ससर्ग की रमणीयता इन्हें अधिक रुचिकर थी। मानस ससर्ग की रमणीयता के कारण इनकी रचनाओं में अश्लील मुद्राएँ, अश्लील चेष्टाएँ या रूप सौंदर्य के खुले वर्णन नहीं मिलते। प्रिय के सयोग में मनोदशाओ के विविध रूपों के प्रदर्शन में ये लोग लग जाते हैं। इस के अतिरिक्त प्रेम का बाह्य पक्ष इनका इतना प्रबल नहीं था जितना आतरिक पक्ष क्योंकि दृष्टि ही आतरिक थी। फलतः तीन तत्वों की प्रधानता इन की काव्य प्रवृत्ति में मिलती है। प्रेम के स्वच्छन्दरूप (जीवनगत स्वच्छन्द एव काव्यगत स्वच्छन्द) की अनुभूति

तथा चिंतन में अंतर्दृष्टि साथ ही मनोवेगों के आवेगों का काव्य में प्रदर्शन।

तुलना के लिए रीति मार्ग के कवियों को लें तो इस पद्धति से वे सर्वथा विपरीत पड़ते हैं। रीतिकारों ने प्रेम शृंगार का कितना ही वर्णन किया हो पर वह उनके जीवन की अनुभूति नहीं थी। ये लोग एक चौथाई भक्त होते थे एक चौथाई प्रेमी और दो चौथाई में कवि और आचार्य। इसलिए स्वच्छन्द प्रेम का एकान्तिक रूप ये अपने काव्य में नहीं दे सके। प्रेम इनकी अनुभूति न थी। इसलिए न तो उस में मनोवेगों का आवेग मिलता, न जीवनगत स्वच्छन्दता ही प्राप्त होती। दूती, परिजन, सखी अभिसार आदि से घिरी नायिका के हृदय की अंतर्दशाओं का इन्हें परिचय नहीं। उनके सहेट-स्थल, सपत्नीदाह, लघु गुरु मान आदि ही इनके काव्य में आते रहे हैं। दृष्टि की व्यापकता के अभाव में प्रेम केवल नायिका तक सीमित रहता है उस में किसी प्रकार की उच्चता के दर्शन नहीं होते। रहस्यादि की भावना जैसी आनदघन के कवित्त सवैयों में यत्र तत्र मिलती है वह यहां नहीं। इनका प्रेम तो राधाकृष्ण के निकट पहुंचकर भी अपनी स्थूलता नहीं छोड़ सका। अंतर्दृष्टि के अभाव का फल तो इनके सुरतात, विपरीत रति आदि के असंस्कृत वर्णनों में स्पष्ट हो जाता है। संयोग काल में प्राकृत चेष्टाओं के अतिरिक्त इन्हें कुछ सूझा ही नहीं।

२– कृत्रिम व्यापारों का त्याग

दूसरी विशेषता प्रेम व्यापारों के कृत्रिम रूपों के त्याग की है। स्वच्छन्द धारा के कवियों को विरह और मिलन दोनों में प्रेमियों के हृदयों के अन्तस्तलों को उद्घाटित करने की ही लगी रहती है। बाह्य कृत्रिमताओं का सोचना, उनका वर्णन करना इन्हें न रुचता और न सूझता है। प्रेम को ये लोग जीवन की आंतरिक, गोपनीय, वस्तु समझते हैं। उनके प्रदर्शन की अस्वाभाविक चेष्टाओं को निरर्थक मानते हैं। बोधा और ठाकुर ने अनेक बार यह प्रतिपादन किया है कि किसी पर प्रेम प्रकट करने से अपने उपहास के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं। आनंदघन प्रेम हीनों को, भले ही वे बुद्धि के धनी हों, प्रेम के क्षेत्र में वैसे ही मानते हैं जैसे सुन्दरी के रूप लावण्य की परख के लिए अंध। घनानंद का प्रेमी तो स्वयं ही अपनी प्रेम भावना को नहीं पहचान पाता। वह कहे किससे? यहाँ तो 'बूझत बूझत थोरई सूझै' है।

इसके फल स्वरूप सहेट की लुका-छिपी, विदग्धा के विदग्धालाप, अभिसारिका के भेद या सखी, दूती आदि का प्रेमिका बनना इत्यादि बातें इनके काव्य में नहीं आई। रीतिमार्गी कवियों ने इन्हीं प्रसगों का अधिकतर वर्णन किया है। रीतिमार्गी कवियों की प्रेम व्यापार वक्रता के विरुद्ध ये लोग तो यह मानते थे कि

'अति सूधो सनेह को मारग है जहा नेकु सयानप बाक नहीं'

३—भाव प्रधानता

स्वच्छन्द प्रेम धारा के कवियों ने प्रेम को हृदय की शुद्ध, निश्छल भाव धारा माना है, बुद्धि का उसमे गौण स्थान है। रीतिमार्गी कवि बुद्धि के बल से ही भाव का अनुमान करते थे और बुद्धि के बल से प्रेम के बाह्यरूप विधान का बखान करते थे। ये लोग हृदय को प्रमाण मानते हैं। बुद्धि को नहीं। अगरेजी साहित्य के रोमाटिक कवि भी इसी मान्यता के हैं।[1]

४—आत्म निवेदन

प्रेमानुभूति कवि की जीवनगत है इसलिए उसे वह स्वय ही प्रेमी बन कर प्रकट करता है। अतएव आत्म निवेदन की शैली इन कवियों ने अपनाई है। रीतिमार्गी लोग सखी, दूती आदि द्वारा प्रेम निवेदन करते हैं। उसका कारण यही है कि उनका हृदय उसे अपना नहीं सका है। बुद्धि द्वारा कल्पित भाव हृदय के अपने नहीं बने। काव्य शैली के रूप मे यह पद्धति फारसी उर्दू के शायरों की है। स्वच्छद मार्गियों ने वहीं से यह प्रेरणा ली है। पर ढग इनका अपना है। रीतिमार्गी कवि प्रेम निवेदन को पारपरिक बनाने में जिस सामाजिक शास्त्रीयता की रक्षा करता है उसकी ये लोग स्वच्छन्दता के कारण उपेक्षा करते हैं।

'५—प्रेम का लौकिक पक्ष'

इन मे रसखान, आनदघन और आलम प्रेम के अनुभूति पक्ष के गायक हैं। ठाकुर और बोधा में उसका लौकिक पक्ष भी आया है। लोक में प्रेम के निर्वाह की कठिनता सर्वाधिक होती है। कष्टों से पीड़ित प्रेमी स्वय भी प्रेम मार्ग से विरत हो सकता है और बाधाएँ भी बलात् उसे हटा सकती

१—देखिए—रोमाटिक प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण इसी अध्याय में।

है। सच्चा प्रेमी इन बाधाओं से डरता नहीं है। वह अपने जीवन की साधना हर प्रकार से पूर्ण करता है। बोधा तथा ठाकुर ने प्रेम के निर्वाह पक्ष पर अधिक बल दिया है। इसलिए उनका प्रेम 'तलवार की धार पै धावनो' है। यह भी स्वच्छन्द मार्गी कवियों की एक विशेषता है। रीतिमार्गी कवियों का इस दशा में भी ध्यान कम क्या गया ही नहीं।

६—विरह

विरह वर्णन भी इन कवियों का रीतिमार्गियों के विरह वर्णन से भिन्न है। ये लोग वैसे तो संयोग मे भी अंतर्मुख रहते हैं पर विरह में वह अंतर्मुखता और अधिक बढ जाती है। उसके कारण प्रिय के विरह में जो इन्हें मार्मिक पीड़ा होती है उसे भिन्न भिन्न प्रकारों से वर्णन करते हैं। कभी तो वे उन्मत्त की सी चेष्टाओं द्वारा हृदय की व्यथा व्यक्त करते हैं। जैसे—

> अक भरी चकि चौंकि परौं कबहूँक लगी छिन ही मे मनाऊ।
> देखि रहौं अनदेखें दहौं सुख सोच महौं जु लहौं सुनि पाऊ।
> जान तिहारी सौं मेरी दसा यह को समझै अरु काहि सुनाऊ।
> यौं घन आनद रैनदिना नहि बीतत जानियै कैसें बिताऊ।
>
> सुहि० ३१२

कभी हृदय की अंतर्दशाओं का ही सीधा विश्लेषण करने लगते हैं। जैसे—

> घूमत सीस, लगै कब पायनि, चायनि चित्त मे चाह घनेरी।
> आखिन प्रान रहे करि ध्यान सुजान सुमूरति मागत तेरी।
> रोम ही रोम परी घन आनंद काम की रोर न जाति निबेरी।
> भूलनि जीतति आपुनपौ बलि भूलौ नहीं सुधि लेहु सबेरी।
>
> सुहि० ३४३

× × ×

ये ऊहात्मक पद्धति से विरह व्यथा की नाप जोख नहीं करते। इनका वियोग बड़ा व्यापक है। वह संयोग मे भी बना रहता है। पर ये वियोग मे प्रिय के शरीर सुख की कामना नहीं करते। न शरीर सुख का

स्मरण करते हैं। अपनी मर्म कथा का उद्घाटन तथा प्रिय के सानिध्य की कामना, इसका ध्येय रहता है।

रीतिमार्गी कवि सयोग मे वहिर्मुख तथा वियोग मे अतर्मुख हो जाते हैं, पर उनकी वियोग व्यस्थाएँ बुद्धि द्वारा अनुमित होती है। स्वय अनुभूत नहीं। इसलिए उपमानों की अतिशयोक्तियो से उसकी मात्रा का ऊहन करते हैं। वियोगिनी को इतनी पीड़ा है कि गुलाब जल की शीशी औंधा देने पर सारा जल वीच मे ही भाप बन कर उड़ जाता है। यह ऊहात्मक शैली इसलिए है कि वे ये नहीं जानते कि उस समय हृदय, मन, आख, कान नाक, प्राण, आदि की क्या दशाएँ होती हैं। स्वच्छन्द मार्गी कवि उन अतर्दशाओं में से एक एक के अनेको स्वरूप जानते हैं। उसका वर्णन, विश्लेषण करते हैं। इससे इनका समस्त काव्य आतरिक शैली का और रीतिमार्गियो का वाह्य शैली का वन जाता है।

७—आत्मानुभूति

रीतिमार्गियों के विपरीत इन्होंने आत्मानुभूति को काव्य का विषय बनाया है। रीतिमार्गी, लोकानुभूति का वर्णन करते थे। उनका कार्य परिचित वस्तु पर ही कला की नक्काशी करना था। इन का कार्य अपरिचित अनुभूतियों को प्रेमियों के समक्ष उपस्थित करना था। इसलिए इनके रिझवार कम थे, क्योंकि "पहचान नहीं उहि खेत सो जू"। उधर इस भावरत्न का सर्वथा अभाव है। आनदघन का यह कवित्त इस तथ्य का उपयुक्त दृष्टान्त बनता है।—

> **लाजनि लपेटी चितवनि भेद भाय भरी**
> **लसति ललित लोल चख तिरछानि में**
> **छवि को सदन गोरो बदन रुचिर भाल**
> **रस निचुरत मीठो मृदु मुसक्यानि में**
> **दसन दमक फैलि हियें मोती माल होति**
> **पिय सौं लड़कि प्रेम पगी बतरानि में**
> **आनद की निधि जगमगाति छबीली बाल**
> **अंगनि अनंग रग ढुरि मुरि जानि में**

इस प्रकार के स्वानुभूति वर्णन रीति मार्गी कविताओं में नहीं के वरावर है।

८—प्रेम का विषय एकान्तिक तथा आत्यन्तिक स्वरूप'

स्वच्छन्द मार्गियों का प्रेम आत्यन्तिक एकान्तिक तथा विषम है। प्रेमप्रसंग में बताया गया है कि प्रेम की उच्चता तथा उदात्तता के लिए विषमता अत्यन्त अपेक्षित है। स्वच्छन्द प्रेम का चरम उत्कर्ष विषमता में ही निष्पन्न होता है। सम प्रेम पारिवारिक होता है। रीतिमार्गियों ने जो सम प्रेम को अपनाया वह संस्कृत साहित्य के प्रभाव के कारण। संस्कृत साहित्य में पारिवारिक प्रेम का ही श्रेष्ठ माना है।

९—प्रबंध निपुणता

स्वच्छन्द मार्गियों में प्रबंध रचना का निपुणता भी मिलती है। आलम और बोधा ने तीन सफल प्रबंध काव्य लिखे हैं। रीतिमार्गियों में इसका सर्वथा अभाव है।

१०—लोक जीवन का ग्रहण

स्वच्छन्दमार्गी कवियों ने लोक जीवन के मंगल मोद-पक्ष को भी लिया है। प्रसिद्ध पर्व त्यौहारों पर गीतिमुक्त शैली में उत्तम रचनाएँ की हैं। अखती, हरियाली तीज, झूला, बटपूजन आदि अनेक त्यौहार ठाकुर के काव्य में वर्णित हुए हैं।

११—भाषा

भाषा का परिमार्जन तथा व्यवस्थापन भी इन लोगों के द्वारा हुआ है। ठाकुर ने लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा, रसखान ने मुहावरों द्वारा, तथा आनद घन ने लक्षणा, मुहावरे, व्याकरण शुद्धि, आदि गुणों से भाषा के स्वरूप को आढ्य तथा सुसंस्कृत बनाया है। आनदघन ने भाषा में अभिव्यक्ति के अनेकों ऐसे नवीन मार्ग खोले हैं जो इन से पूर्व किसी की दृष्टि में नहीं आए थे।

इस मार्ग के सर्व श्रेष्ठ कवि आनंदघन हैं, इसलिए उनकी काव्यादर्श की मान्यताएँ तथा काव्य शैली के आधार पर मार्ग निर्धारण का प्रयत्न करते हैं।

ङ—घन आनंद की काव्यप्रवृत्ति

१—काव्यादर्श

घनआनद की काव्यप्रवृत्ति पहचानने के लिए यह अत्यन्त सहायक होगा कि हम यह जान लें कि वे स्वयं काव्य का आदर्श क्या मानते हैं। इनके

समय में रीतिमार्गी काव्यादर्श सर्वमान्य थे। सभी लोग उनका पालन करना आवश्यक समझते थे। वे आदर्श काव्य के वाह्य रूपों को सँवारने सजाने के ही थे। अनुभूति पक्ष पर किसी का ध्यान नहीं था। अनुप्रासमयी शब्दावली, छंदों में यतिलय का सुष्ठु विधान, दोषों का परिहार आदि गुण श्रेष्ठ कविता के लिए अनिवार्य माने जाते थे। रीतिमार्गी काव्यादर्श सेनापति के निम्नलिखित दो कवित्तों में भलीभाँति समाहृत किए गए हैं।—

दोष सों मलीन गुनहीन कविताई है तो,
कीने अरवीन परवीन कोई सुनि है।
बिनु ही सिखाए सब्रु सीखि है सुमति जो पै,
सरस अनूप रसरूप यामें धुनि है।
दूपन को करिवौ कवित बिन भूपन को,
जो करै प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है।
राम अरचतु सेनापति चरचतु दोऊ,
कवित रचत याते पद चुनियत है।

तथा

राखति न दोपै पोपै पिंगल के लच्छन कों,
बुध कवि के जो उपकंटहि बसत है।
जो पै पद मन को हरप उपजावत है,
तजै न रसै जो छंद वंद सरसत है।
अच्छर है बिसद करत ऊखैं आपस मैं
जाने जगती की जड़ताऊ बिनसत है।
मानै छविता की उदवति सविता की
सेनापति कविता की कविताई बिलसत है।[1]

इन कवित्तों में काव्य के निम्नलिखित आदर्श व्यक्त किए गए हैं।

१—कविता दोषयुक्त तथा गुण रहित न हो।

२—रस की सरस ध्वनि हो।

३—अलंकारों का प्रयोग अवश्य हो।

४—कविता में भक्ति का पुट हो।

१—सेनापति—कवित्तरत्नाकर

५—पिंगल शास्त्र का विरोध न हो।
६—विद्वानों का मनोरंजन कर सके।
७—शब्दावली विशद् हो।

स्पष्ट है कि इन में कलापक्ष की प्रधानता है हृदयपक्ष की नहीं।

१—आनद घन ने काव्य के आदर्श कुछ तो प्रत्यक्षरूप मे व्यक्त किए हैं कुछ अप्रत्यक्षरूप से। प्रेम के प्रसग मे यह दिखाया गया है कि उन्होंने प्रेमहीनों की निंदा की है। वहा प्रेम हीन से कवि ही अभिप्रेत हैं जो रीतिमार्गी थे। उनमें अनुभूति की शून्यता दिखाकर कवि ने व्यक्त करना चाहा है कि अनुभूति हीन व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। इनके समकालीन कवि प्रेम के ही वर्णयिता थे। पर व्यक्तिगत प्रेमानुभूति उनको न थी। कवि ने उसी का काव्य में महत्व बताकर अपने को उनसे पृथक सिद्ध किया है। वे ऐसे लोगों पर दया प्रकट करते हैं जो शास्त्र या बुद्धि के चक्षुओं से प्रेम के हर्ष विषाद का अनुमान किया करते थे। बुद्धि के नेत्र हृदय नेत्रों की तुलना मे मोर पख के समान केवल शोभादायक हैं। भाव की गहराई तक वे नहीं पहुँच सकते। प्रेमानुभूति की साक्षी तो उनकी ही आँखें हो सकती हैं जिनके हृदय मे चाह की मीठी पीर उठती हो।

रीतिकाल के कवि भावों को बुद्धिगम्य समझकर उसी से उन्हें काव्य निबद्ध करते थे। आनदघन ने सच्ची अनुभूति को बुद्धि से परे सिद्ध किया है। 'सुरति' सुख' भूल के जागने पर ही जागता है।[1]

प्रेमानुभूति मे बुद्धि दासी है और रीझ पटरानी[2], तत्व का बोध बौरानि मे ही होता है। 'तत्व बोध बौरानि मे'। बुद्धि कवियों के प्रेम कथन को नीर मंथन के समान निष्फल बताते हैं। उन्हे वाणी के रहस्य का अनभिज्ञ, ढडे हृदय के तथा जड़ कहा है। वे लोग कट प्रेम का निर्वाह करते हैं। उन मे कवि का मेल नहीं हो सकता।

> बात के देस तें दूरि परे जड़ ता नियरे सियरे हिय दाहैं।
> चित्र की आखिन हीनें विचित्र महारस रूप सवाद सराहैं।

१—सुहि० ३६६,
२—वही ४८,

नेह कथैं, सठ नीर मथे, हठ कै कठ प्रेम को नेम निबाहैं।
क्यों घनआनद भीजै सुजाननि यौं अमिले मिलिबो फिरि चाहैं।[1]

× × ×

२—काव्य क्षेत्र मे ब्यौरेवार भावो का वर्णन कवि ने उत्तम माना है। जिनकी निजी अनुभूति कुछ नहीं होती वे बहुत से भी एक सा ही वर्णन किया करते हैं। वर्ण्य विषय वस्तु हो या भाव उसका ब्यौरा नहीं दे सकते। कला मे इस ब्यौरे का ही महत्व है। वही व्यक्तित्व है। रीतिमार्गी कवियो मे अलकारो की योजना, गुणो का समाश्रयण, दोषो का परिहार, शब्दो की बाजीगरी आदि तो इतनी थी कि कोई क्या समता करता। पर निजी अनुभूति द्वारा प्राप्त होने वाला 'ब्यौरे का वर्णन' नही था। नायक नायिका आदि के भेद उपभेद बटाना 'ब्यौरा' नहीं है। अपनी निजी अनुभूति मे वस्तु की व्यक्तिगत विशेषताओं का परिचय देना 'घनआनद का ब्यौरा' है। उसके बिना काव्य में स्थूलता आ जाती है। सभी वर्णन एक से हो जाते हैं। ब्यौरे हीन कवि मूढ है।

मही दूध सम गनै हस बग भेद न जानै।
कोकिल काक न ज्ञान काच मनि एक प्रमानै।
चदन ढाक समान राग रूपौ सग तोलैं।
बिन विवेक गुन दोष मूढ़ कवि ब्यौरि न बोलैं।[2] सुहि २८५

३—आनदघन जी के अनुसार विषादो का वर्णन करने वाला काव्य ही उत्तम है। सच्चे कवि को विषादो का अनुभविता होना चाहिए। नहीं तो उसका हर्ष प्रधान काव्य भी रुदन सा निरर्थक हो जाता है। अनुभूति प्रधान काव्य करुण ही होता है। सच्ची अनुभूति तभी आती है जब कवि का अपना मर्म आहत हुआ हो। वाणी की उछल कूद से मर्म का पता नहीं लगता। प्रेमाग्नि लगने पर ही आनद का भड लगता है। यदि कवि को रोना नहीं आता हो तो गाना भी रोने के समान है।

मरम भिदै न जौलौं, मरम न पावै तौ लौं।
मरमहि भेदे कैसे सुरति घँघोइबौ।

१—वही ३८३
२—वही, २८५

प्रेम आगि जागै लागै झर घनआनंद की।
रोइयो न आवैतो पै गाइवौ हू रोइवौ।[१]

४—भाषा की बाहरी चमक दमक का काव्य में विशेष महत्व नहीं। भाव की तन्मयता ही अपेक्षित होती है।

समझि समझि बातें छोलिबो न काम आवै।
छावै घनआनंद न जौ लौं नेह बौरई।[२]

५—काव्य कला में भाषा उपेक्षणीय तत्व नहीं। उसका बड़ा महत्व है। पर वह हृदय के भावों की वाहिनीमात्र होनी चाहिए। उसका उद्गम भावमग्न हृदय से हो।

अक्षर का महत्व बताते हुए कवि कहता है कि 'हृदय को छलने का साधन भी अक्षर ही है और उसे तृप्त करने का भी साधन वही है। यद्यपि सत्य अक्षर से दूर है, पर अक्षर ही उसका परिचय कराता है। भावमग्न होकर अक्षर की गति जानने पर तत्व बोध हो जाता है।

अच्छरै मन को छरै बहुरि अच्छर ही भावै
रूप अच्छरातीत ताहि अच्छरै बतावै[३]
'तत्व बोध बौरानि में अच्छर गति अच्छर लहै'

पर 'वाणी मौन का घूंघट डाल कर हृदय के भवन में दुलहिन की तरह बैठी रहती है। वह रसना की सखी के साथ कान की गली में होकर चित्त शैय्या पर पहुँचती है। सुजान धनी रिझवार होकर उसे वृक्ष के अंक में लेते हैं और उससे विलास विहार करते हैं'।[४] 'शब्द वक्ता के सूक्ष्म स्वास प्रस्वासों का ही पवन पट है जो अनुराग के रंग में रँगा रहता है। वह बुद्धि का खेल नहीं प्राणों का वाह्य रूप है। लगन में वाणी का स्वर भिन्न ही प्रकार का हो जाता है।'

सवद सरूप वहै जानन सुजन चहै,
अचिरज यहै औरै होत सुर लाग में।

१—प्रकीर्णक ३०
२—वही ३१
३—वही ७१
४—सुहि० १६२

ही नहीं जाता था, उसके विपरीत घनानद ने काव्य मे सूक्ष्मावगाहिनी प्रवृत्ति को अपनाया। रीतिकार शृंगार का वर्णन करते थे, अर्थात् प्रेम के भोग पक्ष को ही लेकर चले थे। नायक नायिकाओ के भेद विस्तार, उनके वर्णन तथा सयोग वियोग के अश्लील चित्र दिए जाते थे। घनानद ने उसके स्थान पर उदात्त प्रेम को अपनाया। जो सरल हृदय की निश्छल तथा जन्मजन्मातर तक जाने वाली प्यास है और जो 'आब्रह्म स्तंब पर्यंत' सभी मे व्याप्त है। उन्होंने प्रेम का अर्थ 'व्यथा' ही समझा। उनके लिए प्रिय का मिलन या विरह एक सा ही हो गया। इस प्रकार रीतिकाल मे जो काव्य का करुण पक्ष विस्मृत हो गया था उसे इन्होंने अपने हृदय रक्त से सींच कर हिंदी संसार को समर्पित किया। काव्य इनके पसीने का फल नहीं था हृदय रक्त मे सिंचा पौधा था। यही स्वछंद धारा का प्रमुख गुण होता है। रीति काल मे प्रत्येक व्यक्ति कवि बन सकता था। ठाकुर ने इसका बडे मार्मिक ढग से खाका खींचा है।

सीखि लीनो मीन मृग खजन कमल नैन,
सीख लीनों जस औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीनों कल्पवृक्ष, कामधेनु, चिंतामनि,
' सीखि लानों मेरु औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत या की बड़ी है कठिन बात
या को नहि भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेळ सो बनाय आय मेलत 'सभा के बीच'
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है।

कवि कर्म के लिए किसी जीवनगत या जन्मजात विशेषता का होना आवश्यक नहीं माना जाता था। कवि शिक्षा ही इसका पर्याप्त साधन था। घनानद ने इसको भी कला का दोष प्रमाणित किया है। उन्हीं के शब्दों में बुद्धि की आखों से सत्य ओझल हो जाता है। रूप सदा रिझवार को ही अपना रहस्य खोलता है।[1] जब तक कवि का मर्म स्वय न भिदा हो तब तक वह दूसरे के मर्म को नहीं जान सकता'। कवि ने उसी कविता को उत्तम समझा और

१—यह अग्रेजी साहित्य रोमांटिक काव्य धाराओं के आचार्यों का यह कथन कि 'इंद्रियाँ तथा बुद्धि वस्तु के सूक्ष्म तथा अन्तर्हित सत्य का पता नहीं कर सकती हृदय ही उसके लिए समर्थ साधन है, आनद घन के विचारों से मिल जाता है। देखिए इसी अध्याय का 'रोमांटिक मार्ग' प्रकरण।

उसी का सृजन किया जो भाव-विभोर आत्मविस्मृत हृदय से अपने आप निकलती थी। यानी काव्य निर्माण में बुद्धि की चेतनावस्था के स्थान पर उपचेतन या अवचेतन दशा का उपयोग किया। कवि अपनी इन विशेषताओं का महत्व जानते भी थे। इसलिए रीति मार्गी कवियों को अपने से 'अमिले' उन्होंने कहा है।

'क्यों घन आनद भीजै सुजाननि यों अमिले मिलिबो फिर चाहैं'

अर्थात् उस समय कवियों के दो वर्ग थे। 'घन आनद भीजै सुजान' तथा 'कठ प्रेम को नेम निबाहनेवाले सठ मूढ कवि'। पहले स्वच्छन्द मार्गी थे दूसरे रीति परपरा की शृङ्खलाओं से जकड़ी प्रतिभा वाले। ब्रजनाथ ने तो घनानद को स्पष्टतया स्वच्छन्द कहा है। 'भाषा प्रवीन सुछद सदा रहैं'। इनके समय की दूसरे प्रकार की कविता को 'जग की कविता' बताया है। उसमें सबसाधारण प्रवृत्ति का ही आश्रयण था। पर इन्होंने अपनी कला में उस वस्तु का उपयोग किया था जो उस समय हिन्दी जग की कविताई में नहीं था। इसलिए ब्रजनाथ ने जग की कविता के रचयिताओं तथा श्रोताओं को स्पष्ट बताया है कि 'वे घन आनद की कविता न सुनैं' उन्हें इस काव्य के नवीन क्षेत्र से परिचय नहीं है।

'कविता घन आनद की न सुनौं पहचान नहीं उहि खेत सों जू'

इससे यह स्पष्ट है कि इनकी काव्य प्रवृत्ति रीति धारा से पृथक स्वछंद प्रवृत्ति की थी।

भावों का विचार करते समय यह बताया गया है कि इनका चिंतन गम्भीर है। इसलिए प्रेम भावना का स्वरूप आतरिक हो गया है। आन्तरिकता के कारण ही रहस्यवाद की छाया भी शैली में आ गई है। जब कवि कहता है कि 'सारा ससार आँखों से दूर हो गया केवल तुम्हीं सबत्र छाए हुए हो' तथा 'हे पिय, हम और तुम साथ साथ ही बहुत दिनों से रहते आए हैं पर आपस में पहचान नहीं हो पाई' तो इनसे कोरा भौतिक प्रेम का वर्णन ही अभिप्रेत नहीं प्रतीत होता। इन उक्तियों में परमेश्वर की सर्वव्यापकता तथा अन्तर्यामिता आदि की ओर संकेत किया गया जान पड़ता है। रीतिकाल की काव्य जगती में प्रेमभावना की यह व्यापकता भी सर्वथा अपरिचित थी।

च—विदेशी स्वच्छंद धारा तथा आनंदघन

उपर्युक्त काव्य विशेषताओं का ध्यान न रखकर अंग्रेजी की स्वच्छंद काव्य-धारा को देखें तो उस धारा के बताए गए बहुत से गुण घनानद के काव्य में

मिलते हैं। जैसे वैयक्तिकता, काव्य के रूप पक्ष को प्रमुखता न देकर भाव पक्ष को महत्व देना, रहस्य वाद का पुट, अपने समय की काव्य परंपराओं को अस्वीकार कर व्यक्तिगत अनुभूतियों को काव्य में स्थान देना, सामाजिक बंधनों की उपेक्षा कर वेश्या तक प्रेम को अपनाना तथा उसका ईश्वर प्रेम में पर्यवसान करना, अनुभव के क्षेत्र में इन्द्रिय तथा बुद्धि की अपेक्षा हृदय को श्रेष्ठ साधन समझना आदि। पर इस समता का कारण घनानंद पर विदेशी साहित्य की परंपराओं का परिचय या प्रभाव नहीं है। वहाँ की परिस्थितियाँ परंपराएँ तथा भौगोलिक स्थितियाँ भी घनानंद के समय की परिस्थितियों आदि से सर्वथा भिन्न थीं। पर विशेष प्रतिभाओं के चिंतन की उच्चतम भूमि सर्वत्र सर्वदा प्रायः एक सी होती है। उस पर देश काल का कोई प्रभाव नहीं होता रीतिकाल तथा अंग्रेजी साहित्य के क्लासिकल युग की परिस्थितियों में थोड़ा साम्य भी था। वहाँ लैटिन और ग्रीक साहित्य के आदर्शों के बंधन अरस्तू द्वारा स्थापित किए गए थे। वे कवि प्रतिभाओं के द्वार के ताले बन गए थे। कविता में व्यक्तिगत अनुभूति नहीं रही थीं। काव्य का मार्ग स्थूल भी था। लगभग ऐसी स्थिति यहां भी थी। संस्कृत साहित्य के आदर्शों के बंधन केशव आदि प्राचीन रीतिकारों द्वारा हिन्दी काव्य क्षेत्र में अवतरित किए गए थे। यहाँ की काव्य प्रवृति स्थूल तथा व्यक्तित्वहीन हो गई थी। बुद्धि के बल से काव्य का कलापक्ष जैसे अंग्रेजी साहित्य में बढ गया था वैसे ही हिंदी में भी। वहाँ का बंधन विदेशीय था। यहाँ का स्वदेशीय। बंधन उभयत्र समान था।

वैसे स्वच्छन्द काव्य धारा किसी देश विशेष या काल विशेष की ही उपज नहीं मानी जानी चाहिए। इसका मूल परंपराओं का अनुसरण करनेवाली तथा उनका भंग करनेवाली दो मनोवृत्तियां होती हैं जो हर समय हर देश में हो सकती हैं। (इसलिए एक आलोचक ने तो यह कहा है कि प्रत्येक समय की श्रेष्ठ रचना स्वच्छंद धारा की होती है। कल्पना की बहुलता और आवेगों की निविड़ता उसमें विद्यमान रहती है।)

अंग्रेजी साहित्य में 'रोमांटिक' प्रवृत्ति जो वहाँ की औद्योगिक स्वतंत्रता के फलस्वरूप अवतरित हुई थी वही घनानंद में नहीं है। पर रीति मुक्तता वैसी ही है। इसी अर्थ में इन्हें 'स्वच्छंद कवि' कहा गया है। 'रोमांटिसिज्म' के शास्त्रीय स्वरूप के अभिप्राय से नहीं। हिंदी साहित्य में यह नया योग फारसी उर्दू के संयोग से उपस्थित हो गया था। अतः कहना चाहिए कि

इस रीतिकालीन स्वच्छंदधारा का स्रोत यहीं की भूमि में था। और उसके कारण यहीं की परिस्थितियाँ थीं। लेखक का तात्पर्य यह है कि घनानंद आदि ने जो हिंदी साहित्य के संसार में एक विशेष प्रकार की सृष्टि की है वह उर्दू फारसी की कोरी नकल नहीं, उस प्रभाव के साथ भारतीय साहित्य की पद्धतियों तथा मान्यताओं का योग हुआ है और उसके फलस्वरूप एक मार्ग की स्थापना हुई है। वह मार्ग विदेशी स्वच्छंद धारा से कुछ अंश में मिलता है कुछ अंश में भिन्न है।

छ—आनंदघन की स्वच्छंद प्रवृत्ति के अन्य गुण

अब हम इनकी ऐसी विशेषताओं का उल्लेख करने का प्रयत्न करेंगे जिनका परिचय काव्यादर्शों के प्रसंग में नहीं हो सका और जो रीति परंपरा में इन्हें पृथक करती हैं और इनकी रीति मुक्तता स्थापित करती हैं।

१—रीतिकाल का प्रेम शृंगार साहित्यिक परंपराओं से तो मुक्त था ही नहीं, सामाजिक परंपराओं से भी मुक्त नहीं था। इस में एक ओर तो नायिका भेदों तथा रीति की विविध विधाओं के वर्णन होते थे और दूसरी ओर प्रेम का स्वरूप गार्हस्थिक रक्खा जाता था। वास्तव में इसका कारण संस्कृत साहित्य की प्राचीन परंपरा थी जिस में शृंगार रस की वृद्धि वर्णाश्रम मर्यादाओं में हुई थी। उन्मुक्त प्रेम के लिए जिस मुक्त वातावरण की आवश्यकता होती है वह इस में संभव नहीं था। सखी, दूती, वचन वैदग्ध्य आदि बाह्य कृत्रिमताएँ इसी के कारण बढ़ी थीं। इस तरह रीतिकालीन प्रेम में साहित्यिक बंधनों के साथ साथ जीवनगत बंधन भी था।

घनानंद ने सामाजिक बंधनों की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं की। उन्होंने वेश्या से प्रेम किया। उसके उच्छल यौवन, आमंत्रण, नृत्य, शयन सुरति सौंदर्य आदि निःसंकोचभाव से वर्णित किए हैं। प्रेम प्रसार के बाधक तत्वों को प्रेमहीन जड़ कहकर उपेक्षित कर दिया है। यद्यपि उनका प्रेम मानसिक है और बाधक तत्व शारीरिक व्यापारों में ही उपस्थित होते हैं इसलिए उनका अधिक वर्णन नहीं हुआ पर जितना हुआ है वह प्रेम की उत्सुकता के लिए ही है। घनानंद का प्रेम गार्हस्थिक नहीं है। उसमें समाज की मर्यादा नहीं है, जीवनस्वच्छंदता है।

२—नायिका भेद की प्रवृत्ति रीतिकाल की सर्वोपरि विशेषता थी। नायिका भेदो की सख्या बढाने मे ही कवि अपना कृतित्व समझते थे। ये भेद केवल सख्या तक ही सीमित थे। नायिकाओं के अत.करण के भावो की ओर कवियों का ध्यान नही था। घनानद ने नायिका भेदो मे अपनी काव्य सरस्वती को नही फँसाया। कहीं कहीं खडिताओं के वचन आ गए हैं, ये केवल प्रिय को कठोर तथा प्रेमी को अनन्य अनुरागी सिद्ध करने के लिए हैं। अन्यथा नायिका भेदों मे कवि की प्रवृत्ति नही है। प्रेमी प्रेमिकाओं के भावों का विश्लेषण ही इनका विषय है। रूप सौदर्य का वर्णन भी जहाँ हुआ है वहाँ उसके प्रभाव तथा भाव सयोग का अवश्य वर्णन है। वास्तव मे इनका रूप सौदर्य प्रेमाप्लुत हृदय से देखा गया है। जैसे—

'रूप की उझिल आछे आनन पे नई नई,
तैसी तरुनई तेह ओपी घरु नई है।
उपटि अनग रग की तरग अग अग,
भूषन वसन भरि आभा फैलि गई है।
महारस भीर परें लोचन अधीर तरैं,
ओछी ओक धरैं प्यास पीर सरसई है।
कैसें घनआनद सुजान प्यारी छवि कहौं,
दीठि तौ चकित औ थकित मति भई है।

सुहि० ९७,

३—रीति परपरा मे प्रेम के गार्हस्थिक होने से प्रेमी या प्रिय अपने हर्ष विषाद का आत्मनिवेदन नही करते। कुलीनता और शालीनता की रक्षा के लिए सखा या सखियों का इस कार्य के लिए विनियोग होता है। मिलन, अभिसार, विरह निवेदन आदि सब उन्हीं के द्वारा होते हैं। पर घनानद तथा अन्य स्वच्छद प्रेम के कवियो ने प्रेमानुभूति का आत्मनिवेदन ही किया है। मध्यस्थ को इसलिए नही आवश्यक समझा कि वे प्रेम की गभीर अनुभूति को समझा नहीं सकते। घनानद इसलिए मौन होकर विरह व्यथा सहते हैं। ठाकुर ने भी प्रेमानुभूति के हृदय में ही गुप्त रहने की बात बार बार कही है। सबका साराश यही है कि ये लोग प्रेम व्यापार मे अन्तर्मुख थे, रीतिमार्गी कवि बहिर्मुख।

४—रीतिकालीन बहिर्मुखता के कारण ही काव्य के अभिव्यक्ति पक्ष में विशेष परिष्कार या परिवर्तन नहीं हुआ था। वही प्राचीन औपमानिक पद्धति थी। भावों को विशेष बल के साथ कहना होता था तो अतिशयोक्ति आदि का समाश्रय किया जाता था। प्राधान्य अभिधावृत्ति का ही था। पर घना-नद की भाषा उनके हृदय में मौन का घूँघट डालकर बैठी हुई दुलहिन थी। वह उनके श्वास-प्रश्वासों से बना हुआ पट था जो प्रेम के रँग में रँगा हुआ था। इसलिए जितनी गंभीर अनुभूति थी उसकी अभिव्यक्ति के लिए उतनी ही सक्षम भाषा की योग्यता इन्होंने कर ली थी। ये भाषा प्रवीन थे 'भावना भेद सरूप' को जानते थे। घनानंद की गंभीर अनुभूति स्थूल अभिधा प्रधान भाषा में व्यक्त नहीं हो सकती थी। इनके भावों की सूक्ष्मता और गंभीरता ने लाक्षणिक भाषा का नवीन मार्ग बना लिया। पहले आचार्य लक्षणा आदि का विवेचन थोड़ा बहुत सब करते थे पर उसका प्रयोग न संस्कृत साहित्य में हुआ था न हिंदी में। यही कारण है कि रीति विवेचन में लक्षणा व्यंजना आदि के भेदों के जो उदाहरण प्राप्त होते हैं वे न जाने कब से एक ही चले आ रहे हैं। इस क्षेत्र में घनानंदजी ने सर्वप्रथम प्रवेश किया और बड़ी प्रौढ़ता के साथ किया। इसका हेतु उनका गंभीर सूक्ष्म चिंतन था। भाव भाषा अपने साथ लाते हैं। वियोगिनी का संताप वर्णन करता हुआ रीति मार्गी कवि शंकर कहता है।

> शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
> भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ जायगी।
> दरिगे अगारे पै तरनि तारे नागपति
> या विधि कमंडल में आग बढ़ जायगी॥
> काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहिं
> जा पै या वियोगिनी की आह बढ़ जायगी

× × ×

इधर घनानंद की विरहिणी की अभिलाषा का लाक्षणिक भाषा में व्यक्त किया जाता है तो उसकी प्रेरणा और प्रभाव कितना बढ़ता है, यह देखिए

× × ×

✓ लाजनि भाँति भरे अभिलाषनि कै पल पाँवड़े पथ निहारैं।
हाहिलौ आवनि लालसा लागि न लागत हैं मनतें पन धारैं।

यों रस भींजे रहैं घनआनद रीझे सुजान सुरूप तिहारैं।
चायनि बावरे नैन कथै असुवान सौं रावरे पाय पखारैं।

सुहि० ५६

× × ×

यहाँ व्यापारों का कर्ता प्रेमिका को न बना कर नेत्रों को बनाने से प्रिय का, 'आवनि' को 'लाड़िली' कहने से, उन्हे रस भींजे तथा चाय बावरे बताने से काव्य की व्यजना दूनी चौगुनी क्या असख्य गुनी बढ गई। भाषा ऐसी लगती है कि कवि ने भावों का अनुभव ही इस भाषा मे किया था। जहाँ आतरिक अनुभूति के कारण भाषा का निर्माण होता ह वहाँ इसी प्रकार की मार्मिकता का अवतार होता है। (हिंदी साहित्य मे या तो कबीर आदि सतों के मुख से ऐसी हृदयोद्भूत वाणी नि.सृत हुई है या घनआनद के मुख मे।) रीतिमार्ग से इन्हें पृथक करते में यह बड़ा प्रबल हेतु है।

७—रस परपरा पर सामाजिक मर्यादाओ का प्रभाव होने के कारण शृङ्गार रस मे विपम रति का कोई स्थान नही रहा। यदि एक निष्ठ रति हो अर्थात् नायक या नायिका मे से कोई एक ही प्रेम करता हो तो यह रस नहीं रसाभास माना जाएगा। उसमे भी पहले स्त्रीजाति के अनुराग को प्रकट करने की परपरा है। यह सम प्रेम समस्त रीति प्रधान काव्य में वर्णित हुआ है। घनआनद ने प्रेम की उदात्तता तथा उच्चता व्यक्त करने के लिए विपम प्रेम को ही अपनाया है। प्रेम की अनन्यता, स्थिरता, सहिष्णुता आदि बिना वैपम्य के आ ही नही सकती। भोग पर्यवसायी प्रेम में समता अपेक्षित होती है। पर भावात्मक तथा साधनात्मक प्रेम का प्रसार वैपम्य के वातावरण में जितना अच्छा हो सकता है उतना अन्यत्र नहीं।

रीति मार्गी कवियोंमे शृगार रस के सयोग पक्ष ने अधिक विस्तार पाया है। इसका कारण चिंतन की आपेक्षिक स्थूलता तथा नायिकाभेदादि रीति की परपरा हो सकते हैं। सयोग या कहना चाहिए सभोग भी चेष्टा प्रधान थी, भाव प्रधान नहीं। सचारी भाव अनुभाव आदि का प्रदर्शन इसी समय किया जाता था। इनका कारण रस मर्यादा थी जिसमें भाव की व्यजना चेष्टा द्वारा की जानेका सिद्धान्त है। सयोग की प्रधानता का भी कारण यही है कि वहाँ चेष्टाओं, हाव भावों का वर्णन हो सकता है, वियोगमें चेष्टाएँ विरत हो जाती

है। वियोग का इन्होंने थोड़ा बहुत वर्णन किया है तो वह भी मार्मिक नहीं। कवियों ने अपनी ऊहा से व्यथा का अनुमान किया है। आलसी अफसर की तरह बिना घटनास्थल पर पहुँचे ही अनुमान से रिपोर्ट लिख दी है। पर आनदघन वियोग के प्रधान कवि हैं। सयोग का भी वर्णन किया है तो उसमें वियोग विद्यमान रहता है। वहाँ प्रेमी की अनुभूति के स्रोत खुले ही रहते हैं। कभी वह हर्ष से बावला होता है कभी आगे के वियोग की चिंता से व्यथित। कभी चाह की अन्तर्ज्वाला सयोग से और अधिक बढती है। इस तरह सयोग में भी वियोग विद्यमान रहता है। जहाँ वियोग है वहाँ तो हृदयमर्म के पुट के पुट खुलते जाते हैं। वियोग व्यथा के वर्णन में घनआनद की समता हिन्दी के किसी कवि से नही की जा सकती। इनका यह गुण भी रीति मार्ग से पृथक है।

वियोग के प्राधान्य के कारणों की मीमासा की जाए तो दो हेतु हिन्दी साहित्य में सभव हो सकते हैं। एक तो सूफियों की प्रेम की पीर वर्णन करने की परंपरा जो भक्ति काल के प्रारंभ मे चलकर रीति काल तक किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। दूसरी फारसी काव्य की वेदना विवृति की शैली जो रीतिकाल की ही समकालीन थी। इन दोनों धाराओं से इन्होंने प्रभाव ग्रहण किया हो - यह सभावना होती है। पर विशेष प्रभाव उर्दू फारसी का प्रतीत होता है। वियोग का प्राचुर्य घनानद और आलम दो में विशेष है। आलम मुसलमान थे घनानद कायस्थ। घनानद ने 'इश्कलता' के 'वियोग बेलि' आदि उर्दू फारसी की शैली से लिखी भी हैं। इसलिए इसका प्रभाव तो स्पष्ट है। सूफियों का प्रभाव भी सभव है। उनका विरह मानव मात्र के चित्त में ही सीमित न रह कर समस्त प्रकृति मे व्याप्त हो जाता है। दूसरे उस विरह में रहस्य भावना का अश भी रहता है। घनआनद के विरह में वह व्याप्ति तो नहीं है पर रहस्य भावना की झलक कहीं-कहीं आ गई है जो सूफियों से मिलती है।

निष्कर्ष मे कहा जा सकता है कि घनआनद का काव्य मार्ग रीति मार्ग से पृथक था। कुछ रचनाएँ इनकी ऐसी मिलती हैं जिनमें आलकारिक अभिव्यजना शैली तथा रीति मार्गी चिंतन स्पष्ट प्रतीत होता है, पर वे प्रारभ काल की कृति समझनी चाहिएँ। अभिव्यक्ति के निश्चित हो जाने

पर इन्होंने अपना मर्म ही उद्घाटित किया है। प्राचीन परंपरा का साहस पूर्वक त्याग कर दिया था।

साहित्य की यह धारा अकस्मात रीतिकाल में ही नहीं आ गई थी। पहले से ही इसका प्रवाह चला आ रहा था, यह प्रतिपादित किया जा चुका है। हिन्दी साहित्यके मध्यकाल में ही पाँच उत्तम कवि इस धारा के अन्तर्गत आते हैं। रसखान, आलम, घनआनन्द, बोधा और ठाकुर। इस प्रकार मध्यकाल में स्वच्छन्द धारा का एक व्यवस्थित अनुक्रम इन प्रेमी कवियों द्वारा स्थापित किया गया है। रसखान ने भक्ति के बाह्यावरण में व्यक्तिगत प्रेमानुभूति की अकृत्रिम भाषा में अभिव्यक्ति की है। राधा और कृष्ण के हृदयों में तथा भक्त के हृदय में मानवीय भावों का स्पंदन दिखाया है। आलम ने लौकिक प्रेम का स्वतंत्र रूप से व्यक्तिगत अनुभूति के आधार पर वर्णन किया है। उसका अवसादपूर्ण प्रेम दूसरों से भिन्न है। बोधा प्रेम के मांसल तथा साहसिकतापूर्ण रूप के उपस्थापक हैं। उन्होंने स्पष्ट रूप से लौकिक प्रेम को श्रेष्ठ माना है। महबूब में ब्रजराज के दर्शन उन्होंने किये हैं। ब्रजराज में महबूब के नहीं। ठाकुर प्रेम के लोक व्यवहार पक्ष के पारखी हैं। प्रेम के निर्वाह की कठिनता बोधा और ठाकुर की समान है। इस तरह स्वच्छन्दधारा के समस्त कवियों का व्यक्तित्व उनकी प्रेमानुभूति में स्पष्ट आभासित है। साथ ही ये लोग न भक्ति परम्परा से और न रीति की परंपरा से प्रभावित हुए। इसलिए स्वच्छन्द हैं।

स्वच्छन्द मार्ग का प्रेरक हेतु

यद्यपि स्वच्छंद मार्ग का अविकसित रूप सभी कालों में दिखाई देता है पर रीतिकाल में अपेक्षाकृत अधिक विकास हुआ। इसका कारण उर्दू फारसी के साहित्य का हिन्दी के साथ संगमन है। अकबर के समय से ही हिन्दी संस्कृत तथा फारसी के और बाद में उर्दू के कवि दरबार में साथ-साथ रहते-सहते और काव्य बनाते-सुनाते आये हैं। भक्ति काल में ही निर्गुण सन्तों तथा कृष्ण शाखा के भक्तों पर यह स्पष्ट हो गया था। कृष्ण भक्ति में प्रेम की लौकिकता के समावेश का कारण फारसी का प्रभाव भी था। रीतिकाल में प्रेम भावना

की यही लौकिकता बढती गई पर कवियो मे अपनी काव्य मर्यादा को अक्षुण्ण बनाए रखने का मोह बढता गया। रीतिकाल के कवि के व्यक्तित्व मे यही मनाग्रथि मूलनिहित प्रतीत होती है। ऊपर से वह भारतीय साहित्य की परपरा का अनुयायी है पर अन्तर मे फारसी काव्य धारा की लौकिक प्रेम की विकृति प्रकट होती है। फलस्वरूप कृष्ण भक्ति का आवरण अभिव्यजन शैली ने स्वीकार कर वह मनोग्रन्थिग्रसित अतएव अविकसित प्रेम की अर्धस्फुटित अभिव्यक्ति करता है। स्वच्छन्द धारा के कवियो के मानस मे कामग्रथि नही थी। वे स्पष्टरूप मे प्रेम की व्यक्तिगत अनुभूति को प्रकट करते थे। उनका साहित्य दम्भग्रसित नही है। बोधा ने विरह वारीश मे माधवानल तथा कामकदला के सयोग का जो खुला वर्णन किया है उनका कारण इनके मानस की स्वच्छन्दता और निर्मुक्तता ही है। घनआनद ने भी सुजान के मादक सौन्दर्य का इसी भाव से वर्णन किया है। उन्होने सामाजिक तथा साहित्यिक मर्यादाओ को अपने जीवन से मिलता न देख कर साहसपूर्वक त्याग दिया था। फारसी साहित्य का जो नवीन पादप इस देश की मनोभूमि पर आरोपित हुआ था उसके मीठे फलों का निःसकोच आस्वादन किया। उर्दू फारसी का प्रभाव तो रीतिकाल के समस्त कवियों पर था। पर स्वच्छन्द धारा के कवियो ने उसका कुछ अधिक उपयोग किया और रीति मार्ग के वाह्यावरण को उतार फेंका। इनकी जीवनगत परिस्थिति ने इसमे सहायता दी।

स्वच्छन्द धारा का मध्यकाल मे प्रारंभ ही फारसी के योग से हुआ है। रसखान पठान होने के नाते फारसी के जानकर अवश्य रहे होगे। उनके चिन्तन मे जो प्रेम का लौकिक रूप आया है उसका यही कारण था। ठाकुर, बोधा, घन आनन्द तीनो कायस्थ थे। कायस्थ लोगों में फारसी के पठन पाठन की परपरा पहले से ही विद्यमान थी। बोधा ने फारसी की शब्दावली का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग किया है। घनआनद का फारसी परिचय उनकी वियोग वेलि, इश्कलता आदि रचनाओ से और प्रेम के व्यथा प्रधान तथा विप्रलम्भ का वर्णन करने आदि मे अनुमित होता है। इनके सिर नागरीदास जी ने 'इश्क चमन' फारसी की लटक मे ही लिखा जान पड़ता है। उन्ही के अनुसरण पर घनआनद ने भी अपनी 'इश्कलता' लिखी हो तो क्या आश्चर्य। मनोरथ मजरी तो नागरीदास जी ने आनदघन की प्रेरणा से ही लिखी थी। इन्होंने भी मनोरथ मजरी लिखी है। ठाकुर

अवश्य ऐसे हैं जिन के प्रेम का स्वरूप तथा अभिव्यक्ति भारतीय हैं। भाषा पर भी फारसी आदि का प्रभाव नहीं है। सभवत. उनका ज्ञान फारसी भाषा का कम हो या बिलकुल न हो पर इससे प्रभाव की सभावना दूर नहीं होती। उर्दू फारसी साहित्य ने तो उस समय अपना एक साहित्यिक वातावरण बनाया था। इस से ज्ञात और अज्ञात रूप से हिन्दी के कवि प्रभावित हो रहे थे। ठाकुर दूसरी कोटि मे आते है। घनआनद के भटाँवाकार ने तो इन्हे फारसी के भावो का चोर बताया है। घनानद की भाषा की लाक्षणिकता भी फारसी के प्रभाव के फलस्वरूप ही है। अन्यथा हिन्दी या सस्कृत मे तो यह परपरा थी ही नहीं। स्वच्छन्द धारा के कवि इस गुण के लिए प्रशसा भाजन हैं कि इन्होंने दो साहित्य प्रवाहों के सगम से नवीन प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त की। साथ ही बोधा को छोड़ कर शेष चारो की तो पाचन शक्ति भी कम प्रशसनीय नहीं है। 'रीझि पचाय के डोलत भूखे'। विदेशी भाव धारा तथा अभिव्यजना शैली आदि का इतनी मात्रा मे तथा ऐसे प्रकार से उपयोग किया है कि उसका आभास तक काव्य के बाह्याकार मे नहीं होता। प्रभाव केवल प्रेरणा तक ही सीमित रहा। भाषा लाक्षणिकता के लिए घनआनद ने हिन्दी भाषा की ही उपेक्षित सामग्री मुहावरे तथा रूढ लक्षणाओ का सुन्दर विनियोग किया है। वास्तव स्वच्छन्दमार्गी कवियो ने बाहर की सामग्री का साहित्य मे किस प्रकार उपयोग करना चाहिए इसका आदर्श दूसरो के समक्ष उपस्थित किया है। फारसी के प्रेम के लौकिक किन्तु स्थूल भड़काले रूप के साथ भारतीय प्रेम धारा के गाभीर्य का मिश्रण कर अपूर्व सृष्टि इन लोगों ने की है।

साहित्यिक परपराओंमे परिवर्तन सदा कुछ विशेष कारणों से होता है। वे वाह्य भी होते हैं और आन्तरिक भी। आधुनिक युग की स्वच्छदधारा का जन्म भी विदेशी साहित्य के योग से हुआ है। हरिवशराय बच्चन फारसी से प्रभावित होकर तथा श्रीधर पाठक आदि अग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर उन्मुक्त प्रकृति की कविता कर सके हैं। सुमित्रानदन पत आदि स्वच्छद धारा के कवियों पर अग्रेजी साहित्य का प्रभाव तथा प्रेरणा स्पष्ट है। रीति काल में विदेशी वस्तु को अपनाया तो रसलीन कुदनशाह आदि ने भी था पर स्वय उसमें रग गए। उसे भारतीय आकार प्रकार न दे सके। इन लोगों ने उसे हिंदी की प्रकृति के साथ मिला कर पृथक ही एक मार्ग बना लिया था।

ऊपर जैसा बताया गया है कि व्यक्तिगत जीवन की विशेष परिस्थितियों एवं फारसी आदि के साहित्य के प्रभाव के कारण भक्तिकाल और रीति काल में पाच छः कवियों की काव्य प्रवृत्ति प्राचीन परंपरागत मार्ग से भिन्न स्वभाव की हो गई थी। इस प्रकार यह विशेषता कोई असंबद्ध, अनियमित या कादाचित्क नहीं थी। इसकी एक पूरी धारा भक्तिकाल से लेकर रीतिकाल के अंत तक दिखाई पड़ती है। घनानंद के अतिरिक्त रसखान, आलम, बोधा और ठाकुर भी इसी स्वच्छंद प्रवृत्ति के अंतर्गत आते हैं। उनकी काव्य प्रवृत्तियों का सूक्ष्मरूप से परिचय इस प्रकार है।

रसखान के काव्य में स्वछंद मार्ग

रसखान और तुलसी समकालीन हैं। तुलसीदास के भक्त हृदय ने राम में भगवत्व का दर्शन कर उनके समस्त कार्यों को लीला बना दिया यद्यपि उसका बाह्य रूप मानवीय व्यापार का सा रहा। मानवत्व का स्थान गौण, प्रच्छन्न रहा। इसके पूर्व महात्मा सूरदास ने भागवत के सहारे अनेकों प्रेम व्यापार जिनमें वात्सल्य, दांपत्य, आदि के भाव थे, प्रकट किए, पर वे सब भगवत्व की छाया में ही बढे। आज का पाठक चाहे कितनी ही मानवीयता उनमें देखे पर सूरदास जी ने भक्ति विह्वल होकर भगवल्लीला ही गाई। तुलसीदास जी की विनयपत्रिका और सूरदास जी के विनयपद राम और कृष्ण के भगवत्व के प्रति विनीत भक्त का आत्मनिवेदन हैं। भगवान् मानव से दूर बना रहता है। लीला संबंधी सूर के पदों में भी कृष्ण अंगूठा मुख में मेलते हैं तो प्रलय की आशंका से सिंधु उछलने लगता है, मंदराचल कंपने लगता है, कमठ भी अकुला जाता है। शेषनाग के सहस्र फण डोलने लगते हैं। वटवृक्ष बढ़ने लगा देवता व्याकुल हो गए, आकाश में भी उत्पात होने लगा। महाप्रलय के मेघ भी आकाश में उठकर जहाँ तहाँ उत्पात करने लगे।[1] तुलसीदास के काव्योंमें भगवत्व का प्राधान्य सूर से भी अधिक है। राम की प्रायः प्रत्येक बाल चेष्टा पर देवता लोग प्रसन्न

१—उछलत सिंधु, धराधर कांप्यौ, कमठ पीठ अकुलाय।
सेष सहस फन डोलन लाग्यौ, हरि पीवत जब पाय॥
बढ्यौ वृक्षवर, सुर अकुलाने, गगन भयौ उतपात।
महाप्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात॥—सूर।

होकर पुष्प बरसाते हैं। अणिमादि सिद्धियाँ उनको खिलाती हैं।[1] फलस्वरूप इन भक्तों की रचनाओं में भगवान की लीलाओं को मानव-व्यापार का स्वरूप नहीं मिल सका। उनका कारण था भक्ति परंपरा का शास्त्रीय रूप जिसका दोनों ने अनुसरण किया है। दोनों पर अपने अपने सम्प्रदायों का पूर्ण प्रभाव रहा। ये भगवान को मानव की भूमि पर लाने की धृष्टता नहीं कर सकते थे।

'रसखान जाति के मुसलमान थे। फारसी के स्वच्छंद सांसारिक प्रेम, जिसका एक छोर नाममात्र के लिए पर सत्ता से हिलगा दिया जाता है, इनसे परिचय था। इसलिए लैली के प्रेम को इन्होंने श्रेष्ठ बताया है[2]। सूफी प्रेम जिसकी अभिव्यक्ति लौकिक थी, अन्त में तात्पर्य अध्यात्म साधना का कर दिया जाता था—रसखान की दृष्टि में था। फलस्वरूप कृष्ण भक्ति का शास्त्र पक्ष इनकी स्वच्छंद प्रतिभा को सीमित न कर सका। इन्होंने उसके 'रागानुगा' रूप में स्वच्छन्द प्रेम के दर्शन किए। भक्त होकर भी प्रेमी बने, प्रेम भक्त। इस प्रेम का आदर्श जिस प्रकार लैली थी उसी प्रकार गोपिकायें थीं।[3] रसखान की दृष्टि में लैला का प्रेम और गोपिकाओं का प्रेम एक सा ही था। उसकी अनन्यता में कोई अन्तर नहीं माना। कृष्ण आराध्य न रहे, प्रिय बन गये।

कवित्त सवैयों में भगवत्व को सर्वथा भुला नहीं दिया है। जिसे शेष, महेश, गणेश, दिनेश और सुरेश निरंतर गाते हैं वही अहीर की छोकरियों के सामने छछिया भरि छाछ के लिए नाचता है। जिसे ब्रह्मा दिनरात स्मरण करते हैं, वे यशोदा के सामने चुम्बन के लिए खड़े ठिनक रहे हैं।[4] पर जिस तत्व का शेष महेश स्मरण करते हैं वह अध्यात्म ज्योति है, पुराणों का अधिदेव परमेश्वर नहीं जो सूर तुलसी का अभिमत है। इस पक्ष में रसखान कबीर से अधिक समता रखते हैं, सूर तुलसी से कम। उन्होंने कृष्ण की लीलाओं का जो वर्णन किया है, वह मानव व्यापार है। उनमें अलौ-

---

१—भूपति भाग बली सुरनर नाग सराहि सिहाहिं।
अनिमादि सारद सैल नंदिनि बाल लालहिं पालहीं।—गीतावली।

२—प्रेमबाटिका ३३।

३—यदपि जसोदा नंद अरु ग्वाल बाल सब धन्य।
पै या जग में प्रेम की गोपी भई अनन्य।

४—रसखानि, १३, ०१।

त्किता नहीं। परम ज्योति परमेश्वर अब कृष्ण बनकर जो आ गई उसकी अनुभूति और व्यापार मानवीय है। यद्यपि ऐसी ही प्रेम की चेष्टायें, व्यापार कृष्ण भक्ति के सब कवियों ने वर्णित किए हैं पर रसखान की सी भावना उनमें नहीं। मानवीयता की महक उनमें ऐसी नहीं है। भावों की सरल अभिव्यक्ति का एक यह भी कारण है कि यहाँ आराध्य भक्त की समतल भूमि पर उतर कर समानुभूति का आलंबन बन गया है। फलतः रसखान भगवान् कृष्ण को प्रेम की अनुभूति के लिए मानव की समतल भूमि पर उतार लाए हैं। यहाँ भक्ति का भेद जो भक्त और भगवान में बना रहता है, नहीं रहता।

कवि ने प्रेम की पूर्णता के लिए मानसिक अथवा शारीरिक एकता दोनों को आवश्यक माना है। यह भी स्वच्छंद प्रेम का ही आचरण है। प्रेमी और प्रिय में न तो मनसा और न कायेन भेद होना चाहिए। इनमें आरोह क्रम से पहले मानसिक एकता और बाद में शारीरिक एकता प्राप्त होती है। यद्यपि आपाततः यह विपरीत लगता है क्योंकि शरीर मन की अपेक्षा स्थूलतर है। पर सत्य यही है। मानसिक ऐक्य का अर्थ बौद्धिक अनुगामिता है। प्रिय जैसा करे प्रेमी वैसा ही विचारे। पर बुद्धि के साथ शरीर की समस्त वृत्तियाँ संकलित नहीं होतीं। बुद्धि द्वारा निर्णीत अथवा स्वीकृत तत्व स्थूल इन्द्रियों को अग्राह्य हो सकता है। 'मनस्यन्यत वचस्यन्यत, कर्मण्यन्यत् दुरात्मनाम्' की उक्ति इसी ओर संकेत करती है। दूसरे केवल बुद्धि द्वारा स्वीकृत प्रेय स्थिर भी नहीं रहता। चंचल बुद्धि स्वयं परिवर्तित होकर अपने निर्णयों को भी परिवर्तित कर लेती है। इसलिए निष्ठा तभी बनती है, जब शरीर और मन दोनों से प्रिय की एकता हो। इस एकता के लिए सामस्त्येन आत्मसमर्पण करना पड़ता है। शरीर की समस्त इन्द्रियाँ जब प्रिय की अनुगामिता करती हैं—अर्थात् आँखें प्रिय को ही देखें, कान प्रिय को ही सुनें, त्वचा प्रिय का ही स्पर्श करे आदि आदि तब प्रेम पूर्ण हो जाता है। यह स्थिति बौद्धिक अनुगामिता से बहुत बाद में प्राप्त होती है। रसखान पूर्ण प्रेम की परिभाषा करते समय इस उभय विध एकता के पक्षपाती हैं। अन्य भक्तों की तरह शारीरिक अभेद से उन्हें वासना की दुर्गन्ध नहीं आती। आत्मसमर्पण की पराकाष्ठा दिखाई देती है। वे प्रेम के मामले में भी गतानुगतिक होकर अथवा नहीं बनाते। 'दो मन एक होते तो सुना है पर वह प्रेम नहीं है। जब दो शरीर भी एक हो जाएँ तब

प्रेम कहलाता है।[1] इस तरह भक्ति को शास्त्रीय पद्धति से बौद्धिक शुद्धता न देकर उसे अनुभव बल से सामाजिक यथार्थता देकर स्वच्छंद प्रवृत्ति का परिचय दिया है।

अभिव्यक्ति पक्ष मे स्वच्छंद मार्गी कवियो की प्रवृत्ति स्वाभाविक भाव प्रवण भाषा की होती है। वे भाषा को अलंकारादि से सजाने के पक्षपाती नहीं होते। अपने भाव व्यक्त करना ही मुख्य ध्येय रहता है रसखान मे यह प्रवृत्ति पर्याप्त मात्रा मे देखी जाती है। सरल भाषा मे मार्मिक भावो को व्यक्त करने के कारण आपके कवित्त सवैयो का नाम ही रसखान (रस की खानि) पड़ गया है।

रसखान के समय मे भक्त कवियो मे गीत-रचना की ही प्रणाली थी। पर रसखान ने उसे नहीं अपनाया। प्रबंध परपरा का अनुसरण भी नहीं किया। यद्यपि सूर के बाद तुलसी ने प्रबंध रचना को अधिक ख्याति दी थी, सूरदास ने भी भागवत के सहारे सूरसागर म फुटकल गीतो की रचना कर कथा प्रबंध को अपना आश्रय बना लिया था। पर रसखान ने अपने भावो को अनुकूल छन्द सवैयो मे व्यक्त किया। भागवत की कथा परपरा के अनुसार कृष्ण की लीलाओं का वर्णन आपकी रचनाओ मे नहीं मिलता। स्वच्छद मार्गी कवि भावबहुल अन्तमुख होने के नाते मुक्तक पद्यो की रचना की ओर ही अधिक झुकता है। प्रबध मे हृदय तथा बुद्धि पक्ष का समता, जीवन की विभिन्न विषमताओ का सामजस्य अपेक्षित होता है। स्वच्छद प्रवृत्ति मे भावातिरेक सर्वप्रधान होता है। फलतः फुटकल रचना इधर अधिक उपयुक्त ठहरती है। छद भावानुकूल होते हैं क्योंकि भाव का अतिरेक अपने लिए अनुकूल छद आप निश्चय करा लेता है। सवैया मे एक पाद मे एकबार यति १६ वीं मात्रा के बाद आती है। अन्यथा छद का प्रवाह यथावत् बना रहता है। पाद मे भी प्राय. दीर्घ अक्षर से ह्रस्वोन्मुख प्रारभ होकर एक प्रकार की ढलान का निर्माण हो जाता है। स्वाभाविक ढग से भाव उडेलने वाले कवि के लिए यह छद अनुकूल ही होगा। इस प्रकार छदोविधान में भी भाव प्रधानता झलकती है बाह्य सज्जा नहीं जिसकी अनुभूति से सगति न हो। यह सब कवि के अन्तमुख होने की आर सकेत करता है जा कि स्वच्छद मार्ग का एक बड़ा व्यापक लक्षण है।

१—प्रेम वाटिका, ३८।

स्वच्छंद मार्ग का एक चिह्न भावों की वैयक्तिकता भी है। इस मार्ग का कवि अपने भाव आप ही उत्तम पुरुष द्वारा व्यक्त करता है। उनमें शास्त्रीय मर्यादा की रोक नहीं आने देता। सीधी अभिव्यक्ति होने देता है। रसखान में ऐसे पद्य अनेक मिलते हैं जिनमें कवि ने अपना प्रेमाभिलाष स्वयं व्यक्त किया है। श्री परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि रसखान ने जो अपनी 'प्रेम लक्षणा भक्ति का परिचय दिया है उसे अधिकतर व्यक्तिगत उद्गारों द्वारा ही प्रकट करने की चेष्टा की है।'[1] इनके काव्य में अधिक मात्रा ऐसे पद्यों की है जिनमें गोपियों के कृष्ण के प्रति अभिलाष, प्रेम कलह, माधुर्य मोहन, आदि की वर्णना हुई है। उनमें कवि ने अपना ही हृदय खोल कर रखा है। पारंपरिक भक्ति भाव नहीं है।

फारसी की काव्य पद्धति का अतिवाद और विषाद का आपने कहीं भी अनुसरण नहीं किया। उसी प्रकार सूफी संतों का कथा प्रबंधों द्वारा साम्प्रदायिक दर्शन आपकी रचनाओं में प्राप्त नहीं होता। मोहन-माधुर्य रसखान की अनुभूति का बीज है। इसीलिए प्रेम-वाटिका में कवि का विचार है कि जो लोग प्रेम को पावी, या तलवार समझते हैं उसी प्रकार नेजा भाला या तीर भी इसे बताते हैं, वह सब युक्ति-सह नहीं है। प्रेम की मार में मिठास ही मुख्य रहता है[2]।

इस प्रकार रसखान में अपने समय की काव्य प्रवृत्तियों तथा अनुभूति विधानों का परिचय तो दिखाई पड़ता है पर अनुसरण नहीं। उन्होंने अपना ही स्वानुकूल मार्ग बनाया। उस मार्ग में विशुद्ध अप्रतिहत प्रेम की अनुभूति का प्राचुर्य था और उसकी अनावृत्त अभिव्यक्ति थी जो स्वच्छन्द मार्ग की ओर संकेत करती है, शास्त्रीय परंपरा की ओर नहीं। इसका तात्पर्य यह तो कदापि नहीं कि रसखान ने जान-बूझकर शास्त्रीय मार्गों का खंडन किया है या वे काव्य के स्वच्छन्द मार्ग से यथाविधि परिचित थे। उनके जीवन का संयोग मुसलमान प्रेमी भक्त होने के नाते विविध पद्धतियों के संमिश्रण का कारण बन गया था। वैसा ही संमिश्रण कबीर में भी हुआ था। पर कबीर ज्ञानमार्गी होकर कठोर भी हो गए और खंडन परायण भी। हृदय की अनुभूतियों को अपने ढंग से व्यक्त करने की सरस प्रवृत्ति उनमें नहीं आई जो रसखान में आ गई।

1—परशुराम चतुर्वेदी हिंदी काव्यधारा में प्रेम प्रवाह पृ० ६६।
2—प्रेम वाटिका २६।

(ग) आलम का प्रेम का स्वरूप तथा स्वच्छंद काव्यधारा

पारिवारिक और उन्मुक्त दोनों प्रकार का प्रेम आलम के काव्यों मे मिलता ह। मुक्तकों मे कुछ पद्य तो रीति के ढर्रे के हैं जिनमें सपत्नी दाह, खडिता, अनुशयाना आदि के विषाद आदि का वर्णन हुआ ह। कुछ पद्यों मे प्रेमभाव का स्वतत्र और उन्मुक्त रूप से वर्णन है। ऐसे स्थलों पर कवि प्रायः भावात्मक ह। उसकी काव्य प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होकर विभाव, अनुभाव आदि के वर्णन से हट गई है, प्रेम भावना के मादक प्रभाव आदि का स्वच्छद वर्णन हुआ है। उनके प्रबधों की कथा बधन मुक्त प्रेम से सबधित है। यद्यपि इसमे प्रेम का अवसान प्रेमियो के विवाह के रूपमें होता है जिसे सामाजिक रूढि का अनुकरण कह सकते हैं, पर कवि ने विवाह से पूर्व की दशाओं का ही वर्णन अभिनिवेश से किया है। कथा के पात्र किसी सामाजिक बधन से बद्ध नहीं हैं, प्रेम बधन से ही बद्ध हैं। प्रेम के प्रतिपादन की शैली स्वच्छद अधिक ह, रूढिग्रस्त कम।

प्रेम की अनुभूति व्यक्तिगत है। अतएव वह मार्मिक और सत्य प्रतीत होती है। आलम का प्रेम अभिलाष प्रधान है। इसके कारण प्रिय को प्राप्त कर लेने पर भी तृप्त नही होती। प्रेमी अभिलापुक ही बना रहता है। फलस्वरूप उसका प्रत्येक क्षण अतर्द्वद्व से अभिभूत रहता है। प्रिय के देखते और न देखते रहने पर वह दुखी है। इस उभय विध मनोव्यथा का चित्रण बार बार कवि ने किया है। 'प्रिय के सामने रहने पर नेत्र टकटकी लगाकर उसे देखते हैं, इसलिए पलक नहीं मारते। वियोग मे फटे के फटे रह जाते हैं इसलिए निर्निमेष बने रहते हैं। सुखी तो प्रिय ही है जिसे दूसरों की कोइ चिंता नहीं।[1] गोपिकायें श्री कृष्ण से यही आत्मनिवेदन करती हैं कि—'हे कृष्ण हम दोनों प्रकार से थक गई। तुम्हारे न देखने से तो दुख होता ही है, देखने पर भी धैर्य नहीं रहता।[2]' अभिलाषा का ही यह प्रभाव

१—देखे टकलागै अनदेखे पलकौन लागे
देखे अनदेखे नैना निमिष रहत हैं।
सुखी तुम कान्ह हौ जु आन की न चिंता
हम देखे हू दुखित अनदेखे हू दुखित है॥
—आलमकेलि, छद १८५।

२—वही छद सख्या १८७।

है कि प्रिय की छोटी छोटी प्रेम चेष्टायें प्रेमी के अन्तरतम को मथित कर डालती हैं। वह विह्वल हो जाता है। क्या घर क्या बाहर मित्र को प्रेमिका देखती ही फिरती है। देखते देखते मन तृप्त नहीं होता। 'कृष्ण ने थोड़ा हँसते हुए फिर कर देखा तो उनका गमन रुक गया। आश्चर्य चकित सी एक ही स्थान पर खड़ी रह गई। हृदय में धसक सी लगी और पीड़ा उत्पन्न हो गई।'[1] ऐसी अनेकों व्यक्तिगत अनुभूतियाँ जो हिंदी के प्रेम साहित्य की परंपरा में नहीं मिलतीं आलम ने व्यक्त की हैं।

संयोग और वियोग जब दोनों ही विकलता के उत्पादक हैं तो प्रिय का स्वरूप कठोर ही रहेगा, आह्लादकारी कोमल नहीं। इस कठोरता का कारण प्रेम की एक पक्षीयता नहीं है जैसा कि फारसी के कवियों की शैली है, अपितु अभिलाषात्मिका है। प्रेमी ने प्रिय के प्रेमसिक्त कोमल उर को भी कठोर समझा है क्योंकि वह नए नए अभिलाषा को जगाता है अतएव पीड़ा देता है। 'कृष्ण निकट रहते हैं फिर भी निठुर हैं। इसलिए वे निश्चय 'निकट निठुर' हैं।'[2] ऐसी मनोदशा के प्रेमी के लिए प्रेम गले की फाँसी बन जाता है उसमें आनंदोल्लास का तनिक भी अवसर नहीं रहता।

भौतिक प्रेम और आधिदैविक प्रेम अर्थात् भक्ति में यह पार्थक्यात्मक भेद है कि भक्ति में विरह अपार वेदनायें देता है तो मिलन तृप्तिजन्य उल्लास की हिलोरें उठाता है। भगवत्प्राप्ति में आनंद की चरमानुभूति [illegible] इसी अंतर की ओर संकेत करती है। समस्त गोपी-गोप कृष्ण के साथ नाचते-गाते हैं और उनके मुखचंद्र के चकोर होकर तृप्ति लाभ करते हैं। पर लौकिक प्रेम का मूल वासना होती है जिसका दूसरा नाम अभिलाष है। अभिलाष प्राप्ति से और अधिक बढ़ता जाता है। इसी लिए उसका पर्यवसान दुःख में होता है। भक्ति [illegible] है, प्रेम [illegible]। इसी लिए पहला [illegible] है दूसरा [illegible]। आलम का प्रेम संयोग काल में हो या वियोग काल में, दुख दायी ही है। [illegible] के [illegible] में उसका उत्साह भी मंद हो गया है। वह [illegible] [illegible] लिये हुए [illegible] मनोवृत्ति प्रकाशित करता है। जान पड़ता है कि [illegible] [illegible] के लिए

१—वही १४०।

२—वही, १७०।

निर्वाह करती है। प्रेम का करुणार्द्र रूप वहाँ बहुत स्पष्ट होता है, जब कि रुक्मिणी की अभ्यर्थना से रुक्म की जीवन रक्षा होती है। द्वेष का प्रतीक रुक्म संहार के लिए उतारू था पर प्रेम की मूर्ति रुक्मिणी संरक्षण ही करती रही।

दोनों कथाओं में बाधाओं की उग्रता दिखाकर प्रेम की स्थिरता को भूयोभूय पुष्ट किया है। सुदामा चरित्र में सौहार्द का चित्रण है। सौहार्द का पद प्रेम से नीचा है, क्योंकि इसके इर्द गिर्द उपकार भावना रहती है। उपकार से ही इसका जन्म होता है, उपकार में ही पर्यवसान। पूर्वोपकार का स्मरण तथा कृतज्ञभाव, इसकी अनन्यता है। पर सत्य सौहार्द उपकार की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ व्यापक भाव लेता है। उपकार की अवधि केवल योगक्षेम संबधिनी बौद्धिक स्थिरता तक ही रहती है। हृदय की मार्मिक ममता का भाव उसमें हो भी और न भी हो। कृष्ण सुदामा का सौहार्द ऐसा ही जीवनावधि स्थायी, हृदय के अंतरतम में लब्धमूल, गद्गदकारी आह्लाद का जन्मदाता प्रेम है। आलम इसके यथार्थ रूप का चित्रण नहीं कर सके। इनकी दृष्टि वस्तुगामिनी होने से घटनाओं का इतिवृत्तात्मक वर्णन करती रही हैं। उसका भावात्मक रूप इनकी अनुभूति में वैसा नहीं आया जैसा नरोत्तमदास की अनुभूति में। फिर भी कथा को काव्य विषय बनाकर प्रेम की विविधता से अपना परिचय प्रकट किया है। सुदामा की दीनता और द्वारिका का आश्चर्यजनक वैभव वर्णन कर सौहार्द की भेदातिगामिता भी व्यंजित की है।

इस प्रकार प्रबंधों में लोकोपकारी तथा मुक्तकों में अनुभूतिमय दोनों प्रकार के प्रेम के कवि आलम प्रेमभाव की व्यापक पूर्णता के साथ हमारे समक्ष उपस्थित होते हैं।

प्रेम के जीवनोपकारी रूप के चित्रण के साथ घटनाओं का अविनाभाव संबंध है। घटनाओं के लिए विस्तृत भूमि, प्रबंधों में ही सुलभ हो सकती है। इस लिए प्रेम का यह रूप वहीं संभव है, मुक्तकों में नहीं। मुक्तकों में भावों की गंभीरता अपेक्षित होती है जो समाहार के बल पर सिद्ध होती है। कवि की प्रवृत्ति भी अंतर्मुखी होने से अधिक से-अधिक भावात्मक हो जाती है। ऐसी दशा में वहाँ अनुभूतिमय प्रेम का ही चित्रण हो सकता है,जीवनोपकारी का नहीं। आलम ने इसी मार्ग का आश्रयण कर अपना 'रस सिद्ध' स्वरूप प्रमाणित कर दिया है।

(ह) बोधा कवि की स्वच्छंद काव्य प्रवृत्ति

'माधवानल कामकंदला की कथा को अपना काव्य विषय बनाकर बोधा ने अपने स्वच्छंद मार्गी होने का प्रमाण दिया है। भौतिक और बंधनहीन प्रेम जैसा उनके जीवन में था उसी प्रकार की कथा को उन्होंने अपनाया। कला निष्णात ब्राह्मणकुमार का नर्तकी के साथ स्थायी प्रेम होना सामाजिक स्वच्छंदता का प्रतीक है। ऐसा ही प्रयोग कवि ने अपने जीवन में स्वयं किया था। नायक नायिका तथा उपनायिका के शापग्रस्त होने का उल्लेख करने से कथा की स्वच्छंदता को मर्यादित दिखाना अवश्य हो जाता है पर बोधा की यह निजी कल्पना नहीं प्रतीत होती। उन्होंने जैसी कथा सुनी थी वैसी ही कह दी है। उस अवसर कवि का विशेष अभिनिवेश भी नहीं दिखाई देता। इस कथा पर काव्य रचना करने की प्रेरणा कवि को कैसे मिली इसका उल्लेख उन्होंने प्रारंभ में किया है। सुभान ने सच्चे प्रेम का लक्षण और परिणाम पूछा था। उसके उदाहरण स्वरूप यह कथा कही गई है। मध्य-मध्य में दोनों के संवाद भी चलते रहते हैं।[1]

कवि—सुन सुभान यारां दिल दायक।
अब यह कथा न कथिबे लायक॥

सुभान—अहो मीत ऐसी जनि भाखौ।
कथि कै कथा न आधी राखौ॥

—विरहवारीश।

अतः स्पष्ट है कि कवि के स्वच्छंद प्रेम ने इस कथा की प्रेरणा दी थी। उनके जीवन में जो वस्तु रम गई थी वह काव्य द्वारा प्रकट हुई है।

विषय निर्वाचन ही नहीं काव्य सामग्री भी बोधा को रीति मुक्त स्वच्छन्द मार्गी होने का संकेत देती है। रीति मार्ग के कवियों की रचनाओं में जिस प्रकार अलंकार, नायक नायिका भेद आदि पर दृष्टि रहती है वह बोधा की रचनाओं में नहीं। उन्होंने मुक्तक पदों में प्रायः प्रेम की पीड़ा, विरह, स्वच्छन्दता आदि का प्रतिपादन तथा प्रबंध काव्य में

निरलंकार शैली से 'वस्तु' प्रतिपादन किया है। अप्रस्तुत अग भी रीति परिपाटी में जैसा चला आ रहा था वैसा नहीं है। वैसे शैली निरलकार होने से अप्रस्तुताश की मात्रा कम ही है। इश्कनामा के चतुर्थ अध्याय मे अन्योक्तियाँ लिखी हैं। उनमे प्राय. भारा और मध्यकालीन अनेक पुष्प जैसे, मालती, चमेली, सोनजुही, चपा आदि अप्रस्तुत रूप मे आए हैं। रीतिकाल के कवियो ने सस्कृत परपरा के उपमान अधिक लिए थे। बोधा इस दृष्टि से भी रीति की रेखा से हटते ही दिखाई देते हैं।

बोधा मनोवेगो के कवि हैं, परिष्कृत भावो के नहीं। रीतिबद्ध भाव साहित्यिक और सामाजिक अकुश से दबे हुए रहते हैं। यद्यपि कुछ रीतिबद्ध लोगो ने सुरतात, विपरीत रति आदि का वर्णन कर तथा अनूटा का प्रेम प्रसग दिखाकर समाज मर्यादा का भग किया है पर वह सब नायिका भेद की आड़ मे हुआ है और अश्लील दोष वहाँ भी नहीं आने दिया। हृदय के असयत भाव साहित्य परपरा द्वारा संयत कर दिए गए हैं। बोधा ने 'विरहवारीश' मे पात्रो के सयोग वियोग मे अनवरुद्ध मनोवेगो को चित्रित किया है। कुछ वर्णन तो साधारण लोक रुचि के उद्वेजक हो जाते हैं। पर इसका मूल कारण यही है कि कवि अपने हृदय पर नियन्त्रण नहीं करना चाहता। प्रारभिक रचनाओं में अवश्य रीति की लटक और फारसी का अनुकरण दिखाई देता है पर बाद मे वह नहीं रहा। "विरहवारीश" में पद्मिनी, हस्तिनी आदि नायिका भेद तथा नायक भेद के पद्य मिलते हैं पर वे काव्यकला के शैशव के हैं। "इश्कनामा" के फुटकल पद्यों की भाषा भी परिष्कृत और चुस्त हो गई है। फारसी का रग कम दिखाई देता है। इस अनियन्त्रित भाव राशि में बोधा की स्वच्छन्द प्रकृति का आभास अवश्य मिलता है। इससे उन्हें अधम कवि मान लेना अन्याय होगा। फारसी प्रभाव अवश्य इसमें कारण है। अतः यह ठीक है कि बोधा मे कुछ बाजारू रग-ढग कहीं-कहीं मिलता है। यह उन पर फारसी की रचना का आरभिक प्रभाव है। 'रीतिबद्ध लक्ष्यकारों मे स्थिति रस निधि की है, भक्तो में जो रूप कुदनशाह का है, वैसा ही स्वच्छन्द कवियो में बोधा का समझना चाहिए। .....कुशल हुई कि बोधा ने अपनी सारी रचना इसी प्रकार की नहीं रक्खी[1]'।

१—श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र घनानद ग्रथावली—भूमिका, पृ० ४८।

इस संबध मे तीसरी विशेषता बोधा के व्यक्तिगत भावों की है। उन्होंने जिस प्रकार सोचा है, सीधा उसी प्रकार कह दिया है। उसे कृत्रिम नहीं बनाया। अपनी समस्त रचना में सुभान का किसी न किसी प्रकार से प्रसग रखा है। अपने हृदय को, अपने व्यक्तित्व को इस प्रकार स्पष्ट रूप से प्रकट करना विना स्वच्छन्द भावना के नहीं हो सकता। रीति मार्ग में तो 'शोभनता' 'सहृजता' को आवृत कर लेती है। बोधा स्पष्ट कहते हैं।

'एक सुभान के आनन पै कुरबान जहा लगि रूप जहा को।

× × ×

जान मिलै तौ जहान मिलै नहिं जान मिलै तौ जहॉन कहॉ को॥

तथा,

'बोधा सुभान हितू सों कही या दिलेवर की को सही करिजानत।
वा मृगनैनी की चाह चितौनि चुभी चितमै चितसों पहिचानत॥
तासों वियोग वई ने दयौ तौ कहौ अब कैसे मै धीरज आनत।
जानत हैं सब ही समझाइ ये भावती के गुन को नहिं जानत॥'

अपने व्यक्तित्व का निश्छल प्रकाशन कर बोधा, घनानंद जैसे स्वच्छन्द मार्गी कवियो ने हिन्दी काव्य भागीरथी में ऐसी सरस्वती का सगम किया जो इनसे पूर्व कभी हुआ ही न था। यह गुण तो हिन्दी साहित्य या भारतीय साहित्य के लिए महत्वपूर्ण वस्तु है। विल्हण की 'चौरपञ्चाशिका' के बाद रीतिकाल में कवि का 'आत्म प्रकाशन' कहीं भी सुनने को नहीं मिलता। बोधा ने अपनी कला में इसका प्रयोग किया है। यह गुण बोधा मे घनानद से भी अधिक है। उसका कारण भी स्पष्ट है। यह बात फारसी से आई है। फारसी के गुणों को ठाकुर और घनानद तो इतना पचा गए कि वह हिन्दी के अंग मे एकमेक हो गई। पर बोधा उतना पचा नहीं सके। इसलिए 'आत्माभिव्यक्ति' की प्रवृत्ति इनमें सबसे अधिक रही है। इसीलिए भावचिन्तन में मस्ती भी झलकती है। शराब की जगह पर अपनी ि से भाग पीने का उपक्रम किया गया है।

भाषा की स्वाभाविकता स्वच्छन्दमार्गी सभी कवियों की अपेक्षा अधिक विद्यमान है। ठाकुर ने लोकोक्तियों द्वारा घनानद ने ल वल से तथा आलम ने अलकारों के प्रयोग से चमत्कार का है। केवल बोधा ही ऐसे हैं जो भाषा के स्वाभाविक रूप को

उर्दू फारसी की शब्दावली अवश्य कहीं कहीं प्रयुक्त हुई है पर उससे अभि-व्यक्ति की कृत्रिमता का कोई सबंध नहीं। वह सरल-सहज ही है।

'मनमोहन एसो मिलावत हैं जो फंदैतो कुरग फदैती करै।
तब लौं छल जानी न जात कछू जबलौं अधर्मी वह मारि धरै॥
कवि बोधा छुटे सब स्वाद सबै बिन काजहू नाहक जीव जरै।
विषखाइ मरै कि गिरे गिरि ते दगादार ते यारी कभी न करै॥'[1]

कवि ठाकुर की काव्य शैली और मार्ग

ठाकुर ने अपने काव्यादर्श पर निम्नलिखित घनाक्षरी लिखी है।

'सीख लीनो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीनौ यश औ प्रताप को कहानौ है।
सीख लीनो कल्पवृक्ष कामधेनु चिन्तामणि,
सीख लीनो मेरु औ कुबेर गिरि आनौ है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याकौ नहिं भूलि कहूँ बाधियत बानौ है।
डेल सौ बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानौ है॥

पद्य का तात्पर्य यही है कि बधी बधाई परम्परा की कुछ बातें, जिनमे कवि की व्यक्तिगत अनुभूति न हो, कविता नहीं कही जा सकती। ऐसी कविता स्वाभाविक नहीं होती अतएव जीवन के साथ उसका मेल नहीं होता। रीतिकाल की कविता का रूप प्रायः ऐसा ही हो गया था। कवि-शिक्षा द्वारा अकवि कवि बनते। अस्वाभाविकताओं का वर्णन करने में न तो कवियों को कुछ अनहोना लगता था न रसिकों को वैरस्य अनुभव होता था। ठाकुर की शैली की प्रथम विशेपता यह है कि उन्होंने उपर्युक्त भूल को अपनी रचनाओं में नहीं दुहराया। इनके काव्यों में प्रेम तथा अन्य भावों की वह साधारण अनुभूति है जो व्यक्तिगत होकर भी सार्वजनीन है, जिसका हृदय हृदय में

१—इस्कनामा, २,३५।
१—वही, ४४।
२—वही, ६।

स्पन्दन होता है, और जो कवि परंपरा की कृत्रिमताओं से उन्मुक्त है। स्वाभाविक है कि वह कवि की आप बीती सी लगती है।

'वा निरमोहिनि रूप की रासि जोऊ उर हेत न ठानति ह्वै है।
बार हूँ बार बिलोकि घरी घरी सूरत तो पहचानति ह्वै है॥
ठाकुर या मनकी परतीति है जो पै सनेह न मानति ह्वै है।
आवत है नित मेरे लिए इतनो तो विशेष के जानति ह्वै है॥'[1]

जिस प्रकार अनुभूति का सीधा साधा सरल स्वरूप है उसी प्रकार अकृत्रिम उसकी अभिव्यक्ति है। इसीलिए सरलता और क्षिप्रसंवेद्यता इनके पद्यों का सर्वोत्कृष्ट गुण है। सूखे ईंधन में जिस प्रकार अग्नि शीघ्र प्रविष्ट हो जाती है उसी प्रकार कवि के भाव श्रोता को शीघ्र प्रभावित करते हैं। शब्दों की बाह्य सज्जा या अर्थ संबंधी चमत्कारजनक वक्रता लाने की ओर कवि का ध्यान नहीं गया। 'जैसे भावों को जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी भाषा में उतार देता है। बोल चाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों रख देना कवि का लक्ष्य रहा है'।[2] निष्कर्ष यही है कि इनकी सहज निश्छल अनुभूति और अकृत्रिम अभिव्यक्ति इन्हें रीतिमार्ग से पृथक कर देती है।

वैसे ठाकुर के काव्य का बाह्य रूप तथा परिधि वही है जो रीतिमार्गी अन्य कवियों की, पर प्रयोग का प्रकार भिन्न है। प्रेमशृंगार, भक्ति और नीति रीतिकाल में सर्वप्रिय विषय रहे हैं। कुछ लोगों ने नाराशंसी पद्य भी लिखे हैं। इनमें से पहले तीन को ठाकुर ने भी लिया है। अंतिम को नहीं स्वीकारा। राज दर्बार में जीवन बिताते हुए भी बढा चढा कर जो आश्रयदाताओं की प्रशंसा नहीं लिखी इससे कवि का स्वाभिमानी व्यक्तित्व झलकता है। अस्तु पहले तीन विषय, प्रेम-शृंगार, भक्ति और नीति को परखा जाय। प्रेम-शृंगार सार्वजनिक अनुभूति है। इसके चित्रण में कवि के व्यक्तिगत अनुभवों की सबसे अधिक आशा की जाती है। पर रीति परंपरा में अनुभूति का यह व्यापक क्षेत्र नायिका भेद, विभाव, अनुभाव, संचारी भाव आदि की शास्त्रीय इयत्ता से घिर गया था। उसमें स्वाभाविकता नहीं थी। भक्ति की रचनाओं में ये अवगुण आ गए थे। शृंगार और

१—ठाकुर ठसक, ४५।

२—रामचन्द्र शुक्ल हिंदी साहित्य का इतिहास, पृ० ३८३।

उसका कोई व्यवहार निश्चित नहीं। जैसे और ठाकुर सदा के दोरगी हैं ऐसे ही वह भी। वे नीच का तो साथ देते हैं, अपनी जाति पाति का नहीं। 'छिपिया का दूध, करमा की खिचड़ी, चमार रैदास के चका, बिदुर की बथुआ की रोटी और शाक तथा बिदुरानी के छिलका उन्होंने खाए (और अपनी जाति के सुव्यजन त्याग दिये)। औरो की क्या अपने प्रति भी उनका अटपटा ही व्यवहार है। 'अपने देश ब्रज मे करील बोये और काबुल मे मेवा, राधिका सी सुन्दरी छोड कर कुब्जा से स्नेह किया, दुर्योधन की मेवा छोड़ कर बिदुराइन के छिलके खाये[१]।' यह सब ईश्वर की अतर्क्य विलक्षणता है उसका प्राणीमात्र अनुभव करता है। भक्ति परपरा के प्रति विमुखता भी नहीं है—

> 'कज हू तें कोरो जिन्हे बदत महेश अज,
> लागैं सबै पैया या गुबिद गमुवारे की[२] ॥'

इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र में ठाकुर ने अन्य रीतिकाल के कवियो की तरह न तो मानवीय शृगार लीलाओं को राधाकृष्ण पर लादा है और न राम या कृष्ण के रूप वर्णन मे विभाव अनुभाव आदि का चित्रण किया है। सीधे सरल ढग से उसकी विलक्षण महिमा का अनुभव किया है जो सर्व साधारण की अनुभूति है।

तीसरा विषय आता है नीति। इसमें ठाकुर को अत्यधिक सफलता मिली है। नीति के उपदेशों के लिए दो बातों की आवश्यकता होती है। एक तो उसका सत्य साधारण स्वभाव का हो, सार्वजनीन। दूसरे वह सरल ढग से कहा जाय। वृद, घाघ, गिरिधर आदि ने इसी मार्ग को अपनाया है। जिन तथ्यों को उन्होंने प्रतिपादित किया है वह ग्रामीण, नागरिक, शिक्षित सभी को विदित है। भाषा भी उनकी सरल स्वभाविक है। ठाकुर ने सर्वत्र गिरधर आदि की तरह दैनिक व्यवहार की बातों को तो नहीं लिया, प्रेम के सबध में ही नीति की बातें कही हैं। पर शैली सरल स्वाभाविक है अतएव उसकी ग्राह्यता बहुत है। काव्य चमत्कार की ओर पहले तो आकर्षण नहीं के बराबर है। हे भी तो वह प्रतिपाद्य सत्य का ही चमत्कार दिया है।

१—वही, ७–८।
२—वही, ३।

हिलमिल लीजिए प्रवीन सों आठो जाम,
कीजै वह काम जासो जिय को अराम है।
दीजिये दरस जाको देखिबे की साध होइ,
कीजिये न नीच साथ नाम बदनाम है॥
ठाकुर कहत कछु चित में विचारि देखो,
गरब गरूर को रखैया एक राम है।
रूप सो रतन पाइ जोबन सो धन पाइ,
नाहक गबाइबो गवारन को काम है॥[1]

नीतिकारो की अपेक्षा सरसता ठाकुर में अधिक है। उसका कारण यह है कि इन्होंने प्रेम के सबध मे नीति के पद्य लिखे हैं। दूसरा लाभ ठाकुर को अपने शैलीगत गुण आभाणक तथा लाक्षणिक प्रयोगो से हुआ है। साधारण जन समाज में लोकोक्तियाँ बात चीत में व्यवहृत होती हैं। वक्ता की उक्ति मे ये प्रमाण का कार्य करती हैं। ठाकुर की शैली का ये अग हैं। इनका उपयोग उपदेशात्मक पद्यों में होने से सोने मे सुगन्धि आ गई है। इस प्रकार प्रेम शृगार, भक्ति और नीति के क्षेत्र में ठाकुर की पृथक् पद्धति है। उससे ये अपने समय के ढर्रे से पृथक् हो जाते हैं।

नीतिकारों की काव्य शैली पर और भी विचार अपेक्षित है। ठाकुर का व्यक्तित्व नीतिकार और सूक्तिकार का समिश्रित रूप है। इसीलिए भाषा की सरलता, अनुभूति की साधारणता, लोकोक्ति तथा मुहावरो के साथ वस्तु निवेदन आदि गुण काव्य शैली मे आ गए हैं। प्रेम मे भी एक रूपता और स्थिरता का जो बार बार वर्णन किया है वह भी इसी प्रवृत्ति का फल है। इससे साधारणता तो आ गई है पर भावों की गहराई नहीं रही। इस विषय मे कविवर पद्माकर की आलोचना कि 'ठाकुर जी की कविता तो अच्छी होती है परन्तु पद कुछ हल्के से जचते हैं' प्रसिद्ध है। मुहावरे रूढ लाक्षणिक प्रयोग हैं। लोकोक्तियो में किसी परिस्थिति विशेष का निर्देश रहता है। वह अपने साम्य के बल पर वर्ण्य परिस्थिति का अंग बन जाती है। मुहावरा जैसे:—

'या जग मे अब जीबो कहा जब आगुरी लोग उठावन लागे' लोकोक्ति जैसे—

१—ठाकुर ठसक, २२।

मूढ़ सुनै कब राम कथा, कब दै धन पूजत विप्र विरागी।
सूमन को घन मूसत चोर कि लूटत भूप कि लागत आगी॥
ठाकुर धर्म के हेत सो तो दुख पुष कथै हरि के हित लागी।
आनन ऊंच उठाय ज्यों रोवत सख सुनै शठ स्वान अभागो॥[१]

'उगली उठाना' दोप दिखाने के अर्थ मे रूढ हो गया है। शख बजते समय ऊपर को मुह उठाकर रोना एक कहावत बन गई है। यह घटना ऊपर के वर्ण्य का उपमान बनकर प्रयुक्त हुई है। 'दूध की माखी उजागर वीर सुहाई में आखिन देखत खाई'[२] में गोपी का अपना कर्म दूध की मॉखी को जान कर खा जाने के समान है यह अर्थ सम्पन्न होता है। इस तरह लोकोक्ति और मुहावरे साधारण लक्षणाओं से भिन्न हैं। पहले प्रसिद्ध हैं दूसरे अप्रसिद्ध। पहले प्रचलित होते हैं, दूसरे कवि के स्वोपज्ञ, जिनका जन्म कवि की भाव-ऊष्मा से ही होता है। अलकार की सज्ञा मे आपाद-मस्तक मग्न काव्य प्रतिभा के लिए लोकोक्तियों के चमत्कार का नया मार्ग ठाकुर ने निकाला है। लोकोक्तियाँ बात-बात पर बोलने का स्वभाव स्त्रियो का अधिक होता है। ठाकुर ने प्रायः ऐसे ही स्थलों पर इनका प्रयोग कर मानव प्रकृति का अपना परिचय व्यक्त किया है। समझाने पर भी बात न मानने वाली पर खीझ कर सखी या दूती कहती है।

बुरो मानतो जो सिख देती भटू दुख पावती जो समुझाइबे मैं।
कहीं जायगी देखि कुरीति कछू समुझोगी न बात बुझाइबे मैं॥
कहा पाओगी हाथ पराये बिके कहै ठाकुर लोग हँसाइबे मैं।
हमें को गनै कामों परोजन है बुनिबे में न बीन बजाइबे मैं॥[३]

इसी तरह मानिनी को समझा कर हारी हुई का क्रोध कैसी फटकार के साथ व्यक्त हुआ है :—

ह्वै है नहीं मुरगा जिहि गॉव भटू तिहि गॉव का भोर ना ह्वै है।[४]

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि लोकोक्तियों के प्रयोग द्वारा ठाकुर ने काव्य विच्छित्ति के लिए नई दिशा ही नहीं खोली अभिव्यक्ति को सजीवता और स्वाभाविकता भी प्रदान की। कहीं कहीं आलकारिकों की तरह ठाकुर

१—ठाकुर ठसक, १४६, १६१।
२—वही, १६०।
३—ठाकुर ठसक, १६२।
४—वही १६७।

भी आग्रही हो गए हैं। भाव की उपेक्षा कर लोकोक्ति को पद्य मे भरना कवि का लक्ष्य बन गया है।

'जु कियौ बदनाम सबै ब्रज में अब आँखें लगाय दिखात न आँखिन।'[1]

पर ऐसे पद्य दो चार ही मिलेंगे।

भाषा मे शब्द चयन और वाक्य रचना दोनों ही सरल और प्रचलित हैं। न अधिक सस्कृत की शब्दावली है न उर्दू की। साधारण व्यवहार के तद्भव शब्दों का प्रयोग हुआ है। बदनाम, मरजी, दगा, पखान, हवाले, हकनाहक, जमा, सलूक, कमनैत, तबीब, जवाहिर, कदीम, दरबान, नेजा, मनसूबा, वजन, तजवीज, आसमान, मेजबानी, गरजी, अलाहदी, गाफिली, सहूर, हरामजादे, अजब, बहान, जबर आदि उर्दू के शब्दों का प्रयोग किया है। सस्कृत के तत्सम अत्यल्प हैं। तद्भव भी प्रसिद्ध हैं। कवि ने अपनी ओर से संस्कृत तत्समो को तद्भव नहीं बनाया। व्यवहार के शब्द ग्रहण किए हैं। पर वाक्य रचना सजीव और प्ररोचना पूर्ण है। यह गुण रूढ लक्षणाओं से आया है।

'एक ही सों चित चाहिए और लों बीच दगा को परे नहिं डाँको।
मानिक सो मन बेचि कैं मोहन फेर कहा परखाइबो ताको॥
ठाकुर काम न या सबको अब लाखन मै परवान है जाको।
प्रीति करे में लगै है कहा करिकै इक ओर निवाहिबो बाँको॥[2]

इसमें 'और लौं' 'डंक पड़ना' 'लाखन मे' 'ओर निबाहना' आदि प्रयोग मुहावरेदार हैं। कवि ने अपनी ओर से वाक्य रचना नहीं की। इस प्रकार के ही वाक्य लोग बोलते भी हैं। जिस तरह परिचित दृश्यावली से भावों का उद्भावन शीघ्र होता है उसी प्रकार परिचित भाषा से भी। भाव और भाषा दोनो ही परिचित होगे तो काव्य स्वभावत. विशेष आकर्षक होगा। ठाकुर ने यही किया है। लोकोक्तियों और मुहावरो का प्रयोग भी इसी दिशा की ओर प्रगति है।

ठाकुर की कला का वातावरण अन्य रीति मार्गी कवियो की भाँति नागरिक उच्च वर्ग का (एरिस्टोक्रैटिक) नहीं है। इसका यह भी तात्पर्य नहीं कि प्रकृति के सर्वथा मुक्त वातावरण का सृजन कवि कर सका है। पर वह किसी

१-वही ८४।
२—वही, ४४।

वर्ग विशेष का नहीं है। ग्रामीणता की ही झलक अपेक्षाकृत अधिक है। किसी ग्राम युवती के निश्छल भाव कितने स्पष्ट हैं:—

'ऐसे भयौं कहा कारज होत है जो मग माँझ कयौं दरसाने।
ये दिन ऐसे ही बीतत हैं हमहूँ तरसीं तुम हूँ तरसाने॥
ठाकुर और विचार कछू नहिं ये अभिलाख हिये सरसाने।
कै हमहीं बसियै नद गाँव कि आपही आय बसौ बरसाने॥'[1]

त्यौहारों का वर्णन भी ठाकुर की अपनी विशेषता है। त्योहार हमारे जीवन मे परम्परया आकर भी अभिनव उल्लास भरते हैं। आबालवृद्ध सभी के हृदयों में भावुकता का उदय हो जाता है। ऐसा अवसर, उस समय के भाव आदि काव्य के लिए अत्यन्त उपयुक्त वर्ण्य हैं। सस्कृत के प्रबध कवियों ने भी कौमुदी महोत्सव, मदन महोत्सव आदि का वर्णन बड़ी तन्मयता से किया है। ठाकुर ने भी होली, अखती, हिंडोरा, सलूना, दशहरा आदि का वर्णन कर लोकरुचि का परिचय दिखाया है। ये वर्णन प्रायः स्वतन्त्र हैं। रीति परपरा का नायक नायिका व्यवहार इनकी स्वाभाविकता नहीं ग्रसता।

'जानि झुकामुकी भेख छिपाय कै गागरि लै घर से निकरीती।
जानों नहीं मैं कबै केहि ओर ते आय जुरे जहाँ होरी धरी ती॥
ठाकुर दौरि परे मोहि देखत भागी बची जू कछू सुघरीती।
बीर जो द्वार न देहुँ केवार तो मैं होरिहारन हाथ परी ती॥

इस तरह ठाकुर ने सरल स्वाभाविक भाव शैली और भाषा शैली से, मुहावरे और लोकोक्तियों के प्रयोग से, परमेश्वर विषयक भावना से नीतिपरक चिंतन प्रवृत्ति से और त्यौहारों के सरस स्वतन्त्र वर्णन से लोक रुचि का अपनी कला द्वारा स्पर्श किया है।

हिंदी साहित्य के विकास में लोक रुचि का विशेष उल्लेखनीय स्थान है। आदिकाल के सिद्धो और नाथपथियों का साहित्य धार्मिक होते हुए भी लोक काव्य है। उसके अप्रस्तुत, वातावरण आदि साधारण जनता के हैं। कबीर ने उसी मार्ग पर स्वतत्रतापूर्वक चल कर साहित्यिक परपरा को चुनौती दी है। जायसी ने लोक भाषा, लोकवार्ता

१—वही, १०१।
१—आलोचना अक ६, सपादकीय, पृ० ५।

को अपनाया है। तुलसी और सूर ने संस्कृत के स्थान पर हिंदी को लोक रुचि के लिए बिठाया था। मध्ययुग से पहले या मध्ययुग में भी, संस्कृत भाषा ही साहित्य रचना का माध्यम थी, परन्तु संत कवियों ने इस शास्त्रीय परंपरा को त्याग कर जनभाषाओं का आश्रय लिया और लोक कला और लोक साहित्य की परंपराओं से प्रेरित ऐसे रूप विधानों की सृष्टि की जिसमें जनता के जीवन और उसकी समस्याओं का पूरा चित्र उद्घाटित हो जाय। कबीर और सूर के पदों, और जायसी तथा तुलसी के महाकाव्यों में उस समय के जन जीवन का पूरा चित्र मिलता है। चूंकि उनकी कला का आधार लोक साहित्य और लोक वार्ता की परंपरायें हैं, इसीलिए वे न केवल सामान्य पाठकों के लिए प्रेषणीय हो सकीं और जातीय भावना जगाने में समर्थ हुईं बल्कि इस कारण ही वे सार्वदेशिक महत्व भी पा सकीं।

पर रीतिकाल में परिस्थिति बदल गई। उत्तर मध्यकाल के कवि रीति ग्रंथों के निर्माण में लोक पक्ष से दूर हटते गए। बिहारी, देव और मतिराम आदि शृंगारिक कवियों ने जहाँ नायिका का नखशिख संवारा वहाँ व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर इतना जोर दिया कि उनकी दृष्टि में गवई गाहक[1] एक दम बुद्धू बनकर रह गए। ... इस युग का दरबारी कवि जनता से इतना दूर जा पड़ा कि उसके लिए यह सोचना भी कठिन हो गया कि साहित्य का आदि स्रोत जनता का निरंतर संघर्षमय जीवन है।[2] ठाकुर इस नियम के अपवाद प्रतीत होते हैं। उन्होंने यद्यपि विषय वे ही लिए हैं जो रीतिमार्गियों ने पर प्रतिपादन का प्रकार भिन्न है। कविता का प्राण लोकरुचि की ओर विशेष उन्मुख है। इससे वे रीति मार्ग से पृथक् हैं।

उन्होंने अपनी मनमौज से कविता की है। किसी शास्त्रीय परंपरा का अनुसरण उसमें आभासित नहीं होता है। जिसमें न तो केवल परंपराओं का पालनमात्र ही किया जाय, ऐसी कविता की ठाकुर ने निंदा की है:—

सीख लीन्हों मीनमृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश औ प्रताप को कहानो है।

१—कर लै सूंघि सराहि के सबै रहे गहि मौन।
गंधी गंध गुलाब को गंवई गाहक कौन॥—बिहारी।

२—आलोचना-अंक ६ डा० देवेन्द्र सत्यार्थी - हिंदी साहित्य पर लोक साहित्य का प्रभाव, पृ० ५३ ५४।

सीख लीन्हों कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामणि,
सीख लीन्हों मेर औ कुबेर गिरि आनो है।
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूँ बाधियत बानो है।
ढेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित कीबो खेल करि जानो है॥[1]

ठाकुर भावों के क्षेत्र में स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। अतः कविता शैली में भी शास्त्र या परंपरा की परतन्त्रता को उन्होंने नहीं स्वीकारा। स्वच्छन्द होकर काव्य रचना की है।

ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखो,
प्रेम निरसंक रस रंग विहरन देव।
विधि के बनाये जीव जैते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव॥[2]

———

१—ठाकुर ठसक, १२।
२—ठाकुर ठसक, २४।

छठाँ परिच्छेद

(रस, भाव तथा अंतर्दशाएँ)

रस और भाव

घनानद का वर्ण्य रस एक शृंगार ही है। वही भगवदाश्रित होकर भक्ति में परिणत हो गया है। भारतीय साहित्य में शृंगार को ही एक मात्र रस मानने तथा उसी को काव्य रचना का विषय बनाने की प्राचीन परंपरा है। अतः हम उस परपरा का ऐतिह्य देते हुए सयोग वियोग दो विभागो मे कवि के शृंगार रस का विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे।

क—शृंगार रस की परपरा

साहित्य मे रस परपरा का अन्वेषण किया जाय तो पता चलता है कि पहले काव्य मे एक ही रस माना जाता था और वह शृंगार था। आठ या नौ रस मानने की परपरा नाटको से प्रारंभ हुई। उसी के अनुकरण पर प्रबन्ध तथा मुक्तक काव्यो में नौ रस माने जाने लगे। कुछ लोग फिर भी प्रधानता शृंगार की ही मानते चले आए। संस्कृत साहित्य के अवसान काल मे यही स्थिति थी। हिंदी के रीति काल में भी ऐसी ही अवस्था हो गई।

प्रारम्भ मे 'रस' का अर्थ शृंगार रस ही माना जाता था और रस के प्रवर्तक आचार्य काम शास्त्र के भी आचार्य माने जाते थे। उदाहरण के लिए राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमासा' मे विद्या के अठारह अग माने हैं। उनमे से रसाधिकारिक १५ वॉ है। इसके आचार्य नंदिकेश्वर हैं। नदिकेश्वर के विषय मे काम सूत्र मे लिखा है कि प्रजापति ने सृष्टि की स्थिति के लिए धर्म, अर्थ, और काम की साधना के निमित्त एक लाख अध्यायो का एक ग्रंथ बनाया। इसके एक एक वर्ग को पृथक कर मनु, बृहस्पति और नदिकेश्वर को दे दिया। जिन्होंने उसका उपयोगी संपादन किया। नदिकेश्वर ने काम ग्रन्थ का संपादन किया। यह काम ग्रन्थ हजार अध्यायो का था, जिसे औद्दालक ने पाच सौ और बाद में बाभ्रव्य पाचाल ने डेढ सौ अध्याय मे सक्षिप्त किया। इसके सात अध्याय थे।

१—साधारण
२—साम्प्रयोगिक
३—कन्या संप्रयुक्तक

४—मर्यादाधिकारिक
५—परदारिक
६—वैशिक
७—औपनिषदिक

नदिकेश्वर के नाम से दी हुई कामग्रथ की यह सूची स्पष्ट करती है कि वे काम शास्त्र के भी आचार्य थे। नदिकेश्वर आचार्य का 'एक अभिनय दर्शन' ग्रथ भी प्राप्त हुआ है। 'पच सायक' नाम के काम शास्त्र ग्रथ में भी नदिकेश्वर का उल्लेख है। 'रति रहस्य' पुस्तकमें भी उनका जिक्र है। इस सब से यही पता चलता है कि नदिकेश्वर का सबध नाच गान और काम से था। नाचगान भी काम शास्त्रके अग मात्र हैं अतः प्रधानतः वे काम शास्त्र के आचार्य ठहरते हैं। ये ही नदिकेश्वर यदि राजशेखर के 'रसाधिकारिक' के आचार्य हैं—जैसा कि सभव लगता है—तो रसाधिकार का काम शास्त्र से घनिष्ठ सबध ठहरता है। उसका साराश यही निकलता है कि 'रस शब्द का अर्थ पहले शृगार ही समझा जाता था। आचार्य भरत के नाट्य शास्त्र बनने तक यही बात थी। रस एक ही माना जाता था वह भी शृगार। इस प्रसग में भरत की उक्ति 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता.' का तात्पर्य यह ठीक बैठता है कि नाटक में आठ रस होते हैं अन्यत्र चाहे एक हो। अन्यत्र नौ का तात्पर्य तो भरत के अनुकरण पर रचे गए रस ग्रथों की छाया मे किया जाता है। इससे यह सगति भी बैठ जाती है कि भरत द्वारा रसवाद की स्थापना करने पर भी आलोचको ने काव्य में अलकार, रीति वक्रोक्ति आदि को ही सर्वस्व माना, रस को तो बहुत बाद में अन्तर्भुक्त किया। यदि काव्यों में भी नाटकों की तरह नौ रस की परपरा होती तो उसका स्वरूप दडी, भामह आदि आचार्यों द्वारा प्राप्त होता। भले ही वे उसका खडन करते। वे रस से परिचित हैं, पर उसे वक्रोक्ति या अलकार में अतर्भुक्त करते हैं। भरत से पूर्व कोई काव्यशास्त्र का आचार्य था इस का पता नहीं चलता। फिर यह कल्पना करना कि भरत ने 'अष्टौनाट्य' रसाः स्मृता—काव्य रसों की तुलना से लिखा था अशुद्ध है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी जी की मान्यता है कि निश्चय ही किसी और शास्त्र के रस से नाट्य रसों को पृथक करने के लिए उन्होंने उपर्युक्त बात लिखी थी। पडित वर विश्वनाथ ने शृंगार रस को आदि रस कहा है।[1] बाणभट्ट ने 'रस' शब्द का प्रयोग

१—यमुपाधिमा श्रात्यिरस आद्य प्रवर्तते, विश्वनाथ, प्रेम रसायन

शृगार रस के अर्थ मे ही किया है[1] । भरत के अनुकरण पर सस्कृत के कुछ आलोचकों ने काव्य में नौ या दस रस मान लिए थे। पर प्राधान्य उन्होंने भी शृगार का ही माना। सागोपाग विवेचन सभी ने शृगार का किया है। नायिका भेद, आदि शृगार रस की दृष्टि से ही सृष्ट हुए हैं। यह सब मानवीय अनुभूति मे शृगार की प्रधानता होने के ही कारण नहीं है शास्त्रीय परंपरा के कारण भी है।

बाद में ऐसे अनेक आचार्य हुए हैं जिन्होंने शृगार रस को ही रस समझा। रुद्र भट्ट का 'शृगार तिलक' ऐसा ही ग्रंथ है। भोजराज का 'सरस्वती कठाभरण' तथा 'शृगार प्रकाश' इसी मान्यता का है। शृंगार प्रकाश का इस विषय में सर्वोपरि महत्त्व है। इसका विशेष परिचय अभी बाद मे मिलेगा। विद्याधर की 'एकावली' शारदा तनय का 'भाव प्रकाश' शिग भूपाल का 'रसार्णव' और भानुदत्त की 'रस मजरी' तथा 'रस तरगिणी' शृ गार रस को ही रस मान कर लिखे गये ग्र थ हैं। रूप गोस्वामी ने 'उज्ज्वलनीलमणि' मे प्रकारातर से शृ गार रस को ही कृष्ण सबद्ध कर भक्ति के रूप मे भक्ति रस नाम से उपस्थित किया है। रूप गोस्वामी एक ही 'उज्वल रस' मानते हैं जो कि शृ गार का अधिदेव रूप है।

हिंदी के काव्य शास्त्र की तो परपरा ही शृगार की प्रधानता से प्रारंभ होती है। केशवदास जी ने शृगार रस को मुख्य तथा वीरादि को उसी का अगभूत रस माना है। तोपकी 'सुधानिधि' चिंता मणि का 'कविकुल कल्पतरु' मतिराम का 'रसराज' रसलीन के 'रस प्रबोध' और 'अग दर्पण' देव की 'प्रेमचद्रिका' और 'रस विलास' 'भिखारी दास का 'रस शृंगार' और 'शृगार निर्णय' तथा पद्माकर का 'जगद् विनोद' आदि ग्रंथ शृगार की ही प्रधनता एव महिमा प्रतिष्ठित करते हैं।

सारतः कह सकते हैं कि पूर्ववर्ती काल में रस शब्द का अर्थ शृंगार रस ही समझा जाता था। परवर्ती आचार्यों ने यद्यपि इसका दूसरे अर्थ मे प्रयोग किया पर पहली अर्थ परपरा भी लुप्त नहीं हुई। कवियों तथा आचार्यों

१—रसेन शय्या स्वयमभ्युपागता कथाजनस्याभिनवा वधूरिव। बाण कादम्बरी।

का एक समूह बराबर इस रस को ही एक मात्र या प्रधान रस मानता रहा। हजारों वर्षो की सुदीर्घ परपरा में इस समूह के आचार्यों की कमी भी कमी नहीं हुई[1]।

(ख) भोज की शृंगार भावना

शृगार की एक मात्र रसता स्थापित करने का एक पृथक ही प्रयत्न भोजने अपने 'सरस्वती कठाभरण' तथा शृगार प्रकाश' में किया है। दूसरी पुस्तक विशेष रूप से इस लक्ष्य से लिखी गई हे। रस शब्द अनुभूति के चरम उत्कर्ष का जैसा आजकल द्योतक माना जाता है उस अर्थ में भोज ने इसका प्रयोग नहीं किया। उनके अनुसार रस गुण और अलकार के समकक्ष काव्य का शोभाधायक प्रमुख तत्व है। काव्य के तीन शोभाकर गुण होते हैं। वक्रोक्ति, स्वभावोक्ति तथा रसोक्ति। रस तीसरा है। अर्वाचीन आचार्यों ने रस की गौण दशा जैसे 'रसवत' अलकार से व्यक्त की है उसी से मिलता जुलता यह है। अलकार और गुण की अपेक्षा वैसे यह मुख्य है। स्त्री के हृदय में पति प्रेम का जो स्थान है काव्य मे वही रस का है। भूषणों से भूषित लज्जादि गुणों से युक्त स्त्री में यदि पति प्रेम नहीं तो कुछ भी नहीं। इसी प्रकार रस रहित अलकारादि काव्य में निरर्थक हैं। वास्तव में भोज की रस विषयक अनुभूति तो बहुत ऊँची है। अर्वाचीन रसाचार्यो से भी अधिक गहरी। पर उसका काव्य में स्थान निर्धारित करते समय वे अलकार मार्ग से प्रभावित हो गए हैं। उस समय काव्य की आत्मा शब्द और अर्थ के अतिरिक्त अन्य नहीं मानी जाती थी।

भोज के अनुसार रस एक है वह भी शृ गार है। पर अर्वाचीन आचार्यों के शृ गार से यह भिन्न है। साख्य दर्शन मे जिस प्रकार महत्तत्व का विकास अहकार सृष्टि का मूल कारण माना जाता है, उसी से मिलता जुलता अहकार इधर मूल रस है। यह काव्य का आत्म धर्म है। समस्त अनुभूतियों का एक मात्र कारण है। इस के द्वारा अनुभूति अपनी उच्चतमावस्था (शृ ग) को प्राप्त होती है। इसलिए इसका नाम शृङ्गार है। इसे 'मूल रति' (Absolute love) कह सकते हैं। इसके दो भेद हैं। एक निर्विषय अहकार

१—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी—शृगार रस की परपरा—विश्वभारती सवत १९४२ खड १ अक १

दूसरा सविषय अहंकार। भोजने पहले को अहंकार और दूसरे को अभिमान माना है। किसी विषय का अनुभव कोरे इन्द्रिय संपर्क से नहीं होता, आत्मरति की उसमें अपेक्षा होती है। आँखोंके सामने वस्तु रहते हुए भी हम जो उसे कभी कभी देखते नहीं वह आत्म रति के न होनेके ही कारण। यही आत्मरतिअभिमान और अहंकार है। भोज की मान्यता है कि प्रत्येक अनुभूति अपनी चरमावस्था में निर्विषय, अखंड, चिन्मय हो जाती है। उस समय आत्मा में जो रूप उसका होता है वह सभी का एक सा रहता है। शृंगार, हास्य, करुण आदि भेद तो विषयापेक्ष हैं। और जब तक विषय संयुक्त अनुभूति है तब तक वह अपने चरम उत्कर्ष को नहीं पहुँची। अतः भेद और रस की आठ नौ आदि संख्या भोज के अनुसार अतात्विक है।

अहंकार आत्म प्रेम या निर्विषयक प्रेम है। अभिमान सविषय प्रेम। विविध अनुभूतियों के मूल में सर्वत्र 'रति' रहती है, यह अन्य आचार्यों की मान्यता है। जैसे वीर रस में वीर रति, हास्य में हास्य रति आदि विद्यमान है। रति का अर्थ है हृदय की सात्विक दशा जिस के बिना कोई विषय अपनी छाया हृदय पर डालही नहीं पाते। रसाचार्योंने इसे वासना कहा है।[1] यही विषय-निरपेक्ष होकर आत्म धर्म शेष रह जाती है। भोज ने आत्मरति को अनुभूतियों का मूल मानने में अनेक प्रमाण दिए हैं। उपनिषद् में ऐसे वचन मिलते हैं जिन में आत्म प्रेम की अनुभूति का उल्लेख है।

> 'आत्म प्रेम के लिये ही सब प्रिय होते हैं'।
> 'अपना आप ही सब से अधिक प्रिय और श्रेष्ठ है[2]'

एक अन्य उदाहरण भी भोज ने इस विषय में दिया है। कोई पुरुष सुंदर स्त्री के द्वारा सस्नेह देखा जाने पर अपनी सराहना करता है 'अहा मुझे प्रणाम है। डरे हुए मृगों के समान चंचल नेत्रों वाली उस मुग्धा ने सस्नेह मुझे देखा है'।[3] भागवत में भी एक श्लोक इस भाव का है कि संसार की समस्त वस्तु अपने कारण ही प्रिय लगती हैं। अपना आपा सब से अधिक

१—निर्वासनास्तु रंगान्त काष्ठ कुड्याश्मसन्निभाः, साहित्य दर्पण

२—बृहदारण्यक उपनिषद्—आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

३—अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया
मुग्धया त्रस्त सारंग तरलायत नेत्रया। शृंगार प्रकाश

प्रिय है।[1] विपय सापेक्ष अभिमान भी व्यापक तत्व है। यह प्रचलित अभिमान से भिन्न हृदय की वह वृत्ति है जो विपय को अपने रग मे रग कर हमारे समक्ष उपस्थित करती है। रस मे जो दुख भी सुख रूप प्रतीत होता है वह इसी कारण से। अनुकूल होने पर दुखादिको पर सुख का अभिमान, अर्थात् अतःकरण वृत्ति की छाया, उसी प्रकार छा जाती है जिस प्रकार नाली का पानी क्यारियों में पर।[2] इसी कारण नायिका को नखक्षतादि से सुखानुभूति होती है। अतः सिद्ध हुआ कि अहकार और अभिमान समस्त रसानुभूति के मूल हैं।

इस की तीन विकास कोटिया है। सब से पहली तो अहकार तथा अभिमान की है। पूर्व जन्म के सस्कारों से इसका विकास अतःकरण में होता है। इसे परा कोटि कहते हैं। इसी से हम रसिक कहलाते हैं। दूसरी कोटि शृगारादि भावों की है। अपने अनुकूल विभाव, अनुभाव, सचारी भावों की सहायता से भाव अपना उत्कर्ष लाभ करते हैं। यह विकास की मध्यमावस्था है। इसी को साधारणतया रस कहा जाता है। भोज का मत है कि रसाचार्यों ने जो ४६ भाव मान कर कुछ को स्थायी कुछ को व्यभिचारी तथा कुछ को सात्विक बताकर भेद किय। है वह सब अतात्विक है। सब भाव *'रसावस्था'* तक पहुँचने की क्षमता रखते हैं। सभी मूल अहकार के विकास हैं। निर्वेद सचारी भाव को तो शान्त रस का स्थायी भाव औरों ने *माना* भी है। ये अपनी अनुभूति की चरमदशा में भी विषयपरिच्छिन्न रहते हैं, निर्विषय नहीं हो सकते। अतः भोजने सभी को भाव कहा है। इस प्रकार भोज के अनुसार रस से भावों की उत्पत्ति होती है जब कि रस सिद्धान्त के आचार्य स्थायी भाव से रस की उत्पत्ति मानते हैं।

अनुभूतिका उत्कर्ष यहीं पर नहीं रुक जाता। इस से आगे वह विपय संसर्ग को छोड़ता हुआ भाव लोक मे ऊचा उठता जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है कि विषय नीचे रहजाते हैं और अनुभूति मात्र जो आत्मा का अश था वही शेप रह जाता है। यह विकास की उत्तरा कोटि है। इसे भोज ने *प्रेमन्* कहा है। विषयों के ससर्ग से सबद्ध अनुभूति की अपेक्षा यह अनुभूति अधिक

१—सर्वेषामपि भूताना नृप स्वात्मैव वल्लभ
  इतरे पत्यवित्ताद्या तद् वल्लभतयैवहि   भागवत १०, १४ ५०

२—मनोऽनु कूलेपु दु खादिपु सुखाभिमान रस, भोज।

घनीभूतऔर अनुरजित होती है। इसलिए विषय निरपेक्षता में अहकार के समान होते हुए भी स्वरूप मे उससे भिन्न हो जाती है, चू कि भेदक तत्व विषय ससर्ग ही है। अतः यहाँ आकर फिर यह अनुभूति एक ही रहजाती है। मूलावस्था में एक, मध्य मे अनेक और विकासोत्कर्ष की चरमदशा में फिर एक हो जाती है। मध्यावस्था में शृंगार हास्य आदि को जो रस कहा जाता है वह औपचारिक है। अहकार का तन्तु उस दशा में भी अन्तःस्यूत होकर अनुभूत होता है। उसी के कारण इन्हे रस कह सकते हैं। वास्तव मे रस तो अहकार और प्रेमन ही हैं। वह एक है, वही शृंगार है, रति स्वरुप, केवल रति ही। (Love the absolute love) इस प्रकार भोज के मत मे शृंगार ही एक रस है।

भोज की यह परपरा अपनी ही है। आचार्य भरत की परंपरा से यह भिन्न है। इस में जितनी दार्शनिकता है उतनी व्यावहारिकता नहीं। फलतः इस मार्ग का अनुसरण भी आगे के साहित्याचार्यों ने नहीं किया। भक्ति मार्गी आचार्य रूप गोस्वामी ने अपने भक्ति रस की एकमात्र रसता कुछ इसी प्रकार स्थापित की है। उन्होंने भी मूल तत्व रति को ही समस्त अनुभूतियों का आदि कारण माना है और वह रति आत्म धर्म है, परमेश्वर का अश, उसकी आह्लादिनी शक्ति। हास्यादि रसों को गौण मानते हुए उन सब रसों का पर्यवसान भी रति मूलक भक्ति में किया है। अत. पर्यवसान मे ही एक ही रस ठहरता है। अन्तर इतना है कि अहकार को मध्य में कारण नहीं माना गया। भक्ति मार्गियो की रस परिपाटी बहुत अशों मे भोज से मिल जाती है।

रस के प्रसग मे आत्मानुभूति को पहचानने की जिस प्रकार मान्यता भोज ने स्वीकार की है उसी प्रकार कला के प्रसिद्ध आलोचक क्रोम्बी ने भी की है। उनके मत से कला का संबध उस आध्यात्म सत्ता से है जो मनोवेगों का मूल कारण है और प्रत्यक चैतन्य आत्मतत्व के निकट है। वही कला मे प्रभावित होता है। वही कला को जन्म देता है। यह अध्यात्म सत्ता भोज के अहकार से भिन्न नहीं है जो हास्यादि भाव और आत्मा के मध्य में स्थित है। उनके नाम रूपधारी भावावेश भोज के रतिप्रकर्ष, हास प्रकर्ष, शृ गार हास्यादि भावों के समकक्ष हैं[१]।

१—Any how the innermost reality, the one with which art is most dearly concerned, is what is commonly called spiritual

निविपय प्रेम या शृगार को रस का मूल कारण मानने से भोज फ्राइड की विचार परपरा के निकट प्रतीत होते हैं। फ्राइड के अनुसार समस्त कला और विज्ञान का भूल कारण काम है। उसी प्रकार भोज के मत में भी। फ्राइड का काम (Libido) दो भागों में विभक्त होता है—निर्विपय काम अथवा आत्म काम (Ego Libido) तथा सविपय काम (object Libido) भोज ने भी इसी प्रकार अहकार को आत्म काम तथा अभिमान को विपय काम स्वीकारा है और उन्हीं को समस्त रसास्वादन (Appreciation) के मूल में माना है। परतु फ्राइड का काम यौनवासना मात्र है। भोज का काम या अहकार इससे भिन्न एक सात्विक अध्यात्म सत्ता है जो परमसत्ता की इच्छा कही जा सकती है।

ग—शृङ्गार रस की व्यापकता

भाव की व्यापकता की दृष्टि से देखे तो शृ गार का विस्तार सबसे अधिक है। प्राणी मात्र ही नहीं वे वनस्पति वर्ग भी इसके आक्रोड मे आ जाते हैं जिन्हें हम जड समझते हैं। व्यापकता के कारण ही इसके अनेक भेद हो जाते हैं। प्रेम, स्नेह, वात्सल्य श्रद्धा, भक्ति, सख्य, आदि सभी उसके भेद मात्र हैं। इतना ही नहीं अपने प्रभाव से हृदय की सकीर्णता को उदारता में परिणत करने की शक्ति इसी मे सबसे अधिक है। एक की बहुरूप मे परिणति शृ गार से ही होती है। इसी परिणाम को उपनिपदों मे 'भूमासुख' कहा है। फलतः विशुद्ध सुखस्वरूप भाव जितना शृ गार है उतना अन्य नहीं। हृदय का विस्तार शान्त रस में भी होता है। पर एक तो शात रस लौकिक नही है। रसों की भित्ति लौकिकता के आधार पर ही खड़ी है। दूसरे शान्त रस का मूलस्थायी भाव निर्वेद है जो उपेक्षा, अलगाव, उत्पन्न करता है। फलस्वरूप हृदय विस्तार होने पर भी ममता का, आसक्ति का

---

reality, Let me call it the emotional reality by which I do not mean the plane of such named and recognisable emotions as love, anger, hate but rather the general substration to mall existence, emotion nameless and unappointed, This the layer of flame which is the closest we can get to the central fire, to the will to live or what ever you like to call it

L Abercrombie—Function of Poetry in Daama

विस्तार कोरा बौद्धिक हो जाता है जिसमें घनीभाव नही रहता। घनीभूत रूप मे हृदय का विस्तार शृगार मे ही होता है।

हिंदी के रीति काल को शृगार प्रधान होने का एक मात्र कारण कुछ लोग मुसलमानो का प्रभाव मानते हैं। अतएव साहित्य के शृगारिक रूप को हेय भी समझते हैं। पर गभीर विचार करने से धारणा बदलनी पड़ती है। हिंदी ही नही, सस्कृत, पाली, प्राकृत आदि का साहित्य शृगार प्रधान है। भारतीय वाङ्मय या तो धार्मिक है या फिर प्रेम प्रधान। यह सब वासना मूलक ही नहीं। इसके पीछे गभीर दर्शन है।

सृष्टि का मूल एक परम तत्व का द्वित्व मे बिखर कर एक होने में है। 'एको ह बहुस्या प्रजायेय' मे वही भावना विद्यमान है। द्वित्व की दोनो प्रसूतियो में पारस्परिक आकर्षण रहता है जिसका फल होता है 'एकरसत्व' की प्राप्ति। इस द्वित्व का नाम ही जीव और प्रकृति, मैटर और स्पिरिट आदि है। सारी सृष्टि विविध द्वित्वो में विभक्त है। स्त्री पुरुष इनमे से एक हैं। एकरसत्व की प्राप्ति के प्रयत्नों के अनेक स्तर हैं। स्त्री-पुरुष के प्रेम, सयोगवियोग उनमें से एक है। उसी प्रकार का दूसरा है जीव और प्रकृति का परस्पर का सयोग-वियोग। दोनों स्तरों मे द्वैत को भूल जाने तथा एकरसत्व या अनन्यता प्राप्त करने की उत्कट प्रेरणा और अभिलाषा विद्यमान है।

यद्यपि इन दोनो स्तरों मे महान अन्तर है फिर भी तत्ववेत्ताओं का अनुभव यही है कि ये एक ही तत्व के दो पार्श्व हैं। इसलिए इस द्वैधात्मक व्यापार को कुछ लोगों ने आनदमय अनिर्वचनीय नाटक माना है कुछ ने कोरी विडंबना। पहले अनुरागी भक्त है दूसरे विरागी ज्ञानी।

जहा तक आर्यों की चिन्तना का इतिहास है स्त्री पुरुष की द्वैत कल्पना आदि काल से ही है। देवताओं के युगल रूप जैसे, शिव पार्वती आदि की कल्पना इसी धारणा की पोषक है। आर्य विचार धारा के अनुसार दम्पति की कल्पना और सयोग के बिना सृष्टि के अस्तित्व की पूर्णता असभव प्रतीत होती है।

मनोवैज्ञानिकों ने इस मान्यता को और भी अधिक आग्रह से स्वीकार किया है। उनके अनुसार हमारे समस्त विचार व्यापारो के प्रेरक तत्व दो हैं अहत्व और वासना (Sex)। वे अहत्व को भी पीछे छोड़कर केवल वासना को ही सब का मूल मानते हैं। वासना के प्रवाह, उपराम और

प्रतिबन्ध से नाना प्रकार के आचार, विचार, आमर्श, विमर्श कर्तव्य अकर्तव्य, यम, नियम, और सयम आदि के विधान बनते और बिगड़ते हैं। उनकी धारणा है कि बाल्यकाल से लेकर मरणपर्यन्त मनुष्य वासना से ही नियुक्त एव सचालित रहता है।

शारीरिक विज्ञान वेत्ताओ की व्याख्या कुछ भिन्न है। उनके अनुसार भाव अनुभूतियो की उत्पत्ति हमारी स्नायविक रचनाओ पर निर्भर है। वे इसके पीछे किसी अदृश्य सत्ता को नहीं मानते। पर दूसरे आस्तिक विचारकों का कथन है कि स्नायु चक्र भावो का उपादान कारण बन सकता है, निमित्त कारण वासना या अहत्व को ही मानना पडेगा। 'स्नायु जाल तो बिजली के तारो का सा पेचीदा समूह है जिस पर चेतना या उत्तेजना प्रवाहित होती है। अतः भाव सृष्टि सर्वथा स्नायु जाल की क्रिया प्रतिक्रियाओ के कारण ही नहीं। अतः मूल कारण वासना को ही मानना पड़ता है।'[1]

इस प्रकार की दाम्पत्य शृगार की धारणा रोमन कैथोलिक सप्रदाय के लोगों मे भी चालू हैं। इसका उदाहरण 'सेंट हैरीना' और 'जान आफ दी क्रासे' की अनुभूतिया है। उन्होने जीव प्रकृति का वैसा ही मधुर सबध माना है जैसा स्त्री पुरुष का। यही नहीं उससे पूर्व भी यूनान, रोम, मिश्र तथा पश्चिमी एशिया में किसी न किसी रूप में इस प्रकार के विचार प्रचलित थे।

अत भारतीय साहित्य में शृगार पूर्व से ही विद्यमान है। मुसलमानी प्रभाव से उस में कुछ अन्तर अवश्य पड़ गया था।

घ—शृङ्गार और भक्ति

सस्कृत के प्राचीन साहित्य में शृगार को लौकिक भाव तथा भक्ति को अलौकिक तात्विक भाव माना गया है। दोनो का क्षेत्र भिन्न भिन्न है। भक्ति में दास्य भाव, दैन्य, शरणागति आदि तथा तत्व विचार का समावेश था। शृगार में लौकिक मधुर अनुभूतिया आती थीं। भास, कालिदास, भवभूति आदि ने राम कृष्ण को जहा नाटक काव्यादि का नायक बनाया है उसमें भक्ति भावना नहीं है। कालिदास ने शिव भक्त होकर भी कुमार सभव में शिव पार्वती के प्रति भक्ति भावना उतनी नहीं दिखाई जितनी रस

१—डा० रामप्रसादत्रिपाठी—प्रभुदयाल मीतलकृत 'नायिका भेद' पुस्तक की भूमिका।

भावना दिखाई है। कवि का हृदय रस प्रवण है। भक्ति प्रवण नहीं। इस प्रकार प्रारभ मे भक्ति और शृंगार दो पृथक पृथक भावनाएँ मानी जाती थीं।

विक्रम की दसवीं शताब्दी में भक्ति भावना बढी। उस से साहित्य धारा भी प्रवाहित हुई। इसी के फलस्वरूप जयदेव ने भक्ति और शृंगार का समिलित रूप गीत गोविन्द मे उपस्थित किया। भगवान का प्रसाद प्राप्त करने के लिए काव्य रचना की विलास पूर्ण शैली इन्हीं से प्रारभ हुई। यह १२ वीं शती की घटना है। इसके बाद चैतन्य महाप्रभु ने गीत गोविंद को अपना सम्प्रदाय ग्रथ बना लिया। फिर तो इस शैली का प्रचार बहुत बढ गया। जयदेव के बाद बगाल के चडीदास तथा मिथिला के विद्यापति इस धारा मे प्रसिद्ध हुए। ये दोनों सस्कृत मिश्रित प्रान्तीय भाषाओं को लेकर चले थे। लोग विद्यापति के पदों को प्रायः साहित्यिक मानते हैं भक्ति सबधी नही। फिर भी चैतन्य सप्रदाय मे वे भी भक्ति रूप से गृहीत हैं। श्रद्धा सहित भक्तों द्वारा गाये जाने लगे। चैतन्य महाप्रभु (सवत १५४२–१६००) का इस धारा पर अत्याधिक प्रभाव है। इसी सप्रदाय के शिष्य सनातन रूपगोस्वामी तथा जीवगोस्वामी ने इस मार्ग का शास्त्रीकरण किया। रूप गोस्वामी का 'उज्वलनीलमणि' ग्रथ शृंगार रस की शैली मे भक्ति रस पर लिखा गया सर्व श्रेष्ठ प्रयत्न है। भक्ति सबलित शृंगार का वहीं प्रमाण ग्रन्थ माना जाता है। तब से यह मार्ग प्रशस्त और परिमार्जित हो गया है। इसके उपजीव्य ग्रंथ, भागवत तथा तत्सबंधी अन्य सरस भक्ति की रचनायें हैं।[१]

ङ संयोग का स्वरूप

प्रिय और प्रेमी का मिलन दो प्रकार का हो सकता है–सभोग सहित तथा सभोग रहित। पहले का नाम सभोग है दूसरे का नाम संयोग हो सकता है[२]। यद्यपि इस प्रकार का विभाग आचार्यों ने नहीं किया पर भावनाओं के आधार पर यह आवश्यक है। जो प्रेम वासना मूलक है उसका पर्यवसान भोग में होता है। पर जो विशुद्ध आत्मानुभूति के रूप में है उसका

१—श्रीपरशुराम चतुर्वेदी—'हिंदी काव्य धारा में प्रेमप्रवाह' तथा 'मध्यकालीन प्रेम साधना।' आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी—'मध्यकालीन धर्म साधना।'

२—काव्य दर्पण पृष्ठ २७८।

पर्यवसान भी प्रेम ही होता है। ऐसा प्रेम किसी वस्तु का, जैसे भोगादि, साधन नहीं बनता। इस साध्यभूत प्रेम का मिलन सयोग कहा जाना चाहिए। घनानद जी ने अनुभूत्यात्मक प्रेम के प्रसग से सयोग वर्णन किया है और साधनात्मक प्रेम में राधा और कृष्ण के मिलन में सभोग का वर्णन पदों मे किया है।

रसाचार्यो की दृष्टि सभोग मे प्रेमी और प्रिय के भोग पक्ष पर ही विशेष रूप से पड़ी है। विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण मे इसका लक्षण करते हुए 'प्रिय और प्रेमी के एक दूसरे के दर्शन स्पर्शन आदि के भोग को इसका परिचायिक चिह्न माना है। उसके भेद भी चुवन आलिंगन आदि विलास चेष्टाओं के आधार पर करने की चेष्टा की है। इस सबसे सयोग मे भोग पक्ष की प्रधानता व्यक्त होती है। इसी मार्ग का अनुकरण रीति काल से समस्त कवियों ने किया है। विलास चेष्टाए भी उनकी निजी अनुभूति के आधार पर आधारित नहीं है, कवि परपरा प्राप्त है।

पर प्रश्न यह उठता है कि क्या सयोग में प्रेमानुभूति सर्वथा अवरुद्ध हो जाती है ? क्या हृदय इतना कुठित हो जाता है कि उस में भावों का उदय नहीं होता, जिस से स्थूल विलास चेष्टाए ही वर्णन के लिये शेप रह जाती हैं ? क्या इसलिए हृदयानुभवों की विवृति वियोग में ही कवि करते आये हैं सयोग में नहीं ? घनानद का अध्येता इन प्रश्नों का उत्तर निपेध में देगा। कारण घनानद जी ने वियोग की तरह सयोग में भी हृदय की मार्मिक अनुभूतियों को व्यक्त किया है। श्लील अश्लील विलास चेष्टाओं को नहीं। इस रूप में इनका शृंगार वियोग और सयोग दोनों जितना बौद्धिक है उतना शारीरिक नहीं।

प्रेम को इन्होंने सर्वोपरि प्रधानता दी है। वह जिस प्रकार वियोग में तीक्ष्ण से तीक्ष्णतर होता जाता है उसी प्रकार सयोग में भी मन्द नहीं पड़ता। सयोग का सुख और वियोग का दुख हृदयानुभूति को अभिभूत नहीं कर सकता। प्रेम अभिलाषविशेष अधिक है जो प्रिय प्रेमी के प्रति और प्रेमी प्रिय के प्रति अपने हृदय में अनुभव करता है। अतः अभिलाषा की विद्यमानता शृगार की समस्त दशाओं में यदि प्राप्त हो तो वह प्रेम की प्रधानता ही है। इनके सयोग में अभिलाष की सत्ता सर्वत्र मिलती है। इस विपय मे रीति परपरा को देखा जाय तो अभिलाप का क्षेत्र वहाँ सकुचित

और व्यवस्थित मिलता है। विरह की दश दशाओं में से यह सर्व प्रथम है[१]। पर यहाँ वह बन्धन नहीं। यह अभिलाष प्रिय विषयक अनुराग है जिसे रीति की शब्दावली में बांधना हो तो 'रति' कहना चाहिए। रति स्थायीभाव होने से प्रत्येक दशा में विद्यमान रहती है। उसी प्रकार यहाँ अभिलाष है। यह वियोग की तरह संयोग में भी प्रेमी को सदा अन्तः-पीड़ा से पीड़ित किये रहती है। इसी कारण संयोग वियोग सा लगता है। विरह कभी पीछा नहीं छोड़ता।

प्रिय के रूप सौन्दर्य को देखकर हृदय में हर्ष की उमगें इस प्रकार उठती हैं जिस प्रकार समुद्र में तरगें अथवा राग में ध्वनि उठती है। नेत्र रूपराशि का अनुभव करते हैं फिर भी वे तृषित ही बने रहते हैं। उधर मुख पर अधिकाधिक ओप बढ़ती जाती है इधर हृदय में अभिलाषाओं की वर्षा सी होने लगती है[२]।

आंखें रूप रसका आस्वादन करती हैं पर हृदय में अभिलाषाओं को सचित कर देती हैं जो कभी समाप्त नहीं होतीं। प्रिय का वर्णन करने को मन चाहता है पर वाणी गुणों में ग्रसित हो जाती है। मति की गति भी थक जाती है। सुधि अपनापन भूल जाती है। इस तरह लालसाओं के कारण संयोग का सुख किसी प्रकार भी नहीं मिलता[३]।

वियोग के अनतर आने वाले संयोग में प्रेमातिशय दिखाने की परपरा है। अतः यहाँ संयोग में अभिलाष वर्णनीय हो सकता था। पर घनानद जी का प्रेमी यदि कभी वियुक्त नहीं रहा फिर भी संयोग काल में प्रेमातिरेक के कारण प्रिय का मुख देखते देखते पलक नहीं मारता। आंखें जागती ही रहती हैं। हृदय तृण के समान कांपता है। रोम रोम आनंद में भीग जाता है। यदि वह वियुक्त होकर प्रिय से मिले तो न जाने कैसा अभिलाष हो। प्रेमी और प्रिय के मिलजाने पर दोनों के हृदय एक हो जाते हैं और शुद्ध घनआनद के लोभ में जो सुख मिलता है वही प्रेमी को मिलता है। फिर भी हृदय चाह के प्रवाह में पड़ा रहता है[४]। उनके मुख की ओर देखने

१—देखिए साहित्य दर्पण तृतीय परिच्छेद शृंगार रस प्रकरण,

२—घनानद ग्रंथ० प्रकीर्णक १३

३—सुजि० २००

४—वही० ८९१ २३३, ३—वही ७२

की इच्छाओं का भरसा लगा रहता है, अर्थात् एक के बाद एक इच्छा उत्पन्न होती रहती है। कभी दैवयोग से वे मिलते हैं तो मनोरथों की ऐसी भीड़ हृदय में भर जाती है कि मिल कर भी मिलाप नहीं होता। हृदय की गति का ब्यौरा किस प्रकार दिया जाए।

इस अभिलाप के कारण प्रेमी बौद्धिक अवसादका भी अनुभव करने लगता है। यद्यपि सयोग शृगार में अवसाद का वर्णन आचार्यों ने निषिद्ध माना है[1]। प्रिय के सयोग का सुख एक ओर से तथा अभिलापाओं का दुख दूसरी ओर से हृदय को आक्रान्त कर लेता है। इस परपरा विरुद्ध लाभ से बुद्धि का अवसाद स्वाभाविक है। फलतः प्रिय के लिये जो प्रिय आचरण होना चाहिए वह नहीं हो पाता। इसलिए प्रेमिका दुखी होती है। 'सुजान प्रिय को देखकर लाखों प्राणों का मानों लाभ होता है पर उनके ऊपर प्राण न्यौछावर करने की अभिलाषा से वह मरी मिटती है। इस अनोखी पीर को किस प्रकार कहे। अधीर होकर नेत्रों में आसू भर आते हैं। क्या विचार किया जाए। रक की तरह सोच और सकोच में खिन्न ही होना पड़ता है। चित्त की चाह के चौचद मे थक थक कर प्रेमी अवसन्न हो जाता है।[2]

भावो की सूक्ष्मता का अनुभव करने में आनदघन अकेले ही हैं। यह गुण संयोग के वर्णन में भी विद्यमान है। किसी क्रिया या अनुभूति के निरतर दीर्घ काल तक बने रहने से मन उसका इतना अभ्यस्त हो जाता है कि उस दशा के परिवर्तित हो जाने पर भी वैसा ही अनुभव बना रहता है। देर तक रेल गाड़ी में यात्रा करने के बाद उतरने पर भी भ्रान्ति यात्रा की सीही होती है। वियोग के अनतर आने वाले सयोग में वियोग की भ्राति उसी प्रकार बनी रहती है। 'प्रिय बहुत दिनों के विरह के बाद मिला है। वह विरह का ही अभ्यस्त हो गया है। वह सयोग में भी वियोग का अनुभव करता है। प्रिय को देखते भी यह विश्वास नहीं होता कि वह आ गया है। विरही को निश्चित नहीं होता कि यह सयोग है या छल। इस प्रकार मिलने पर भी कुशल 'अनमिले' की ही है।[3]'

१—सयोगे आलस्यौग्रयौ जुगुप्सा वर्ज्या रसतरगिणी

२—सुहि ७९

३—वही ६१

संयोग में दुःख के और भी अनेकों कारण हैं। प्रेमी की लघुता तथा प्रिय की महिष्ठता उनमें से एक है। यह पहले बताया जा चुका है कि प्रेमी अपनी अपेक्षा प्रिय को बहुत बड़ा समझता है। इस अन्तर के परिणाम स्वरूप संयोग में प्रेमी को तृप्ति के स्थान पर आश्चर्य की अनुभूति होती है। फल वही दुःख होता है।

'जब सुजान का संयोग होता है तो बुद्धि आश्चर्य में डूब जाती है। फलत. प्रिय का पूर्ण दर्शन नहीं हो पाता। संयोगकाल स्वप्न-सा टल जाता है। उसके बाद विरह आता है जो सौ गुना चेटक बटा कर हृदय को पीडित करता रहता है।[1]

इस आश्चर्यानुभूति का परिणाम बुद्धि का मोह होता है। इससे प्रेमी प्रिय विषयक अनुकूल आचरण न करने से दुःख का अनुभव करता है 'अपने हृदय की दशा बताने के लिए लाख लाख भाँति से संयोग की अभिलाषा की जा रही थी। चुन चुन कर अनेकों 'रिस भीनी तथा रस भीनी' बातें संगृहीत कर ली थीं कि प्रिय आएंगे, तब कही जाएंगी। भाग्य से जब वे मिले तो समस्त चेतना लुप्त हो गई। रीझ बावरे होकर कुछ और ही और कह गए।'

'उरगति उघारिबे कों सुंदर सुजान जू को,
लाख लाख विधि सों मिलन अभिलाखियै।
बातैं रिस रस भीनीं कसि गसि गास झीनी,
बीनि बीनि आछी भाँति पाँति रचि राखियै।
भाग जागैं जौ कहूँ बिलोकैं घनआनद तौ
ता छन की छाकनि के लोचन ही साखियै।
भूलै सुधि सातौं दसा विवस गिरत गातौं
रीझि बावरे ह्वै तब औरै कछू भाखियै।[2]

प्रिय की महत्ता पर आश्चर्य सूफी कवियों ने भी खूब बढ़ा चढ़ा कर दिखाया है। पद्मावती के प्रथम दर्शन में रतनसेन का बेहोश हो जाना और बाद में विलाप करना इसी का द्योतक है। महात्मा तुलसीदास जी ने

१—वही २६६
२—वही ६७

मिलन की परिस्थिति के प्रभाव के रूप मे यह अनुभव पारिवारिक प्रेम के प्रसग से किया है। वन मे भरत जब राम से प्रथम बार मिलते हैं तो दोनो की हृदय दशा ऐसी हो जाती है कि कोई किसी से न कुछ कहता है और न पूछता है। हृदय स्तभित होकर शून्य हो जाता है।

'कोउ कछु कहइ न कोइ कछु पूछा, प्रेम भरा मन निज गति छूछा।'[1]

कवि की अन्तर्वृत्ति प्रधानता भी इस बात का कारण है कि उसे सयोग में भी सदा वियोग का अनुभव बना रहता है।

'अनोखी हिलग दैया बिछुरैं तौ मिल्यौ चाहै,
मिलेहू मैं मारै जारै खरक बिछोह की।

वियोग का भय हो यही नहीं। प्रेमी प्रिय का निरतर ध्यान करने से बौद्धिक वियोग का अभ्यस्त हो गया है। वियोग मे हृदय स्थित प्रिय से आलाप सभाषणादि नहीं हो सकता। यह अवस्था सयोग में भी बनी रहती है। सयोग वियोग तुल्य हो जाता है।

'प्रिय पास में बैठा है। फिर भी हृदय मे उसकी अवस्थिति वैसी ही है। प्रिय सुजान मिल गये पर वे बुद्धिस्थ होकर उसे व्यामुग्ध अब भी करते हैं। यह कैसा सयोग है कि वियोग बिछुड़ता ही नहीं।[2]

कवि की चिंतन की यह अतर्वृत्ति रीति मार्ग की उस स्थूल प्रवृत्ति से भिन्न है जिसमे सयोग के समय बुद्धि व्यापार सर्वथा अवरुद्ध हो जाते हैं।'

✓ वैसे आचार्यों ने उसी सयोग को साहित्य में उत्तम माना है जो वियोग से किसी न किसी प्रकार सबद्ध हो। जिस प्रकार कपैले वस्त्र पर रग अधिक चढता है उसी प्रकार विप्रलभ से कोमल बने हृदय मे सयोग की पुष्टि अधिक होती है।[3]

। पर घनानद जी ने सयोग में वियोग के आन्तर्य का ही नहीं समकालीनता का भी अनुभव किया है। अत. वियोग प्रत्येक अवस्था में बना रहता है।

१—अयोध्याकाड सोपान२ दो० २४३ चौ० ४

२—सुहि० १०४

✓३—न विना विप्रलम्भेन सयोग पुष्टिमश्नुते काषायिते हि वस्त्रादौ भयान रागो विवर्धते. साहित्य दर्पण परिच्छेद ३।

इस तरह अभिलाष, अतर्ध्यान, वियोग का अनन्तर्य तथा प्रिय की उदासीनता आदि कारणों से घनानद का संयोग सर्वत्र वियोग सयुक्त है। वास्तव मे कवि मूलत. वियोग और दुःख का कवि है। गाना तथा रोना 'दोनों मे से रोने को ही अच्छा समझता है। जिस पर रोना नही आता उसका गाना भी रोना है नहीं तो आनद तो प्रेम की सतापाग्नि मे वेचैन रहने से ही मिल सकता है।

प्रेम आगि जागै लागै भर घन आनद को
रोइबो न आवै तो पै गाइबोहू रोइबो

अश्लीलता का अभाव तथा रसानुभूति का बौद्धिक रूप घनानद की देन माननी चाहिए। इनका शृगार भावात्मक से बौद्धिक रूप में विकसित होता गया है। प्रेरणा कहीं से ली हो पर अनुभूतियों का स्वरूप अभारतीय नहीं है। वह चितन मे अपने वर्णनो की परपरा में सगत प्रतीत होता है। परमेश्वर की व्यापक सत्ता का आभान सर्वत्र हाता है। यह प्रिय का बौद्धिक सयोग है। पर प्रेमी भक्त उसके साक्षात्कार स्पर्शन आदि के लिए लालायित है। इसलिए वियोग भी साथ ही लगा रहता है। परमेश्वर का भक्त के प्रति उदासीन भाव भी कारणातर होकर उपस्थित रहता है। इस प्रकार वह मिलकर बिछुड़ता और बिछुडकर मिलता रहता है। आनद के घन सर्वत्र छाए रहते हैं पर चातक प्रेम का प्यासा ही बना रहता है।

रूहाछेहकहा धौं मचाय रहे ब्रजमोहन हौं इख नीद भरे हौं।
मिलि होति न भेट दुरे उघरौ ठहरे ठहरानि के लाल परे हौं॥
बिछुरे मिलि जात मिलें बिछुरै यह कौन मिलाप के टारडरे हौ।
घन आनद छाय रहौ नित ही हित प्यासनि चातक जात मरे हौ॥[1]

× × × ×

सयोग मे हर्ष उल्लासादि का जैसा वर्णन हिंदी साहित्य की परपरा मे चलता आया है वह भी कहीं कहीं मिलता है। 'प्रिय के आगमन पर हृदय रूपी आलबाल मे उमग की बेल आनद के घन द्वारा सिक्त होकर इतनी बढ़ी है कि नायिका के रोम रोम पर चढ़ गई। उत्साह का रग इतना बढा है कि

---

[1] सुजानहित ७०।

वह दुकूल के बाहर निकला पड़ता है। नेत्र दौड़कर बधाई सीबोलते हैं, आदि आदि। पर ये वर्णन कवित्त सवैये मे अत्यल्प है। पदों में अवश्य राधा कृष्ण के शृगार और विलास विहार का वर्णन है। प्रतीत होता हे कि घनानद कवित्त सवैयों को लौकिक भावों की अभिव्यक्ति का उचित साधन समझते हैं और पदों तथा दोहे चौपाइयों को भक्ति भाव की अभिव्यक्ति का। भक्ति में शृगार स्थूल तथा विलास प्रधान होकर भी वैरस्योत्पादक नहीं बनता पर लौकिक शृगार बन सकता है। इसलिए इसे अधिक से अधिक बौद्धिक बनाने का प्रयत्न कवि ने किया है। सयोग शृगार मे बुद्धि व्यापार के विश्लेषण की घनानद की सी परपरा यदि भक्ति काल से ही हिंदी मे अपना ली गई होती ता हिंदी काव्यधारा का मार्ग कुछ और ही होता।

नायक और नायिका दोनो की विद्यमानता में रीति मार्ग के कविंद या तो दूती या सखी को वहाँ से खसकाते रहे हैं या फिर नायक की दृष्टि नायिका के स्तनादि अगो पर डालकर विलास को उभारने के लिए नए नए उपाय ढूढते रहे हैं या फिर नायिका के हावों का वर्णन करने लगते हैं। वैसे ही अवसर पर घन आनद जी का प्रेमी इससे बिलकुल भिन्न रूप में दिखाई पड़ता है। 'सुजान के समुख घनानद बैठे हैं। उनकी आखें सब ओर से परिचय छोड़कर उसी की ओर ताकती हैं, पलक नहीं टारतीं। इकटक देखने की जक सदा जागी रहती है। देख देखकर सुख मे भीगी हुई वे कभी रोती हैं कभी हँस पड़ती हैं। चौक कर देखती हैं पर चिंता बनी रहती है। वे लज्जा की शृखला तो तोड़ देतीं हैं, पर उसकी शोभा की शृखला मे बँध जाती हैं जिससे किसी प्रकार का निकास ही नहीं हो सकता। इन चाह बावरे नेत्रों को कुछ ऐसी बानि पड़ी है।'[1]

इस प्रकार के अनेकों वर्णन कवि ने किये हैं। यह भावोद्गारी सयोग रीति काल के लिए ही क्यों हिंदी साहित्य के लिए नवीन है।

(छः) रूप सौंदर्य—

व्रजनाथ ने अपनी प्रशस्ति में इनके विपय में 'सुदरतानि के भेद को जाने' कहा है। भेद शब्द का तात्पर्य या तो विविध प्रकार का हो सकता है या फिर रहस्य। पहले अर्थ के अनुसार आनदघन सौंदर्य के विविध प्रकारों के वर्णयिता सिद्ध होते हैं पर इस प्रकार की कोई विशेपता इनके

१ सु० हि० ७७।

काव्य में लक्षित नहीं होती। दूसरे अर्थ की संगति अवश्य होती है। सौंदर्य की ऐसी विशेषताएँ इनकी रचनाओं में मिलती हैं जो दूसरे कवियों के लिए अज्ञात रहस्य हैं।

इनके कुछ वर्णन तो रीति मार्गी कवियों के से साम्यद्वारा वस्तु प्रख्यापन मात्र के हैं। नाक, कान, उदर, कटि, पीठ, पैर आदि के वर्णन में अलकारों की भरमार की है। जैसे रीति काल की रचनाओं में होता है वैसे यहाँ भी नाक कान आदि का यथार्थ रूप हम नहीं जान सकते। उपमानों की भीड़ ही देखने को मिलती है। उनके द्वारा कवि समय प्रसिद्ध किसी एकाधी विशेषता का परिचय का हो जाता है जैसे नाक का उन्नत होना, कटि की क्षीणता, पैरों की लालिमा आदि। पीठ के वर्णन में कवि कहता है– 'काम कलाधर ने प्रियतम के प्यार की शिक्षा देने के लिए मानो यह पट्टी दी है। इस पर पड़ी वेणी शोभा सुमेरु की सधि तटी है, या मान मवास के गढ की घाटी है, या रसराज के प्रवाह का मार्ग है।'[1] इसी प्रकार कटि की सूक्ष्मता बताते हुए उसे साहित्य शास्त्र की ध्वनि से साम्य देता हुआ कवि कहता है 'कटि का रूप ध्वनि के समान है, जो सूक्ष्म की दृष्टि तान कर देखने से ही दीखती है। अपने साथ लोचनों को लगा लेती है जैसे ध्वन्यालोक की टीका लोचन है। वह लगी हुई भी अलग सी लगती है। सशय होता है कि वह है भी या नहीं'। यही बात ध्वनि के विषय में भी होती है[2]।

उपर्युक्त दोनों वर्णनों में स्पष्ट रूप से अलकार-चमत्कार का प्राधान्य है वस्तु के यथार्थ रूप के वर्णन नहीं हो सकते। इस प्रकार के वर्णन प्राचीनशैली के हैं। रीति काल में यही पद्धति सर्वसाधारण थी। इनमें एक दोष यह भी है कि सौंदर्य के सामूहिक रूप की अभिव्यक्ति न होने से रमणीयता का अभाव रहता है। सौंदर्य, लावण्य, छवि आदि के जितने लक्षण प्राप्त होते हैं उनमें उसकी समूहालंबनात्मक स्वीकृति का सकेत नहीं। घनानद जी के वर्णन दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो जिनका अभी उल्लेख किया गया है। दूसरे प्रकार के वर्णनों में सौंदर्य के समूहात्मक यथार्थ रूप के दर्शन होते हैं। साथ ही उन गुणों का वर्णन बहुत है जिन्हें छवि

१—सुहि० १०३

२—वही ७०

या लावण्य कह सकते हैं, जो शरीर के कण कण मे व्याप्त रहता है। नाक कान आँख उदर कटि आदि सब सुदर होनेसे जैसी समिलित अनुभूति दर्शन की होती है उसका वर्णन उन्होंने किया है। सचमुच यह 'सुदर तानि' का भेद है। साधारण आँखो की पकड़ मे नही आ सकता। आँखें देखें भी तो इसके वर्णन के लिए पुरानी वाणी से काम नहीं चल सकता है। घनानद को सौदर्य का भेद देखने को प्रेम की आँखें मिलीं और इसका वर्णन करने के लिए वे 'भाषा प्रवीण थे।' पहले रूप का यथार्थ चित्रण देखें: —

'सुजान सोकर कुछ कुछ उठी है। रस के आलस्य मे भोई हुई है। पीक पगी पलकें लगी ही हुई हैं। बाल सुघड़मुख पर फैले हैं। उनसे मुख की और ही आभा बन गई हैं। वह अँगड़ाती है, जँभाई लेती है, लजाती है। अग अग में अनग की दीप्ति हो रही है। अधरो मे अर्द्ध स्फुटित शब्द हैं। लड़कपन छलका पड़ता है।[1] 'हुलास भरी मुस्कान अधरों से कपोलो पर चमकती है। बारीक कोमल बाल छुटे हुए हैं। कानो के मूल में बालियों की नोक मुड़ कर लगी हुई हैं। बड़ी बड़ी आँखों में अजन की रेखा हैं। अपनी लज्जाशील चितवन से हृदय को रस मे लिप्त कर देती है। माथे पर सुहाग की बिन्दी चमकती है।[2]

दोनो रूप चित्रणों में रूप का स्वानुभूत यथार्थ चित्रण है। उपमान तो एक भी नहीं आया। चाहे तो चित्रकार सवैया पढकर चित्र तैयार कर सकता है। यह वह ब्योरेवार वर्णन है जिसकी रीति काल में कमी इसलिए रह गई थी कि कवि स्वानुभूत नही कहते थे स्वपठित या स्वश्रुत कहते थे।

समूहात्मक रूप के वर्णन मे अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनो ही नवीन हैं। भूषण भूषित सुदरी के घर से बाहर निकलने का वर्णन उफनाकर चलती हुई नदी द्वारा, जिसने सारा भवन भर दिया हो, किया है।[3]

यौवन के विकसित सौंदर्य का वर्णन करता हुआ कवि कहता है।

१—सुहि० १७

२—वही २६७

३—अग अग नूतन निकाई उमिलन झाई
भौन भरि चली सोभा नदी लौं उफनि है। सुहि० १६७

'अत्यंत सुंदर गोरा मुख झलकता है। तृप्त लोचन कानों का स्पर्श करते हैं। हँस कर बोलती है तो मानो छवि के फूलों की वर्षा छाती पर हो जाती है। चंचल बाल कपोलों पर खेल रहे हैं। गले में पुष्प माला है। अंग अंग से की तरंग उठती है। मानो रूप चू कर पृथ्वी पर गिर पड़ेगा[1]' सौंदर्य के उफान को तरंग बताकर तथा 'परि हैं परच्वै' से उसके विकास को दिखाना घनानंद के नये प्रयोग हैं।

अच्छे मुख पर रूप की नई नई झलक है। उसी प्रकार यौवन की लाली चमकती है। अनंग रंग की तरंग अंग अंग से उठती है। भूषण वस्त्रों की आभा भर कर फैली है। छवि की रस-भीर में नेत्र अधीर होकर गिरते हैं। पर ऊपर ऊपर ही तैरते रहते हैं। उनकी छोटी सी ओक है। इसलिए प्यास की पीर बढ़ती ही रहती है'। इन सब में सौंदर्य का बाह्य स्वरूप नहीं अंतर्दीप्ति व्यक्त की गई है।

इसके अतिरिक्त इनका सौंदर्य प्रायः पूर्ण विकसित यौवन का है तथा मादक है। नायिका भेद की खाना पूरी कहीं नहीं की है। ऐसा वर्णन एक भी स्यात् न मिले जिसमें कवि का हृदय न लिपटा हो। यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि आसक्त लालसा के साथ रूप देखा गया है इस लिए उदासीन बुद्धि की काव्य चातुरी इन वर्णनों में कम मिलती है।

रूप का जहाँ वर्णन है वहीं उसके प्रभाव का भी है। जैसे 'सुजान के रूप की अनुपम झलक का कहाँ तक विचार किया जाए। इसके माधुर्य की गहराई में लावण्य की लहरें उठती हैं। यदि इसकी समता आरसी से की जाये तो वह भी बूझ की अबूझ ही होगी। इसके अच्छे अंगों को देखकर तो अपना आपा भी दिखलाई नहीं देता। आरसी में मुँह दीखता है। इसका स्वाभाविक हँसना मोहिनी की खानि है। इस पर रीझ भी रीझ कर भीज जाती है। क्या न्यौछावर किया जाए। इसके संकोच में हम तो हार गये।[2]'

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने ज्ञातृ प्रधान वर्णन के दो भेद किये हैं, भाव-मय तथा अप्रस्तुतमय। अप्रस्तुमय में साम्यादि के लिए उपमानों का प्रयोग

१—घ० ग्र० प्रकीर्णक ?
२—सुहि १५४

होता है। भावमय में कवि वर्ण्यवस्तु और तज्जनित स्वहृदयानुभूति दोनो का उल्लेख करता है[1]। पहली श्रेणी मे घनानद के नाक, कान आदि अवयवो के वर्णन आते हैं दूसरे में समूहात्मक वर्णन। ये दोनों प्रकार के ज्ञातृ प्रधान हैं, विषय प्रधान नहीं—अर्थात् देखनेवाले का हृदय अपनी अनुभूति रजित आँखो से रूप को देखता है। उदासीन दृष्टि से नहीं। प्रेमी का चित्त प्रिय के अगों की आभा के साथ स्वय द्रवीभूत होकर उसके हँसने, बोलने तथा देखने आदि के विषय-रगों से अपने अश्रुप्रवाह मे चित्र खींच लेता है। अर्थात् प्रेमपात्र का जो चित्र खिंचा है उसमे प्रेमी के चित्त का भी चित्र है।

> अग अग आभा सग द्रवित स्रवित ह्वै कै
> रचि सचि लीनी सौंज रगनि घनेरे की।
> हसनि लसनि आछी बोलनि चितौनि चारु
> मूरति रसाल रोम रोम छबि हेरे की।
> लिखिराख्यौ चित्र यौं प्रवाहरुपी नैनन मै
> लही न परति गति उलट अनेरे की।
> रूप कौ चरित्र है आनंदघन जान प्यारी
> अकि धौं विचित्रताई मो चित चितेरे की।

सुहि० २ ११

ज्ञातृ प्रधान के होने कारण ही रूप का प्रभाव बार बार वर्णित किया गया है। प्रिय की निकाई पर रीझ बिकजाती है। उनके यौवन घूँघरे नेत्र देख कर बुद्धि ममता को न्यौछावर कर बावली हो जाती है। उनके बोलने पर प्रेमी के बोल बन्द हो जाते हैं। उनके न देखने को भी देखते ही रह जाते है। बुद्धि व्यापार का रूप के सम्मुख पराजित हो जाना बार बार कहा गया है। रूप की सेना सजी देख कर धैर्य का गढपति भाग जाता है। हृदय नगर में वह प्रवेश कर लेता है तो नेत्र उसी से जा मिलते हैं। फलस्वरुप लज्जा की लूट हो जाती है। रीझि पटरानी हो जाती है, बुद्धि दासी[2]।

साराश मे इस विषय में निम्न लिखित तथ्य निकलते हैं—

१—घनानद का रूप वर्णन कुछ रीति काल की शैली का चमत्कार प्रधान है जिसे उनकी प्रारम्भिक रचना मानना चाहिए शेष उनकी व्यक्तिगत अनुभूति है

१—देखिये रस मीमासा पृष्ठ० ११२

२—वही ३४, ४८

२—रूप वर्णन मे द्रष्टा की आसक्ति झलकती है। चाह के रग भीजे हृदय तथा रीझ बावरे नेत्रों ने देख कर रूप का वर्णन किया है।

३—रूप मादक तथा पूर्ण विकसित विलासी है जिस से वेश्या प्रेम का अनुमान होता है

४—शारीरिक सौदर्य के सश्लिष्ट चित्रण भी किए है,

५—सौदर्य की अतर दीप्ति जितनी अधिक वर्णित हुई है उतना वाह्य स्थूल रूप नहीं।

६—अनुभूति सत्य होने से उनकी अभिव्यक्ति के लिए नये प्रतीक कवि ने प्रयुक्त किए हैं।

(ज) प्रकृति वर्णन

स्वच्छन्दमार्गी कवियों का स्वतत्र चितन जैसा भाव क्षेत्र में मिलता है वैसा प्रकृति वर्णन मे नहीं। प्रकृति का खुला क्षेत्र न तो इनके प्रेम व्यापारो का क्रीडा स्थल बना है न प्रेम का विषय ही। अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह उपनाम द्विजदेव की रचनाओं मे इसका कुछ आधार अवश्य मिलता है। पर दूसरे स्वच्छद मार्गी लोग अंतर्वृत्ति प्रधान थे। उनका प्रेम भावात्मक था घटनात्मक नहीं। स्वाभाविक था कि इनकी प्रतिभा हृदय के विश्लेषण मे रत हुई वाह्य के वर्णन मे नहीं। घनानद सब से अधिक अन्तर्मुख है। फलत. इनका प्रकृति वर्णन सयोगी या वियोगी प्रेमी की हृदय दशा की व्यजना है, प्रकृति सौन्दर्य की नहीं। प्रकृति उद्दीपन है स्वतत्र आलबन नहीं। यहाँ ये रीति मार्ग से हटते हुए नहीं प्रतीत होते। प्रभात, सध्या, रात्रि, दिवाली, होली, वर्षा, बसत, चातक मलयानिल, झूला, आदि का वर्णन कवित्त सवैयो मे तथा ब्रज, यमुना, बसत, वर्षा. गोचारण, छाकभोजन आदि का ग्रन्थों मे हुआ है।

वियोगिनी को प्रभात की अपेक्षा सध्या प्रिय लगती है। क्योकि उस समय प्रिय मिलन होता है। रात प्रिय के सयोग मे तो भ्रम सी बीत जाती है। पता भी नहीं लगता। यह प्रिय के श्यामल्व सी, आनद की सीढी सी. गोपियों की आखो के अजन सी, अथवा रसराज सी रमणीय लगती है। पर वही वियोग मे काली सर्पिणी होकर डसने आती है[१]

१—वही २६८

होता है। भावमय में कवि वर्ण्यवस्तु और तज्जनित स्वहृदयानुभूति दोनो का उल्लेख करता है[१]। पहली श्रेणी मे घनानद के नाक, कान आदि अवयवो के वर्णन आते हैं दूसरे में समूहात्मक वर्णन। ये दोनों प्रकार के ज्ञातृ प्रधान हैं, विषय प्रधान नहीं—अर्थात् देखनेवाले का हृदय अपनी अनुभूति रजित आँखों से रूप को देखता है। उदासीन दृष्टि से नही। प्रेमी का चित्त प्रिय के अगों की आभा के साथ स्वय द्रवीभूत होकर उसके हँसने, बोलने तथा देखने आदि के विषय-रगो से अपने अश्रुप्रवाह मे चित्र खींच लेता है। अर्थात् प्रेमपात्र का जो चित्र खिचा है उसमे प्रेमी के चित्त का भी चित्र है।

> अग अग आभा सग द्रवित स्रवित ह्वै कै
> रचि रुचि लीनी सौज रंगनि घनेरे की।
> हसनि लसनि आछी बोलनि चितौनि चारु
> मूरति रसाल रोम रोम छबि हेरे की।
> लिखिराख्यौ चित्र यौं प्रवाहरुपी नैनन मैं
> लही न परति गति उलट अनेरे की।
> रूप कौ चरित्र है आनंदघन जान प्यारी
> अकि धौं विचित्रताई मो चित चितेरे की।

सुहि० २ ११

ज्ञातृ प्रधान के होने कारण ही रूप का प्रभाव बार बार वर्णित किया गया है। प्रिय की निकाई पर रीझ बिकजाती है। उनके यौवन घूँघरे नेत्र देख कर बुद्धि ममता को न्यौछावर कर बावली हो जाती है। उनके बोलने पर प्रेमी के बोल बन्द हो जाते हैं। उनके न देखने को भी देखते ही रह जाते है। बुद्धि व्यापार का रूप के सम्मुख पराजित हो जाना बार बार कहा गया है। रूप की सेना सजी देख कर धैर्य का गढपति भाग जाता है। हृदय नगर में वह प्रवेश कर लेता है तो नेत्र उसी से जा मिलते हैं। फलस्वरुप लज्जा की लूट हो जाती है। रीझि पटरानी हो जाती है, बुद्धि दासी[२]।

सारांश मे इस विषय में निम्न लिखित तथ्य निकलते हैं—

१—घनानद का रूप वर्णन कुछ रीति काल की शैली का चमत्कार प्रधान है जिसे उनकी प्रारम्भिक रचना मानना चाहिए शेष उनकी व्यक्तिगत अनुभूति है

१—देखिये रस मीमासा पृष्ठ० ११२

२—वही ३४, ४८

२—रूप वर्णन में द्रष्टा की आसक्ति झलकती है। चाह के रंग भीजे हृदय तथा रीझ बावरे नेत्रो ने देख कर रूप का वर्णन किया है।

३—रूप मादक तथा पूर्ण विकसित विलासी है जिस से वेश्या प्रेम का अनुमान होता है

४—शारीरिक सौंदर्य के संश्लिष्ट चित्रण भी किए हैं,

५—सौंदर्य की अतर दीप्ति जितनी अधिक वर्णित हुई है उतना बाह्य स्थूल रूप नहीं।

६—अनुभूति सत्य होने से उसकी अभिव्यक्ति के लिए नये प्रतीक कवि ने प्रयुक्त किए हैं।

(ज) प्रकृति वर्णन

स्वछन्दमार्गी कवियो का स्वतत्र चितन जैसा भाव क्षेत्र में मिलता है वैसा प्रकृति वर्णन में नही। प्रकृति का खुला क्षेत्र न तो इनके प्रेम व्यापारो का क्रीडा स्थल बना है न प्रेम का विषय ही। अयोध्या नरेश महाराज मानसिंह उपनाम द्विजदेव की रचनाओ में इसका कुछ आधार अवश्य मिलता है। पर दूसरे स्वछद मार्गी लोग अतर्वृत्ति प्रधान थे। उनका प्रेम भावात्मक था घटनात्मक नहीं। स्वाभाविक था कि इनकी प्रतिभा हृदय के विश्लेषण में रत हुई बाह्य के वर्णन में नहीं। घनानद सब मे अधिक अन्तर्मुख हैं। फलत. इनका प्रकृति वर्णन सयोगी या वियोगी प्रेमी की हृदय दशा की व्यजना है, प्रकृति सौन्दर्य की नही। प्रकृति उद्दीपन है स्वतत्र आलबन नही। यहाँ ये रीति मार्ग से हटते हुए नही प्रतीत होते। प्रभात, सध्या, रात्रि, दिवाली, होली, वर्षा वसंत चातक मलयानिल, झूला, आदि का वर्णन कवित्त सवैयो में तथा व्रज यमुना, वसत, वर्षा, गोचारण, छाकभोजन, आदि का निबंधो में हुआ है।

वियोगिनी को प्रभात की अपेक्षा सध्या प्रिय लगती है। क्योंकि उस समय प्रिय मिलन होता है। रात प्रिय के सयोग मे तो भ्रम सी बीत जाती है। पता भी नही लगता। यह प्रिय के श्यामलता सी, आनंद की सौंदी सी, गोपियो की आखो के अजन सी, अथवा रसराज सी रमणीय लगती है। पर वही वियोग में काली नागिनी होकर उसने आती है[१]

१—वही २६=

वसत वियोगिनी को सिंह सा लगता है जो टेसू के नखूनों से उनका हृदय फाड देगा[२]। कभी कभी वह कामदेव का सहायक होकर वियोगिनियो को जीतने आता है[3]। वर्षा मे पुरवाई से शरीर जलता है। बादल बावला बनाते हैं। बिजली की चमक नेत्रों को पीडा देती है। और क्या पुष्पो की सुगन्धि तक दम घोटती है। जैसे बादल बरसते हैं वैसे ही वियोगिनी की आखें भी बरसती हैं। बादल जल नही वियोग सततो की दशा पर आँसू बरसाते हैं। कोयल मोर, चातक आदि पक्षी उसके हृदय के टुकडे किये देते हैं[४]। चादनी प्रलय के बादलों सी उन्हें डुबाती हुई बढती है। कभी ऐसा लगता है कि आकाश से पृथ्वी की ओर अग्नि की लपटें आ रही हैं[५]। मलयानल तीर सा तीक्ष्ण लगता है।[६]

चातक अपने बाण तुल्य बोलों से प्राणों का वेवे डालता है। दिवाली मे और तो दीपक जला कर रगरॅगलिया करते हैं पर वियोगिनी हृदय जला कर योग समाधि सी लगाये बैठी है[७]।

होली तथा फाग का वर्णन सयोग वियोग दोनो पक्षो में किया गया है। शेष मे वियोग पक्ष है जैसा ऊपर दिखाया गया है।

इस तरह आनदघनजी का प्रकृति वर्णन पारपरिक है। भाव प्रधान कवि के लिए यही सभव है।

ज—वियोग का स्वरूप

१—कवि की वियोग प्रधान मनोवृत्ति

प्रेम मार्गी कवियो की रचनाओं मे सयोग पक्ष की अपेक्षा वियोग पक्ष की प्रधानता लक्षित होती है। जायसी आदि सूफी सत, शेखनिसार आदि फारसी काव्य धारा के कवि तथा आलम बोधा, घनानद आदि स्वच्छद प्रेम के कवि इन सभी की वृत्तियों में वियोग का प्राधान्य है। घनानद की भक्ति प्रधान रचनाए, जिनमें पदावली तथा निबध आते हैं वियोग प्रधान नहीं है। यहाँ राधाकृष्ण के विहार, विलास का गोपियों तथा राधा के विरह के समान ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। पर कवित्त सवैया में, जहाँ लौकिक

२—३१५

३—३१५

४—३७१ ५—सुहि० ७६, ७८, ६६ ६—वही ६४, १६८

७—वही ४५

प्रेमका मुख्यतया वर्णन है, वियोग ही मुख्य है। वियोग की यह प्रमुखता प्रासंगिक रूपसे ही नहीं हुई है। कवि की आस्था भी ऐसी है। प्रेम क्षेत्र मे दु:ख, वेदना आदि के बिना न तो वे काव्य की उत्तमता मानते और न कवि की। उनके अनुसार रसिकता वेदना द्वारा परिलक्षित होती है। व्यथित हृदय की पुकार ही श्रेष्ठ कविता है—यह उनका मत है। इस विषय मे वे संस्कृत के प्रसिद्ध नाटककार भवभूति तथा अंगरेजी के महाकवि शेली के समान हैं[1]। इनका मत है कि 'जबतक मर्मस्थल व्यथित नहीं होता तब तक किसी बात का मार्मिक रहस्य नहीं जाना जा सकता। वाणी की खिलवाड़ मर्म पर आघात नहीं कर सकती। राग (गीत) का स्वरूप तो राग (अनुराग) से ही जाना जा सकता है। नहीं तो बिना आंखो के कान व्यर्थ शब्दो को टकटोरते रहेंगे। प्रेम की कथा अकथ है। इस की तान अथाह है। यदि रोना नहीं आता तो गाना भी रोने के समान है। 'गोपियो की सिसक और उनकी कसक जब तक हृदय मे नहीं आई तब तक रसिक कहलाना व्यर्थ है। रसिकता कुछ और ही चीज है।''

'मरम भिदे न जो लौं मरम न पावै तौ लौं,
मरमहि भेदै कैसें सुरनि बघोइबो
राग ही तें राग के सरूप सों चिन्हारि होति
नैन हीन काननि असूझ टकटोइबो
प्रेम आगि जागें लागें झार घन आनंद को
रोइबो न आवे पै गाइबो हू रोइबो
× × ×
गोपिन की ससक कसक जो न आई मन
रसिक कहाए कहा रस कहू खोइबे[2]

इस वियोग परक दृष्टि के कारण ही कवि ने सयोग मे भी वियोग के दर्शन किए हैं जिसका विस्तृत उल्लेख सयोग के प्रसंग मे हो चुका है।

१—भवभूति—एकोरस करुणएव, उत्तर रामचरित। शैली-Our sweetest songs are those that tellof saddest thoughts

२—प्रकीर्णक—३०, ३१।

इसीप्रकार इश्कलता में भी अपनी इस मान्यता को प्रकट किया है—

सयोगीहूइश्क तें इश्क वियोगी न्यून।
आनँदघन चरसों सदा लग्या रहै मदिपून। इश्कलता—८

२—परंपरा

शृगार की वियोग प्रधान दृष्टि की परपरा पर विचार किया जाए तो पता लगता है कि यह विशुद्ध रूप से हिन्दी सस्कृत की काव्य धारा की नही है। सस्कृत काव्य धारा जो सूफी सतो से पहले तक विविधरूपो मे अवतरित हुई और तुलसी सूर आदि से लेकर रीति काल तक बहती रही है इसमे सयोग और वियोग दोनों ही समान रूप से काव्य के विषय बने हैं। सस्कृत के प्रेम कवि कालिदास ने वियोग की मार्मिक पीड़ा और सयोग का उच्छलउल्लास दोनों का वर्णन किया है। कही सयोग के बाद वियोग जैसे शकुतला नाटक तथा रघुवश के इदुमती विरह मे, कहीं वियोग के बाद सयोग जैसे कुमार सभव मे, दिन रात के पर्याय क्रम से आते रहते हैं। मेघ दूत जैसी विरही की सदेश कथा के काव्य में भी प्रकृति वर्णन मे भरपूर सयोग आया है। विल्हण की चौर पचाशिका विरह का प्रेम काव्य है। पर उसमें भी प्रधानतया पूर्व सयोग का ही स्मरण है।

हिंदी का सर्व प्रथम प्रेमाख्यान 'ढोला मारूरा दूहा' है। इसमे भी सयोग का उल्लास और वियोग की वेदना समान भाव से वर्णित हैं। कबीर, दादू-आदि ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति में अप्रस्तुत रूप से जो शृङ्गार का आश्रयण किया है उसमें भी सयोग और वियोग दोनों सामान हैं। वे जिस प्रकार दुलहा दुलहिन का परस्पर मिलन दिखाते हैं उसी प्रकार विरह में 'सपूर्ण शरीर रबाब बन कर प्रिय का राग अलापने लगता है जिसे या तो प्रेमी सुन सकता है या प्रिय[1] ।' राम और कृष्ण की भक्ति धारा में भी इसी प्रकार सयोग वियोग समान रूप से आते हैं। मीरा की रचनाओ मे वियोग की प्रधानता अवश्य है। उसका कारण सूफी के और फारसी के कवियों का प्रभाव है।

रीति मार्गी कवि तो शास्त्र परपरा के अनुयायी हैं। शास्त्रों की रस मीमासा में सयोग और वियोग दोनों पर तुल्य बल दिया जाता है। अनुभाव, सचारी भाव आदि का विवेचन प्राय. सयोग के प्रसग से ही किया जाता है। अत. कह सकते हैं कि सस्कृत की काव्य धारा में अत तक सयोग और वियोग समान रूप से चलते रहे हैं।

१—सब रग तत रबाब तन विरह बजावे नित्त।
और न कोई सुन सकै कै साई कै मित्त॥

ना० प्र० सभा० का० ग्र० पृ० १२

वियोग प्रधान प्रवृत्ति का मूल हिंदी के साहित्य की दूसरी धारा में जो सूफियों द्वारा भक्तिकाल में प्रारंभ होकर रीति काल में फारसी पद्धति से मिल कर हिंदी में प्रविष्ट हुई थी, विद्यमान है। सूफी और फारसी कवि दोनों ही वियोग को प्रमुखता देते हैं। सूफियों का तो वियोग उनकी निष्ठा है। प्रकृति का 'कन कन' परमेश्वर के विरह में व्याकुल है। 'रन बन' विरह के बाणों से विद्ध है। यह विरह शाश्वत है। कभी कभी चेतनावस्था में क्षण भर के लिए संयोग सुख मिलता है। फारसी के कवि भी प्रेम की एक निष्ठता और अनन्यता दिखाने के लिए प्रिय को कठोर तथा निर्मोह दिखाते हैं। इसलिए विरह की प्रधानता आ जाती है। स्वच्छंद धारा के कवियों ने विशेषतः घनानद ने फारसी काव्य पद्धति से प्रिय की कठोरता और सूफी कवियों ने प्रेम की पीर की प्रेरणा ली है। फलतः उनकी रचनाओं में वियोग का प्राधान्य स्वाभाविक है। आलम और रसखान ने संयोग का वर्णन भी किया है पर आलम की ऐसी रचनाएँ तो उनके स्वच्छंद मार्गी होने से पूर्व की हैं और रसखान के प्रेम में भक्ति भाव का सम्मिश्रण इस अपवाद का हेतु है। उन्होंने 'प्रेम वाटिका' में त्याग और साधना से प्रेम के परिमार्जन का प्रतिपादन करते हुए भक्ति रूप में उसे सुखात्मक ही माना है। मनोवेगों का सबंध आनंदकंद भगवान से होता है तो उस में दुख की कल्पना ईश्वर विश्वास तथा उसकी आनंदस्वरूपता के विरुद्ध ठहरती है। आर्तभक्त भगवान की शरण में अपने काल्पनिक सुख का नीड़ बना लेता है। इसी का आभास 'जो पशु हों तो' आदि भावों में प्रतीत होता है। भक्ति के क्षेत्र में घनानंद ने भी इस लिए संयोग सुख का वर्णन किया है। पर इनके प्रेम का लौकिक पक्ष फारसी भाव धारा से अधिक प्रभावित है और अलौकिक पक्ष सूफी धारा से। तुलना करें तो फारसी काव्य का प्रभाव ही अधिक प्रतीत होता है।

वियोग इन दोनों में ही प्रचुरता से विद्यमान रहता है फलतः घनानद की शृंगार दृष्टि वियोग प्रधान हो गई है।

(३) मनोवैज्ञानिक हेतु

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार कवि की दुःखदर्शिता का कारण मनोवेगों का अतिरेक है। मनोवेग क्षणिक और प्रायः अनफल होते हैं। वे बार बार उठते हैं और नष्ट होते रहते हैं। उनमें कभी कभी दुखजनक मनोवेगों की आँधी सी हृदय में उठ जाती है। घनानन्द के निम्न लिखित पद्य में मनोवेगों का ऐसा ही आवेग प्रतीत होता है।

अतर हौकिधौं अंतर हौ, दग फारि फिरौंकि अभागनि भीरौ।
आगि जरौं अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौ ॥
जौ घनआनद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्रानन पीरौं।
पाऊँ कहां हरि हाय तुम्हें धरती में धसौं कि आकासहि चीरौ ॥[1]

ऐसे आवेग पूर्ण मनोवेग हृदय में उत्पन्नविनिष्ट होकर एक अवसाद का चिन्ह शेष छोडते हैं। वाह्य सौन्दर्य का हर्ष भी इस आवेग के समुद्र में पड़ कर क्षार हो जाता है। इस लिए इन कवियों को प्रिय का सयोग और प्रकृति सुपमा आदि उद्दीपन हर्ष उल्लास आदि के हेतु न बन कर विपाद और शोक ही उत्पन्न करते हैं।[2] ऐसा कवि जब किसी प्रकार से वाह्य सौंदर्य को भाव नेत्रों से देखता है तो वह अपने आतरिक सौन्दर्य के ऐसे किसी स्रोत में लीन हो जाता है जो अशेप वाह्य सौन्दर्य का आगार है। जब उस का मन आन्तरिक प्रेम से आविष्ट हो जाता है तो वाह्य जगत उसकी आखों में तिरमिराता हुआ शनैः शनै. लुप्त हो जाता है। रह जाता है केवल कवि और उसके शून्यचारी भाव।[3]

प्रिय आनन्दघन को सवोधित करते हुए चातक का कथन है कि 'मै जिस प्रकार तुम्हें प्रेम करता हूँ वह कैसे बताऊँ। आप तो सुजान हैं। इन प्राणों की एक मात्र आप ही गति हो। मेरी बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वचनों मे तुम्हारा निरतर वास होने से आपस का भेद लुप्त हो गया है। अब तो सारा जगत दृष्टि से दूर हो गया। केवल तुम्हीं छाये हुए हो। मैं तो चातक के समान आप की ओर आर्तभाव से देख रहा हूँ।[4]

यह पद्यार्थ उपर्युक्त मनोवैज्ञानिक तथ्य का समर्थक प्रमाण है। इनकी रचनाओ मे सयोग-वियोगानुभूति का जो अनेकधा अनेकत्र वर्णन हुआ है उसका कारण यही तथ्य प्रतीत होता है। 'प्रिय को देखने में न देखने का अविश्वास बना रहता है। दर्शन है या छल यह भी निश्चय नहीं होता।

१—सुहि ५१६
२—देखिये सयोग वर्णन में आलवन और उद्दीपन का विचार ।
३—डा० सूर्यकान्त साहित्य मीमासा पृ० १८३
५ मन जैसे वयू तुम्हें चाहत है सुवखानियै कैसें सुजान ही हौ
इन प्राननि एक सदा गति रावरे बावरे लौं लगियै नित लौ
बुधिओ सुधि नैननि बैननि में करि वास निरतर अतर गौ
ववरौ जग छाय रहे धन आनद चातिक त्यौं तकि मै अब तौ सुहि० २६५

मिलनमें अनमिलन की कुशल वर्तमान रहती है। फलतः संयोग हो या वियोग चटपटी चाह में पड़े हुए मन की दशा बड़ी अटपटी हो जाती।[१]

कारण कुछ भी हो। घनानंद के चिंतन में विरह की सर्वोपरि प्रधानता है। जिन गुणों के लिए वे प्रसिद्ध हैं और जिनके द्वारा रीति मार्ग से वे पृथक होते हैं वे सब विरह में ही अभिव्यक्त हुए हैं। भावों की सूक्ष्मता, सहजता, मार्मिकता, आवेग, आतरिकता आदि विशेषताएँ विरह में ही प्राप्त होती हैं।

भेद

रसाचार्यों ने विरह के चार भेद किए हैं। पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण। रीति मार्गी प्रत्येक कवि ने रीति पालन के लिए प्रायः चारों प्रकार दिखाए हैं। स्वाभाविक है कि इन सभी की अभिव्यक्ति रीति पालन के लिए भले हो कवि का अभिनिवेश सब में नहीं हो सकता। अनुभूति भी सबकी नहीं हो सकती। घनानंद की दृष्टि इन भेदों पर नहीं गई है। वे आकार के सवारने वाले नहीं हैं। प्राणों का नि श्वास-प्रश्वास-प्रकट करते हैं। इस अर्थ में भी ये स्वच्छन्द मार्गी सिद्ध होते हैं। शास्त्रीय परपरा का कवि काव्य के बाह्य भेद, रूप, आकार, उक्ति के स्वरूप आदि को बुद्धि पूर्वक सजाता है और स्वच्छन्द मार्गी भावों की सीधी सादी अभिव्यंजना करता है[३]।

'भावना भेद सरूप को जानै।'

वर्णन इनकी शुद्धि की उपचेतनावस्था का परिणाम है यह उन्होंने स्वयं कहा है।

समझि समझि बातें छोलियौं न काम आवे
छावै घन आनंद सु जोलौं नेह बौरई

इस सबके कारण इनके काव्य में विरह के समस्त भेद नहीं मिलते। पूर्वराग जन्य और प्रिय की कठोरता से उत्पन्न विरह अधिक वर्णित हुआ है। यत्र तत्र प्रवासजन्य के दर्शन होते हैं। निर्मोह जन्य विरह का सबसे अधिक प्राचुर्य है। यह भेद रीति की परंपरा में मान के अन्तर्गत विद्यमान

---

२. सुहि ७८१

३ देखिए स्वच्छन्द मार्ग प्रकरण

था पर उसका स्वरूप इससे कुछ भिन्न होता है। माननी नायिकाएँ ही होती थी। इधर ऐसी बात नहीं है। इनका स्वरूप निम्न प्रकार का है।

पूर्व राग

'प्रिय के दर्शन के बाद आखें उसी की चेरी हो गई हैं। लौटने से भी लौटती नहीं। रूप से तृप्त होकर वहीं संलग्न हो गई हैं। प्राणो को साथ लेकर परवश बन गइ हैं। इन्होंने प्रेम की वेड़ी व्यर्थ ही पैरो में डाल दी।

नेत्र अब किसी को देखते ही नहीं। वे पुतलियो मे ऊखिल की तरह लटकते रहते हैं। ठहरने के लिए कोई स्थान नहीं। मूदें तो बड़ी आकुली होती है। यह नई असाध-व्याधि भगवान ने दे दी है।

प्रिय का रूप देख कर मन मति, गति, नेन आदि अपने वश में नहीं रहे। प्रिय ही नेह लगा कर रूखा हो जाए तो कैसे काम चले। चकोर तो चन्द्रमा के प्रेम में ही चिनगारिया चुनता हे[1]

प्रवास

'तब तो ये साथ थे। अब उन्हे यह कैसे अच्छा लगा कि सब सुखो को साथ लेकर मुझे वियोग देकर चले गए। रसरग से सींचे इन अगो को अनग के हाथों सौंप कर हृदय में विषम विषाद की वेल बोकर चले गए। ये निगोड़ प्राण उनके पीछे क्यो न लगे। अब मैं बडी अधीर हूँ। पीड़ा की भीड़ ने अकेली मुझे घेर लिया है।

'भाग्य वश प्रिय परदेश मे हैं। जीव इसलिए जीवित है कि यह कोई नई बात नहीं है। जो पड़ती है सो सहते हैं। किसे कहें। सारा ससार शून्य हो गया है। घनआनद कहीं नहीं मिलते। मन तो वियोग में चेतना खोकर बैठा है और मित्र ने भूल कर भी सुधि नहीं ली।[2]

निर्मोह जन्य

'पहले उन्होंने मीठी मीठी बातें कह कर स्नेह प्रदर्शित किया। स्वयं ही फिर वियोग की अग्नि लगाकर विश्वासघात किया। अब प्राण तो

१—सुहि २, ७, २५

२—वही १८३, ४६२

निकलना चाहते हैं पर आशा का पाश उनके गले में फँसा हुआ है इसलिए वे आस पास फिरते ही रहते हैं। न निकलते हैं न सुख से रहते।

'हे प्रिय सुजान, तुम्हारे गुणों ने हृदय को बाँध लिया है। फिर भी तुम मेरा सुध छोड़ दो यह बड़े आश्चर्य की बात है। अपने प्रेम में रंग कर तथा प्रकट रूप से अनुराग दिखाकर अब दृष्टि बचाते हो ?'

'पहले संदेशा मिल जाता था। इसमें मेल सा मान लेते थे पर अब उसका भी अँदेशा रह गया। अब किस आशा से जीवित रहा जाए। हृदय में उद्वेग की अग्नि भड़क उठी है। रोम-रोम में पीड़ा है। तुमने हृदय अत्यन्त कठोर कर लिया। मोह मिटा डाला। हे जान प्यारे ? निकटवर्ती होकर भी दूर की चोट मारते हो'।

अनुभूति

कवि के वियोग वर्णन की विशेषता उसकी अनुभूति में है। इस विषय में यह हिंदी के रीति मार्गी कवि तथा उर्दू फारसी के शायर दोनों से भिन्न सिद्ध होते हैं। रीति मार्गी लोग बुद्धि के बल से शास्त्रीय लक्षणों के अनुसार विरह का वर्णन करते हैं, व्यक्तिगत अनुभूति का नहीं। 'उन्होंने हिय आखिन नेह की पीर नहीं तकी थी। कवि का वैयक्तिकता केवल उसके उक्ति वैचित्र्य में रहती है। इस लिए वह वैचित्र्य इतना बढ़ा कि अतिशयोक्ति का आश्रयण करना स्वभाव सा बन गया। बिहारी, पद्माकर, देव जैसे उच्च कोटि के कवि भी इसी आवर्त में पड़े हुए दिखाई देते हैं। परिणाम स्वरूप कविता में न कोई मार्मिकता रहती। न सत्यता है। शंकर का निम्न लिखित पद्य इसका निदर्शन है।

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबर तें ऊँची चढ़ि जायगी।
झारेंगे अगारे, वे तरनि तारे तारापति
या विधि खमंडल में आग मढ़ि जायगी।
दोनों ओर छोरन लौं पल में पिघलकर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी

१—घ० ग्र०—२६ = ७।

काहू विधि विध की बनावट बचेगी नाहि
जौ पै या वियोगिनी की आह कढ़ि जायगी[1]

बिहारी की अतिशयोक्तियाँ इस विषय मे प्रसिद्ध ही हैं। इन सबका कारण अनुभूतियों में निजत्व का अभाव है।

उर्दू फारसी के कवियो मे भी यही तत्व विद्यमान है। सत्यानुराग के अभाव की पूर्ति उक्ति वैचित्र्य और अतिशयोक्तियो से वहाँ की जाती है। किसी के आँसू एकत्र होकर समुद्र बन गए हैं।

'समुन्दर कर दिया नाम उसका नाहक सबने कह कर।
हुये थे जमा कुछ आसू मेरी आँखों से बह बह कर॥

किसी का हृदय बत्ती की तरह वियोग की अग्नि मे जल जल कर नष्ट होता रहता है।

यहाँ तक आतिशे फुरकत ने तेरी मुझ को फूका है
रगें जो जलती रहता हैं चिरागे दिल में बत्तार्सा[2]

घनानद की विरहानुभूति अपनी मार्मिकता, सत्यता, तथा निश्छलता के कारण उक्त दोनों प्रकारो से भिन्न है। इसका कारण कवि का व्यक्ति गत विरह है। बुद्धि बल से वर्णन करने के विपरीत अपनी मति, गति, खोकर लिखने वाले वे हैं[3]। उन्होंने विरह से अपने शरीर को सततकर बन में रह कर प्रेम के प्रण का निर्वाह किया था।

विरह सौं तायौ तन निबाह्यौ बन साचोपन
धन्य घन आनद मुख गाई सोई करी है[4]।

'फलत विरह का एक एक शब्द कवि के हृदय की मर्म कथा कहता प्रतीत होता है। इन स्थलो पर कवि अभिधावृत्ति द्वारा भावाभिव्यक्ति में ही व्यस्त रहता है। उक्ति के चमत्कार की ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता। यही सब से बड़ा गुण है जिस के कारण ये स्वच्छद प्रवृत्ति के कवि कहे जाते हैं। जहाँ विरह बौद्धिक है वहाँ प्रदर्शन की प्रचुरता है। पर

१—घनानद ग्रथावली भूमिका पृ० ३३ पर उद्धृत।
२—सौदा—अ० प० गोयलीय की शेर ओ शायरी में उद्धृत।
३—हित वृनदावनदास कृत 'हरि कलावेलि।
४—देखिए सुहि १७८ तथा घनानद ग्र० प्रकीर्ण ११।

आनदघन की वियोग कथा आतरिक है। वह प्रगट होना नहीं चाहती। प्राण पीडा का चीत्कार भी करते हैं तो मौन मे करते हैं। विरही का जीव अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है। प्राण आतरिक अग्नि मे तचते रहते हैं। अग उनींजता है। जीव मसोसो की उमस से व्याकुल है। प्रिय की स्मृति भाले की नोक की तरह कसकती है। इस मन्मथ पीडा से घर भी भाकसी सा लगता है।[1]

करुण रस के प्रसिद्ध कवि भवभूति ने भी सच्ची व्यथा का ऐसा ही स्वरूप बनाया है। वह गभीर होने के कारण बाहर प्रगट नहीं होता अन्दर ही अन्दर पुट पाक की तरह पक पक कर घनीभूत होती रहती है।[2]

८—आशा निराशा

इसी प्रकार कभी निराशा हृदय पर छा जाती है तो कभी आशा का सचार होने लगता है। निराशा मे वियोगी कहने लगता है प्रिय तुम कब आओगे, इधर तो बहीर के समान समस्त आयु लद चुकी है, जो प्राण पखेरु प्रियरूप के चुगे को देखकर उसके गुणो के फदे मे फस गए थे अब वे तड़प रहे हैं, हे सुजान! प्रेम से इन्हे पाल कर वियोग के हाथों मे निर्दयता से इन्हें क्यों मारते हो? अब तो अवधि का सूर्य भी अस्त होने वाला है, अपने मुख चन्द्र को दिखाओ[3] कभी विरही उस दिन की आशा में प्रसन्न होता है जब प्रिय की शृङ्गार मूर्ति नेत्रों का अजन बनेगी। कपोलो से उनके पैर माजे जाएगे। प्रिय के अग अग की शोभा मे अपने अंग डुबा कर अनग पीड़ा दूर की जाएगी। हृदय जो दलक गया है वह उनकी दरकौही बान मे रज आएगा. वह उस दिन की आशा लगाये है जब उसके नेत्रो के आसू प्रिय के पैर पखारेंगे।[4]

९—उन्माद और चेतना

मनोवेग प्रधान काव्य में भावावेग का आना स्वाभाविक है। विषाद की चरमावस्था उन्माद मे होती है, जब बुद्धि अपनी चेतना खोकर विक्षिप्त

१—देखिए सु० हि० १७१ तथा घ० ग० प्रकीर्ण ११

२—अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढ घनव्यथः, पुट पाक प्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः।
उत्तर राम चरित अक ३, पद्य १

३—वही ४८।

४—वही ३००, ५६।

हो जाती है, वियोगी विलाप करता करता चारों ओर देखने लगता है। ऐसी आवेग पूर्ण मनोदशा का अनेक पद्यों मे वर्णन किया गया है। इस दशा मे विरही की बुद्धि खो जाती है, स्मृति नष्ट हो जाती है। मौन धारण किए वह कभी रोता है, कभी हसता है, कभी चौंक कर देखने लगता है। चलते-चलते बातें करता है। भूताविष्ट सा वह हो गया है।

कभी वह अक भरता है, कभी वह चौंक कर देखता है। कभी प्रिय से लड़ता है, कभी उसे मनाने लगता है। कभी देखते ही रह जाता है तो कभी विना देखे दुखी होता है। दिन रात बीतते नहीं बिताए जाते हैं।

उन्मत्तावस्था में बादलों से याचना करता है कि वे विसासी सुजान के आगन मे उसके आसू ले जाकर बरसावें। कभी वायु से प्रिय के चरणों की धूलि लाने की प्रार्थना करता है। वियोगिनी आखें फाड-फाड़ कर भागती फिरती है और असमजस मे है कि प्रिय बाहर है या हृदय के भीतर ही। वह कहती है :—

मैं अग्नि में जलूँ या पानी में गिर पड़ूँ। किस तरह करूँ। हृदय को कैसे धैर्य दू। हे हरि, तुम्हें कहा पाऊँ। धरती मे धस जाऊँ या आकास को चीर डालूँ।[1]

इसके विपरीत प्रेमी कभी चेतन होकर मन को उद्बोधन देने लगता है कि प्रेम में फस कर उसने जो भूल की है उसका वह प्रायश्चित करे।

उसी के कारण वियोग का विष सारे शरीर में फैल गया है। सुख पक्षियों की तरह उड़ गये और वियोग ढेले की तरह आ पड़ा। मन ने जो प्रेम को खेल सा मान लिया था। अब वह उसकी ज्वाला में स्वय जले।

इस प्रकार उपर्युक्त परस्पर विरुद्ध भावनाए विरही के चित्त की अस्थिरता का द्योतन करती हैं। जिसमें वियोग की सत्यता प्रमाणित होती है।

१०—प्राण

प्राण और नेत्र वियोग मे सबसे अधिक दुर्दशा ग्रस्त होते हैं। मार्मिक पीड़ा का आघात प्राणों पर होता है। नेत्र प्रेम के द्यूत व्यापार में सभिक का कार्य करते हैं। अतः विरह के कवियों ने इन दो शरीरावयवों का सबसे अधिक विस्तृत वर्णन किया है, घनानद जी का इस सबध का वर्णन देखा जाए—

१—वही १७८, २३३, ३३६, ४१६।

'प्राण पीड़ा की असह्यता के कारण शरीर से बाहर निकलना चाहते हैं पर आशा का पाश उनके गले में पड़ा है। फलत. वह आस पास घिरते रहते हैं। सुजान के दर्शनों के लिए तरस तरस कर कभी वे आँखों में आ बसते हैं। दम घुटे होकर दिन रात लालसा में ही लपेटे रहते हैं। मिलन के सुख का स्मरण कर कमर से आशा पट कसते रहते हैं। प्रिय के रूप को चुगा समझ कर पक्षियों की तरह उस पर जा बैठे थे पर वियोग व्याध ने उन्हें मार डाला। वे कभी इस आशा से आखों में आते हैं कि प्रिय के दर्शन होंगे, कानों में इस लालसा से आ बसते हैं कि उनकी वचन सुधा पीयेंगे। इस तरह स्थान स्थान की सम्हाल करते हैं कि किसी तरह उनकी सम्हाल हो जाए। कभी इस बात से बैठे बैठे मुरझाते हैं कि हम न्योछावर क्यों न हो सके।'

११—नेत्र

'नेत्रों की दशा भी इसी के समान बड़ी दयनीय है। वे पीर की भीर में अधीर हो गए हैं। झरनों की तरह बहते हैं। इसी बहाव में सारी मर्यादा बह चुकी है। आँसू घी की धार बनकर वियोगाग्नि को अधिकाधिक प्रज्वलित करते हैं। हृदय जला जाता है। नेत्र प्रिय को देखने की एक टेक पकड़ कर सारा विवेक खो चुके हैं। न जाने किस प्यास की पीड़ा से भरे हैं कि जल रिताते रहते हैं। कहने को तो ये मेरे हैं पर मुझसे रंच मात्र भी इन्हें मोह नहीं। जबसे उन्होंने सुजान को देखा है तबसे अन्य किसी को पहचानते ही नहीं।

'आखें यदि प्रिय को न देखें तो फिर देखें भी क्या? प्रिय के दर्शन के अतिरिक्त इनका अन्य कोई मूल्य नहीं, दर्शन की भूख तो भस्मक रोग सी उग्र है पर आँखें सदा लंघन में रहती हैं।

'जिन्हें वे नित्य देखा करती थीं उनके लिए अब रोती हैं। उनके पैरों के पावड़े अपने आंसुओं से धोती हैं। प्रिय को बिना पाए स्वप्न में उन्हें खो देती हैं। जान नहीं पड़ता कि ये खुली हैं या मुँदी। ये जागने पर भी सोती हैं।

'उन्होंने जब से आने की अवधि बदी है आखें प्रतीक्षा में गणना नाप रही हैं। लाखों अभिलाषाओं से भरी वे विरहिणियों के रोमाञ्च में फँसती हैं। पलकों के पावड़े बनाकर टकटकी लगाए हुए हैं।

१—वही ३२१ ३४८, ४५८।

'इस निरतर पीड़ा से निराश होकर प्रेमी निश्चल भाषा मे प्रिय से पूछता है। 'क्या ये आँखें आप के रूप सुधारस की प्यास से भरी सदा आँसू ही ढाला करेंगी ? मिलने की साध जब असाध्य हो गई तो क्या ये इसी प्रकार अपना जीवन भरेगी ? क्या ये इसी प्रकार मरा करेंगी ? हे आनद के घन मित्र सुजान, क्या ये यो ही जला करेंगी'[1]।

१२—ध्यान

'प्रिय का ध्यान वियोग की बहुत बड़ी सात्वना है। प्रिय दूर रहे फिर भी ध्यान के बल से वह निकट ही निकट दिखाई देता है। प्रेमी ने वियोग के अनेक व्यवधानो में ध्यान द्वारा प्रिय को फानूस का दीपक बनाकर हृदय में रख लिया है। नेत्र पतगो के समान इसके आसपास मँडराते हैं। इस प्रकार मन के सिंहासन पर विराजमान रहते प्रिय दूर नहीं कहा जा सकता। दुख यही है कि वह दृष्टि के आगे आगे डोलता ह पर बोलता नही।

'प्रिय हृदय में रहता है पर सुख नहीं मिलता। वियोग मे जो दिन रात दुख अनुभूत हो रहे हैं, उन्हें यदि कहा जाय तो अनुभूति और कथन मे दिन रात का अतर पड़ जाए।

'प्रिय के मुँह फेरते ही ध्यान सम्मुख हो जाता है। प्रिय पृथक् हो जाता है पर यह भूलकर भी पृथक नहीं होता। प्रिय दुखदाई है और यह सुख-दाई। प्रिय अमोही है तो यह मोहवान। यदि ध्यान न हो तो विरह बहुत कुछ सह्य हो जाए।

ध्यान के कारण समस्त जगत प्रिय मय दिखाई देता है। ऐसा कोई स्थान नहीं जहाँ प्रिय के दर्शन न होते हों।[2]

१३—अध्यात्म

ध्यान के कारण ही विरह के वर्णन मे आध्यात्मिक भावों का रहस्यवाद की शैली से यत्रतत्र आभास मिलता है। ध्यान प्रवण वियोगी अपने हृदय देश में जब प्रिय के दर्शन करता है तो पूज्य बुद्धि के सहारे प्रिय में परमेश्वर की अतर्यामिता तथा व्यपकता का वर्णन समासोक्ति पद्धति से हो जाता है। प्रिय का ध्यान प्रस्तुत है, परमेश्वर की भावना अप्रस्तुत। वस्तु

१—वही, ३२१, ३४८, ४५८।

२—वही, ६४, २०७, ३१०, ४७८।

मर्यादया भी विरही भावना के लोक में इतना ऊँचा चढ जाता है कि उसे प्रिय तथा परमेश्वर का अभेद प्रतीत होने लगता है।

कवि का प्रस्तुतांश भी कुछ इस स्वभाव का है कि उसमें अप्रस्तुत अध्यात्म का आरोप बड़ी सरलता से हो गया है। यहाँ प्रिय आनंदघन है जो आकाश में छाये रहता है। इससे परमेश्वर की व्यापकता की व्यंजना हो जाती है। उनका प्रिय सुजान है इससे अप्रस्तुत की सर्वज्ञता की अभिव्यक्ति होती है। प्रिय का हृदय में निवास परमेश्वर की अंतर्यामिता का व्यंजक बन जाता है।

'विरही आत्म निवेदन करते हुए कहता है कि मन तुम्हें जिस प्रकार चाहता है वह बताया कैसे जाय। तुम सुजान हो। प्राणो की तुम्हीं एक मात्र गति हो। बुद्धि, स्मृति, नेत्र और वाणी सब में तुम्हारा निरंतर वास वर्तमान है। अब तो संसार भी दृष्टि से हट गया है। प्रिय घन, तुम्हीं छाए हुए हो। मन चातक की तरह तुम्हारी ओर देख रहा है।

'अंतर में रहते हो पर प्रवासी का सा अंतर अर्थात् भेद वर्तमान रहता है। न मेरी सुनते हो न अपनी कहते हो। नेत्रों के तारे बन कर सुझाते हो पर सूझता कुछ नहीं। हो तो जानराय पर जाने नहीं जाते इसलिए अजान हो। हे आनंद के घन, छा छा कर उघड जाते हो। अपनी कृपा की मूर्ति दिखाओ। हमें खो कर क्या लाभ उठाओगे ?'[1]

१४ विरही की रहनि

'विरह के कष्टों में विरही किस प्रकार अपना जीवन यापन करता है इस का सामूहिक चित्र भी आनंद घन जी ने दिया है। इस चित्र में इतनी सत्यता प्रतीत होती है कि वह कवि के भावात्मक जीवन का एतिह्य सा लगता है। उनका प्रेम का तथा भक्ति काल आसक्ति लग्न और अनुभूति की दृष्टि से समान ही बीता था। जैसा एक निष्ठ प्रेम सुजान से था वैसा ही कालांतर में श्री कृष्ण से हो गया। फलतः रचना चाहे किसी काल की हो कवि की वह आत्मकथा ही है। इस संकेत से लिखे गए पद्यों का महत्व इस दृष्टि से बहुत बढ जाता है। प्रेमी की रहनि इस प्रकार है :—

---

[1]—सुहि० २६५, ७७१।

'बिना सुजान के देखे जीवन उद्वेग की अग्नि में दिन रात जलता है। आसू की धार घी की धार का कार्य करती है, श्वास बीजने का।

'तरस तरस कर प्राण आखो में आ जाते हैं। विरह के बाणों से हृदय क्षत-विक्षत हो जाता है। प्राण चक्कर काट काट कर दम घुटे हो जाते हैं। आखें झरने की तरह अश्रुधारा बरसाती रहती हैं। वे सो जाने पर भी जागतीं सी और जागने पर भी सोती सी रहती हैं।

'वियोग व्यथा अन्दर ही अन्दर घुटती रहती है। भाले की नोक की तरह इस शूल को विरही पसलियों मे छिपाए रहता है।

'हृदय में उद्वेग का दाह है। आखो मे आसुओ का प्रभाव है। भीगना भी है जलना भी। न सोना होता है और न जगना। अपने में ही खो खो कर चेटक को प्राप्त करना रह गया है। जान प्यारे प्राणों में बसते हैं पर विरह की दशा मूक होकर अपनी कथा कहती है। बिना मौत के मरना और बिना जीव के जीवित रहना, यह विरही की रहनि है।'[१]

मरण

सस्कृत के काव्याचार्यों ने वियोग की दस दशाओं में मरण का नामोल्लेख करते हुए भी अमगल व्यजक होने के नाते उसे अवर्ण्य ही माना है। इसी कारण शृङ्गार रस करुण से भिन्न होता है। फारसी काव्य मे इस प्रकार की कोई परपरा नहीं है। नि.सकोच भाव से मरण तथा मरणोपरान्त के वर्णन वहाँ किए जाते हैं। आनदघन ने दोनों परपराओं के मध्य का उत्तम मार्ग अपनाया है। मरण से पूर्व की दशा, जिसमें मरण ही व्यजित होता है, इसका सौन्दर्य के साथ वर्णन किया है। वर्णन इस प्रकार है —

'वियोगी को जीवन की अपेक्षा मरण अधिक सुख कर लगता है पर प्रिय मिलन की अभिलाषा से प्राण शरीर नहीं छोड़ना चाहते। वह रो रो कर दृष्टि को बहा देता पर प्रिय दर्शन की अभिलाषा उसमें विद्यमान है। रसना को विष में डुबा कर वाणी को समाप्त कर देता है पर वह प्रिय का नाम स्मरण करती है। इसी प्रकार उनके वचनों में आसक्ति से कान बचे हुए हैं। जीवन स्वरूप सुजान को प्राप्त कर प्राण कभी पलेंगे, इसलिए उन्हें भी वह रखे हुए हैं।

१—वही १९ आदि।

मृत्यु के लक्षणों का वर्णन भी मिलता है, जैसे:—बहुत दिनों से अवधि की आसा से प्राण पड़े थे। वैसे वे निकलने के लिए व्याकुल थे। मन भावन के आगमन का सन्देश दे दे कर उन्हें अब तक रखा गया था। पर उन झूठे विश्वासों पर अब वह नहीं ठहरते। प्रयाण कर अधरों पर आ लगे हैं। सुजान का सन्देश लेकर अब वह चलना चाहते हैं।[1]

किंवदन्ती है कि मरते समय ही आनदघन जी ने यह पद्य कहा था। यह ऐतिह्य तो प्रमाण पुष्ट नहीं है पर स्वर्मीमासा से इतना अवश्य कहा जा सकता है यह वर्णन भी रीति परपरा के अनुसरण से बुद्धि पूर्वक किया गया नहीं है। भाव विभोर हृदय की निश्छल सहज अनुभूति है।

१५—उपालंभ

यह बताया जा चुका है कि विरह का प्रमुख कारण प्रिय की उदासीनता और निर्मोह है। विरही अपने प्रेम की अडिग एकनिष्ठता तथा प्रिय की प्रेम उदासीनता दोनों का समान अनुभव करता है। इसी वैषम्य को जो प्रिय के संबोधन से प्रकट किया गया है वह उपालम्भ है। विरही के कष्टों का जो वर्णन है वह तो विरह सदेश है। विषम प्रेम में उपालम्भ का अवकाश अधिक रहता है। फलत. आनदघन जी की विरह रचनाओं में उपालम्भ के पद्यों की संख्या अधिक है। उनमें विरही अपने को हीन, दुखी, विनीत और अनन्य प्रेमी तथा प्रिय को महान सुखी, छली, चचल चित्त एव प्रेम-हीन अनुभव करता है। पर प्रिय की इस अप्रिय दशा से विरही की टेक में कोई अन्तर नहीं आता। वह अपने प्रेम का निर्वाह अंतिम श्वास तक ज्यों का त्यों करता रहता है।

प्रिय और प्रेमी की स्थिति में कुछ मौलिक अतर है। इसके कारण सुख दुख का वैषम्य स्वाभाविक है। विरही कभी इसे ध्यान में रख कर विरह पीड़ा को अपना भाग्य समझ लेता है। वह कहता है—

'तुम्हें कैसे उलाहना दें। हमारे बाट में सुधि और तुम्हारे बाट में भूल है। जीवन प्राण सुजान? हम तो तुम्हारी बातों से ही जीवित रहते हैं।

'तुम सदा सुखी हो। किसी बात की चाह नहीं है। पर हमारा भी

---

[1]—पद्य ५४।

सातवाँ परिच्छेद

प्रेम तत्व

"हिय आखिन नेह की पीर तकी"

आनंद घन जी द्वारा अनुभूत प्रेम-तत्व का विचार करने से पूर्व यह प्रासंगिक प्रतीत होता है कि इस के लक्षण तथा साहित्य में किए गए प्रयोग पर सूक्ष्मतया विचार कर लिया जाए। इस पृष्ठ भूमि पर कवि के कृतित्व का भली भाँति परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

१—शब्द निरुक्ति

प्रेम 'प्रिय' शब्द का भाव वाचक रूप है। 'प्रिय' शब्द का अर्थ है तृप्ति कारक। (प्रीणातीति प्रियः।) इसके भाव वाचक रूप का अर्थ हुआ 'तृप्ति'। प्रेम शब्द में हृदय के उस तृप्ति रूप आनंद का संकेत होता है जो हमें किसी विषय के दर्शनादि से मिलता है।

२—लक्षण

सब से पूर्व प्रेम के लक्षण पर विचार किया जाता है। वैष्णव विद्वानों ने प्रेम लक्षणा भक्ति के प्रसंग से लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार के प्रेम तत्वों का विचार किया है। भक्ति-निरपेक्ष शारीरिक प्रेम का किसी विद्वान ने शास्त्रीय पद्धति से विमर्श नहीं किया। काम शास्त्रादि ग्रंथों में शृंगार का विवेचन अवश्य किया गया है। अतः नीचे कतिपय वैष्णव आचार्यों द्वारा निश्चित किए गए प्रेम के लक्षण दिए जाते हैं।

• प्रेम रसायन ग्रंथ के रचयिता श्री विश्वनाथ ने बड़े विस्तार तथा गाम्भीर्य के साथ इसका विश्लेषण किया है। उनके अनुसार चित्तरूपी समुद्र में जब सत्व गुण का ज्वार भर जाता है तो उसमें दृष्टि, परिचय, हार्द तथा प्रेम नाम की चार प्रकार की तरंग उठा करती है। प्रेम का मूलोपादान आत्मा का सत्व गुण है। प्रिय तो केवल निमित्त मात्र है। वा उद्दीपन है और भाव की जिस स्थिति को प्रेम कहते हैं वह अनुभूति की चरम कोटि है। उस से पूर्व तीन [illegible] क्रम से दृष्टि, परिचय और हार्द

समाप्त हो लेते हैं। इन में दृष्टि चित्त की वह वृत्ति है जिस मे चचल चित्त विषय की ओर हठात् प्रवृत्त होता है। परिचय से विषय के विविध सस्कार मन मे उत्पन्न होते हैं। दोषों पर ध्यान न देना हार्द है। जीव मे आत्मा का ही रूप जो रस है वह जिस उपाधि का आश्रय लेकर शृगार बनता है वह उपाधि प्रेम है, अर्थात् प्रेम रसमय आत्मा के बहिर्विकास का साधन है, उसी का अगभूत तत्व है।[1] अपने सिद्धात की स्थापना से पूर्व इसी ग्रथ मे विश्वनाथ ने शाडिल्य, भारत, अभिनव गुप्त तथा गुणाकर के प्रेम लक्षणो का विवेचन किया है। उसके आधार पर निम्नलिखित मत-सग्रह किया जाता है।

शाडिल्य के अनुसार अतःकरण की वह वृत्ति, जिस से वस्तु के सयोग काल में भी वियोग सा बना रहता है प्रेम है।[2] इस के टीकाकारों ने यह भी इस का अर्थ किया है कि योग में वियोग और वियोग में योग दोनो प्रकार की भावनाए प्रेम-जनित होती हैं। आनदघन की रचनाओ में यह अनुभूति स्थान स्थान पर मिलती है। वियोग के भय, अभिलाषातिरेक, आश्चर्यानुभूति आदि के कारण सयोग में वियोग तथा ध्यान के सातत्य से वियोग में सयोग इनके प्रेमी के हृदय में बने रहते हैं।

कुछ लोगों ने भोग पर्यवसायी सौहार्द को ही प्रेम बताया है। पर विश्वनाथ ने शुकदेवादि के भोग रहित प्रेम का निदर्शन दे कर इस का खडन कर दिया है।

आचार्य भरत ने चित्त की द्रवावस्था[3] को प्रेम बताया है। द्रवीभूत चित्त से संयुक्त इन्द्रिया विषय का ज्ञान नहीं कर सकतीं।[4] क्योंकि इसके लिए कठिन चित्त के सयोग की अपेक्षा होती है। द्रवीभूत हृदय का आसक्तिपूर्वक विषय-ससर्ग भावना कहलाती है। स्नेह-जन्य द्रव से उद्भूत भावना को प्रेम-भावना कहते हैं।

१—प्रेम रसायन, लक्षण खड

२—योगेवियोग वृत्ति प्रेम।—शाडिल्य

३—मिलाइये आनदघन—'अंग अग आभा सग स्रवित द्रवित है कै सुहि० २११।

४—मिलाइये आनदघन भूलै सुधि सातौदसा विवस गिरत गातौ।

आचार्य अभिनव गुप्त इच्छा विशेष को प्रेम कहते[1] हैं। यह इच्छा विषय लाभ से सन्तुष्ट नहीं होती है प्रत्युत बढ़ती है। यह मत एक प्रकार से शाण्डिल्य के लक्षण के समनुगत ही है। संयोग में भी वियोग की सी व्याकुलता इच्छातिरेक से ही हो सकती है। यह इच्छा दोष दर्शन से भी समाप्त नहीं होती। विषय लाभ से समाप्त होने वाली इच्छा को 'हार्द' और दोष दर्शन से लुप्त होने वाली इच्छा को सौहार्द कहा जा सकता है। 'भाव चन्द्रिका' के लेखक गुणाकर ने दोष दर्शन से हटने वाले स्नेह को हार्द तथा अक्षुण्ण बने स्नेह को सौहार्द बताया है। गुणाकर सौहार्द को ही प्रेम पदवी देते हैं। विश्वनाथ प्रेम को 'हार्द' तथा सौहार्द दोनों से विलक्षण मानते हैं। प्रेम में दोषाभाव की ओर भी आग्रह नहीं होता और लाभ से उसमें कृतार्थता नहीं आती। प्रेम का कोई विषय भी नियत नहीं। किसी भी विषय के प्रति हृदय का प्रेमभाव हो सकता है। लौकिक अलौकिक भेद तात्विक नहीं है। उभयत्र प्रेम जाता एक ही है। भेद केवल विषय निबन्धन होता है। विश्वनाथ के अनुसार प्रिय प्रेमी नहीं हो सकता।[2]

नारद भक्ति सूत्र में प्रेम को अनुभवैकगम्य माना है। वह वाणी का विषय नहीं है। मूकास्वादवत् अनिर्वचनीय है। यह पहले तो विषय जन्य होता है। गुणों के कारण उत्पन्न होता है। पर बाद में भावात्मक, विषयानपेक्ष बन जाता है।[3]

उज्ज्वलनीलमणिकार जीव गोस्वामी ने प्रेम को ऐसा सान्द्र भाव माना है जो हृदय को स्निग्ध करता हो और ममत्व के अतिशय से संयुक्त हो।

सम्यङ् मसृणित स्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः
भावस एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते।"

(उ० नी० म० दक्षिण लहरी श्लोक १२)

१—देखिये भाव प्रकाश में अभिनव वर्णन।

२—न प्रेम विरतो लाभे न प्रेमाधायना भवेत्। इति नवा नियमो, विपरीता वर्णितनाथ। प्रेम रसायन मन्त्र नं० ७३।

३—अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्। मूकास्वादनवत्।

गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानम्, अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरम् अनुभवरूपम्। नारद भक्ति सूत्र ५१, ५२

चैतन्य चरितामृत मे भी इसी से मिलता जुलता लक्षण है। उसके अनुसार साधना भक्ति से रति का उदय होता है। वही रति प्रगाढ होकर प्रेम बन जाता है,

साधनाभक्ति हते हय रतिर उदय।
रति गाढ हइ ले तारे प्रेम नामे कय॥

इन समस्त लक्षणों मे प्रेम को सात्विक हृदय की भावना माना है। शारीरिक मनोविकार के रूप मे किसी विद्वान ने इसका विमर्श नहीं किया। इसके लिये मनोविश्लेषक फ्रायड का सिद्धात प्रसिद्ध है। उनके अनुसार प्रेम यौनवासना है। यही समस्त भावो के मूल में रहती है। वात्सल्य, श्रद्धा, भक्ति आदि सब इसी के भेद हैं। इसकी पूर्ण अभिव्यक्ति बुद्धि की उपचेतन दशा में होती है। चेतना वस्था मे तो सामाजिक मर्यादाएँ अभिव्यक्ति पर आवरण डाले रहती हैं। आधुनिक मनीषी श्री परशुराम चतुर्वेदी ने अपनी हिंदी काव्य में अपनी "प्रेम प्रवाह" नामक पुस्तक मे प्रेम की व्याख्या निम्न प्रकार से की है।

'प्रेम शब्द का अभिप्राय साधारणतः इस मनोवृत्ति से लिया जाता है जो किसी व्यक्ति की दूसरे के सबध में उसके रूप गुण स्वभाव सानिध्य आदि के कारण उत्पन्न कोई सुखद अनुभूति सूचित करती हो तथा जिसमे उस दूसरे के हित की कामना बनो रहती है।'[1] प्रीति को परम पुरुपार्थ मानकर 'प्रीति सदर्भ पुस्तक' मे उसका यह लक्षण किया है कि 'जो अविवेकी लोगों कीविपयों में अनपायिनी असक्ति होती है उसी प्रकार की भगवान में आसक्ति हो' तो उसे प्रीति कहते हैं।[2]

इसमें सासारिक विपय और भगवान की प्रीति एक रूप ही मानी है। पहली माया की वृत्ति है दूसरी साक्षात् परमेश्वर की शक्ति की वृत्ति। प्रीति और प्रियता दो पृथक पृथक भाव हैं। प्रीत सुख है इसके पर्याय हैं मुद् 'प्रमुद्' हर्ष आनद आदि। प्रियता अनुभूति है। इसके पर्याय हैं भाव, सौहार्द हार्द आदि। प्रीति में उल्लासात्मक ज्ञान होता है। प्रियता में विषयों की

१—हिंदी काव्य में प्रेम प्रवाह पृ० १

२—या प्रीतिरविवेकाना विपयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरत सामे हृदया नापसर्पतु।
(विष्णुपुराण) प्रीतिसदर्भ ५०, ७१८ पर उद्धृत।

अनुकूलता तथा तदनुसार विषयों की स्पृहा होती है। प्रियता में सुख का सनिवेश भी है पर इसके अतिरिक्त भी अश इसमें वर्तमान हैं। प्रीति कर्त्र-पेक्ष होती है। प्रियता विषयापेक्ष। प्रीति का विपरीतार्थ दुख है। प्रियता का द्वेष। सुख और दुख का आश्रय पक्ष ही होता है विषय पक्ष नहीं। प्रियता का आश्रय पक्ष भी होता है और विषय पक्ष भी। सुख और दुख के आश्रय क्रमशः शोभनकर्मा तथा अशोभनकर्मा प्राणी होते हैं। प्रियता और द्वेष के क्रमशः प्रेमी और द्वेषी। इनके विषय हैं क्रमशः प्रिय एव द्वेष्य।

प्रीति भगवदालम्बनक होने से भक्ति कहलाती है। इस विषय भेद से भाव मे भी भेद हो जाता है। एक ही प्रकार के तिल जैसे गुलाब चमेली आदि के पुष्पों के ससर्ग से भिन्न भिन्न गधवाले हो जाते हैं उसी प्रकार एक ही अनुभव माया अथच परमेश्वर दो विषयों के ससर्ग भेद के कारण भिन्न स्वभाव वाला हो जाता है। ये भेद हैं सात्विक, राजस तथा तामस। भगवद् विषयक प्रेम सात्विक होता है। वही भक्ति है। सत्व अर्थात् विष्णु या उसके आविर्भाव के किसी रूप में एक मन होकर स्वाभाविक और अनिमित्तक जो प्रेम किया जाता है वह भक्ति[1] है।

प्रेम के तीन श्रेणी भेद हैं—उत्तम मध्यम तथा निकृष्ट। इनमे निकृष्ट प्रेम वह है जब कि दो मित्र एक दूसरे को किसी स्वार्थ के कारण प्रेम करते हैं। उनमे सौहार्द अर्थात् हृदय की उदात्तता नहीं होती, स्वार्थ होता[2] है। मध्यम प्रेम कर्त्तव्य पालन का रूप है जिसमें किसी भावातर से प्रेरित होकर व्यक्ति दूसरों से प्रेम करता है—जैसे करुणाप्रेरित माता पिता सतान से प्रेम करते[3] हैं। श्रेष्ठ प्रेम में न स्वार्थ होता है न भावातर की प्रेरणा। वह प्रेम पात्र की अनुकूलता की भी अपेक्षा नहीं करता। उसकी

१—सत्वएवैक मनसो वृत्ति स्वाभाविकी तुया
अनिमित्ता भागवती भक्ति — प्रनि सदर्भ पृ० ७२५

२—मिथोभजंति ये मख्य स्वार्थैकानोद्यमाहिते
न तत्र सौहृद धर्म स्वात्मान तद्धिनान्यथा — वही पृ० ७२५

३—भजत्य भजतो ये वैकरुणा पितरोयथा
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृद च सुमध्यमा — वही

प्रतिकूलता में भी-अर्थात् प्रेमपात्र के प्रेम न करने पर भी—प्रेम करता रहता[1] है। यही भक्ति है। यही श्रेष्ठ है।

प्रेम में आठ ऐसे गुण होते हैं जिन से प्रेमी के चित्त का संस्कार होता है। वे ये हैं—

(१) उल्लास (२) ममता (३) विस्रभ (४) प्रिय के गुणों का अभिमान (५) चित्त का द्रवीभाव (६) अतिशय अभिलाप (७) प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नवनवत्व की अनुभूति तथा (८) प्रिय सम्बन्धी किसी विलक्षण गुण के कारण उन्माद।

(१) उल्लास

उल्लास मात्र को व्यजक प्रीति 'रति, कहलाती है। इसके उत्पन्न होने से केवल प्रिय में ही प्रेम होता है। अन्य में तुच्छत्व बुद्धि हो जाती है।

(२) ममता

ममता उत्पन्न करने वाली प्रीति 'प्रेमा' है। इसके उत्पन्न होने पर प्रीति भग करने के हेतु न तो प्रेम के उद्यम को ही कम कर सकते हैं और न उसके स्वरूप को। मार्कण्डेय पुराण में ममतातिशय को ही प्रेम-समृद्धि का कारण माना है। जिस प्रकार का दुःख घर में मुर्गे को बिल्ली के खा लेने पर होता है वैसा गौरैया के चूहे को खा लेने पर नहीं होता। कारण कि दूसरे में हमारी ममता नहीं होती।[2] इसलिए प्रेम लक्षणा भक्ति में ममता को मुख्य हेतु पचरात्र में भी माना है।

अनन्य ममता विष्णौ ममता प्रेम संयुता
भक्ति रित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः

(३) विस्रंभ

प्रणय में विस्रभ का अतिशय होता है। इस के उत्पन्न हो जाने पर सभ्रम के स्थल में भी सभ्रम (शक) नहीं होता

१—नाह तु सख्यो भजतो पि जतून्
भजाम्यमीषामनुवृत्तिसिद्धये वही

२—मार्जार भक्षिते दुःख यादृश गृह कुक्कटे।
न तादृङ् ममता शून्ये कलविङ्केण मूषिके॥

(४) अभिमान

प्रिय को अधिक प्रिय समझ कर उसके विषय में ऐसा प्रणय दिखाना जो कुटिलता के आभास से कुछ विचित्र हो जाए—अभिमान या मान कहलाता है।

(५) द्रवभाव

स्नेह में चित्त का द्रवीभाव अधिक होता है। इसके उत्पन्न होने से प्रिय के सम्बन्ध के आभास से ही सत्वोद्रेक हो जाता है। प्रिय के दर्शनादि से तृप्ति नहीं होती। उस के समर्थ होने पर भी उसके अनिष्ट की आशका रहती है।

(६) अतिशय अभिलाष

स्नेह मे अभिलाष का अतिशय हो तो वह राग मे विकसित हो जाता है। इस के उत्पन्न होने पर प्रिय का क्षणिक वियोग भी अत्यन्त असह्य हो जाता है, उस के सयोग का सुख भी दुख बन जाता है।

(७) नवनवत्व की भावना

राग अनुराग मे विकसित होकर प्रिय के विषय में प्रतिक्षण नवनवत्व की भावना कराता है। वह स्वय भी नया नया होता रहता है।

(८) उन्माद

अनुराग दशा मे उन्माद के उदय होने पर महाभाव दशा आ जाती है, जिस में सयोग के कल्प भी निमेष के समान बीत जाते हैं और वियोग का निमेष भी कल्प जैसा लगता है।

इस प्रकार रति ही क्रमशः प्रेमा, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग तथा महाभाव में परिवर्तित होता रहता है। इस विकसित परिवर्तन के कारण उपर्युक्त आठ गुण रति मे उत्पन्न होते हैं।

आनदघन जी की ऐसी कोई रचना नहीं मिलती जिसमें प्रेम का शास्त्रीय पद्धति से लक्षण किया हो। कवि-हृदय से दो एक मुक्तक पद्यों में तथा प्रेम पद्धति में उसके स्वरूप का निर्देश किया है, जिस में प्रेम का तटस्थ लक्षण माना जा सकता है। इनके अनुसार प्रेम की उत्पत्ति दिव्य है। उसका स्पन्दन देव-मानव साधारण हृदयों में होता है। मानवीय प्रेम

ईश्वरीय प्रेम का ही लघुतम अंश है। जिस प्रेम समुद्र में राधा और कृष्ण, विवश होकर स्नान केलि करते हैं उसी की तरल तरंग से कोई बिन्दु छुट कर लोक में आ गया है। वही प्रेम है। उस प्रेम समुद्र को देखकर बेचारा विचार तो इस पार से ही लौट आता है। उसमें प्रवेश करने का साहस नहीं करता[1]।

इसकी चरम परिणति प्रेमी और प्रिय का अभेद है। प्रेम में चकोर चन्द्रमा हो जाता है चन्द्रमा चकोर। देखने मे ही वे दो हैं। वास्तविक रूप से वे एक ही हैं। इसकी पदवी ज्ञान से भी ऊँची है। विषयी भी इसमें डूब जाता है। भूलने से इस पथ पर चलते हैं, सूधि से थक जाते[2] हैं। इसका मार्ग अत्यन्त सरल सीधा है। सयानप का वाक यहा नहीं होता। सीधे सरल व्यक्ति इसका पार पा जाते हैं, कपटी झिझकते रहते हैं। अहता और प्रेम साथ साथ नहीं चलते। इसका निर्वाह कठिन होता है। धूप से नवनीत की तरह थोड़ी असावधानी से भी यह म्लान हो जाता[3] है।

प्रेम पद्धति में भी इसका स्वरुप परिचय कवि ने दिया है। इसके अनुसार प्रेम का सर्वोत्तम अधिष्ठान गोपिकाए हैं। उनके अनुराग में सब विधि नियम भूल जाते हैं। प्रेम का पथ वैसे अत्यन्त वक्र है पर इन्होने सीधे प्रकार से उसका अवगाहन किया है। जो प्रेम मन, बुद्धि और वाणी का अगम्य है उसे इन्होंने प्राप्त किया है। इन्होंने अपने प्रबल प्रेम का ओज इससे प्रकट कर दिया है कि भगवान श्री कृष्ण भी उनके आगे नाचते हैं। प्रेम साधना का सर्वोत्तम स्थान ब्रज है। ब्रज रज के स्पर्श से प्रेम तत्व का लाभ अनायास ही हो जाता है। पर ब्रज रज का लाभ भगवत्कृपा के बिना नहीं होता। गोपियों की चरण रज के स्पर्श से। तथा उनके मार्ग के आश्रयण करने से प्रेम का लाभ होता है।

१—प्रेम की महोदधि अपार हेरि कै विचार बापुरो हहरि वार ही तें फिर आयौ है ताको कोऊ तरल तरंग संग छुट्यौ कन पूरि लोक लोकनि उमडि उफनायौ है। सोई घन आनद सुजान लागि हेत होत ऐसे मथि मन में स्वरुप ठहरायौ हैं। ताहि एक रस है विवस अवगाहै दोऊ नेही हरि राधा जिन्हें हेरि सरसायौ है। सुहि० ११६।

२—वही २९६।

३—वही २९७, ३१४।

प्रेम रस के वशीभूत होकर व्यक्ति एक रस हो जाता है। उसे अमोघ सुख की प्राप्ति होती है। व्रज बधुओं के साथ श्री कृष्ण की केलि में जो अपूर्व सागर उमड़ता है उसकी एक तरंग प्रेम कहलाती है। उसे प्राप्त करना तथा कहना असभव है। वाणी वहा मौन हो जाती है। शिव, शुक, उद्धव जैसे इसकी याचना करते हैं पर उन्हें भी प्राप्त नहीं होता। भगवत्कृपा से यह हृदय मे स्फुरित हो जाता है। दिव्यज्ञान के उदय होने पर भी यह छिप जाता है। इसकी गति परम अगम्य है तथा इसका रूप अमल और अपूर्व होता है। इसकी थाह लेने मे मन, बुद्धि तथा विचार थक जाते हैं। इसके वशीभूत होकर मोहन भी 'अपनपौ' हार जाते[1] हैं।

प्रेम पद्धति तथा फुटकल पद्यों में आनदघन जी ने प्रेम के जो लक्षण तथा स्वरूप का जो निर्देश किया है वह भक्तों की परपरा का है। लौकिक प्रेम की अनुभूति जैसी उनकी थी उसका कोई आभास इनमें नहीं मिलता। प्रतीत होता है यह रचना उनकी भक्ति काल की है।

वासना और प्रेम

वासना शारीरिक आकर्षण का भाव है। यह भोगपर्यवसायी होती है। भोग भी इन्द्रिय तृप्ति अर्थात् शरीर सबध मात्र होता है। इसलिए वह क्षणिक होता है। विषय लाभ से वासना सतुष्ट हो जाती है पर प्रेम हार्दिक तथा एक रस हो जाता है। यह विषय लाभ से शात नहीं होता। लेकिन फ्रायड जैसे विद्वान वासना को ही प्रेम कहते हैं।

काम और प्रेम

हिन्दी भाषा मे काम शब्द इन्द्रियासक्ति या वासना के लिए ही व्यवहृत होता है। पर पहले सस्कृत के ग्रथों में इसका अर्थ अभिलाषा था, जिसमे प्रेम भी अतर्भूत हो जाता है। वेदो मे इसका प्रयोग स्रष्टा की इच्छा के अर्थ में हुआ है जो समस्त सृष्टि का मूल कारण[2] है।

इश्क और प्रेम

फारसी का इश्क शब्द भी वैसे प्रेमार्थक ही है पर उसके साथ ऐसे भावों का संबध हो गया है जो उथले हैं। फलतः वह भी उथला हो गया है। बोधा ने इश्क शब्द का ही व्यवहार उच्च प्रेम के अर्थ में किया है।

१—प्रम पद्धति।

२—कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेत प्रथम यदासीत। इमे काम मन्दया गोभिरश्वैश्चन्द्रात ताराधमा पश्यस्व अ वे० ३, ३०, १२०।

इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब।
सो साँचो ब्रजराज है जो मेरा महबूब॥

× × × ×

प्रेम और भक्ति

साधारण व्यवहार मे भक्ति परमेश्वराश्रित प्रेम को कहते हैं। 'सा भक्ति या परानुरक्तिरीश्वरे'[१]। भागवत के प्रणयन से पहले भक्ति मे पूज्य बुद्धि तथा भक्त का दैन्य, दास्य, आदि भाव अधिक रहते थे। पर बाद में मधुरा भक्ति का सनिवेश होने से प्रेम लक्षणा भक्ति भी मानी गई। वह अन्य भक्ति भेदो से उत्कृष्ट सिद्ध हुई क्योंकि उस मे मानव की रागमिका वृत्ति •शात होती थी। इस में परमेश्वर के साथ भक्त का सख्य भाव रहता है। जो समतल भूमि पर प्रसृत होता है। पूज्य भाव दास्य भक्ति में आता है। अतः दास्य भक्ति और प्रेम में तो कुछ अतर है भी, क्योंकि प्रेम की प्रसार भूमि समतल होती है भक्ति का विपय। पर सख्य या मधुरा भक्ति तथा प्रेम में आलबन के अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं है। स्वरूपतः दोनों प्रकार के प्रेम लौकिक भी हैं और अलौकिक भी। तत्वतः वे एक हैं। लौकिक-अलौकिक केवल आलबन होते हैं, भाव नहीं। इस लिए भक्त आचार्यों ने जहा भक्ति के अगभूत प्रेम का विवेचन किया है वहा लौकिक अलौकिक व साधारण प्रेम का ही किया है। भक्तों के भगवद् विपयक प्रेम की अनुभूति लोक साधारण है। मीरा के आलबन अलौकिक श्रीकृष्ण थे। पर भावानुभूति उनकी लौकिक है। वे प्रेयसी हैं। श्री कृष्ण प्रियतम। जैसे लोक में होते है वैसे ही दोनों दम्पतियों का स्नेह सिंचित व्यापार हृदय के गभीर पर्तों की सरल सीधी मानवीय अनुभूतियों को खोलता जाता है। इनका 'औलगिया' घर आता है। शरीर का सारा सताप मिट जाता है। मीरा अपने मन में प्रसन्न होती हैं कि उन्हें एक क्षण में पिया मिल गये उन्होंने अपना दीदार दिखाया।[२]

कबीर ने तो निर्गुण राम क प्रति भी लौकिक प्रेम ही व्यक्त किया है। जीव प्रेयसी है ब्रह्म प्रियतम। उनका विवाह होता है। कभी वे प्रेम की झूला पर झूलते हैं, जिस के खभे प्रिय की बाहें होती हैं और रस्से प्रेम के होते हैं।

१—नारद भक्त सूत्र।

२—मीरा की पदावली पृ० ५१

कोई प्रेम की पैग झुलावै रे
भुज के खम और प्रेम के रस्से
तन मन आज झुलावै रे।

दूसरी ओर विशुद्ध प्रेम को लेकर चलने वाले स्वच्छंद मार्गी बोधा हैं। इनके द्वारा व्यक्त किए गए प्रेम का स्वरूप आमूलचूल लौकिक है। पर वे भी इश्क मजाजी को इश्क हकीकी कहते हैं। उनका जो प्रिय है वही श्री कृष्ण[1] है। सहजिया पथ के वैष्णवों का तो यह मत है कि मानवीय लौकिक प्रेम ही अपने पूर्ण विकास में आध्यात्मिक हो जाता है। इसलिए वे अपने से बाहर अपने इष्ट देव को खोजने नहीं जाते। फलत. प्रेम का लौकिक अलौकिक भेद स्थूल और अतात्विक है। उसी प्रकार भक्ति और प्रेम का भी[2]।

३—प्रयोग

प्रेम मानव चिंतना का इतना प्रमुख विषय है कि वह प्रत्येक सौंदर्य-विभूति में प्रकट या प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहता है। साहित्य तो इसकी मुख्यनिधि है। साहित्य में इसका प्रयोग तीन प्रकार से मिलता है। अनुभूति, साधना, तथा अप्रस्तुत योजना के रूप में।

अनुभूति

वेदों से लेकर भागवत तक के भारतीय साहित्य में प्रेम का व्यवहार प्रायः मानवीय अनुभूति के रूप मे हुआ है। परमेश्वर के साथ इसका सम्बंध न था। उधर दास्य भाव का ही प्रदर्शन किया जाता था। वेदों में सहज वासनात्मक तथा आदर्शभावनात्मक दोनों ही प्रकार के प्रेम मिलते हैं। यमयमी सवाद में पहला है और पुरुरवा उर्वशी सवाद में तथा श्यावाश्व की कथा में दूसरे प्रकार का। पुराणों मे अनेकत्र दोनों रूप मिलते है। रामायण महाभारत में भी यह आदर्श भावना के रूप में मिलते है।

हिंदी साहित्य के वीर गाथा काल से लेकर रीति काल के अंत तक लोकानुभूति के रूप मे इसका प्रयोग प्राप्त होता है। 'ढोला मारूरा दूहा'

१—देखिये इश्क और प्रेम का प्रकरण

२—हिंदी काव्य में प्रेम प्रवाह—श्री परशुराम चतुर्वेदी।

अब्दुल रहमान का 'सनेह रासय' [आलम की 'माधवानल का मकदला' बोधा के 'विरह वारीश' ठाकुर तथा आनद घन के कतिपय पद्यों में लोकानुभूति स्वरूप प्रेम के दर्शन होते हैं।

साधना

भागवत के प्रणयन के बाद यह ईश्वर की प्राप्ति का साधना भी माना जाने लगा। श्री कृष्ण का जिन जिन लोगों से सम्पर्क हुआ था उन्हे भागवत में भक्त माना गया। जैसे नद, गोप, गोपियाँ, यशोदा आदि। उनके सम्बध को भक्ति स्वीकार किया गया। इस लिये दास्य, सख्य, वात्सल्य आदि पाच प्रकार की भक्ति स्थिर हुई। इन में सर्व श्रेष्ठ प्रणय माना गया। यही 'मधुरा-भक्ति' अभिहित हुई। इसका शास्त्रीय विधि से विवेचन और व्यवस्थापन श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'हरि भक्ति रसामृत सिंधु' तथा 'उज्वल नीलमणि' ग्रथों में किया है। इस समय तथा इसके बाद १७ वीं शताब्दी तक भक्ति प्रधान साहित्य का प्रणयन प्रारभ हुआ। उसमें कृष्ण भक्ति धारा के कवियों ने दापत्य प्रेम का ही साधनात्मक रूप में प्रयोग किया है। सब से पहले दक्षिण के अडवारों की रचनाओं में इस के दर्शन होते हैं। तिरुमगई, नम्म, अदाल आदि की बहुत सी भावनाए यौन प्रेम के माधुर्य से पूर्ण हैं। नम्म तो मीरा की तरह समस्त विश्व को भगवान के समक्ष स्त्रीवत् मानते थे। स्वय कभी कभी स्त्री का वेश तक धारण कर लेते थे। अदाल गोपी भाव से रहती थी।[1]

इस के बाद सहजिया वैष्णवों की रचनाए आती हैं। इन्होंने मानवीय प्रेम के सहज रूप की साधना की है। प्रत्येक व्यक्ति में दो तत्व रहते हैं। स्वरूप तथा रूप। पहला उत्कृष्ट है दूसरा निकृष्ट। ये क्रमशः ईश्वरीय एव लौकिक हैं। रूप को विस्मृत कर स्वरूप की भावना करने से स्त्री राधा बन सकती है, पुरुष श्री कृष्ण। राधा परकीया थी। इसलिए परकीया सेवन ही साधना का सर्वोत्तम प्रकार है। उन लोगों की मान्यता है कि श्री कृष्ण रूप में भगवान ने भी जब मानव सहज प्रेम का अनुभव किया तो वह प्रेम ससारी मानवों को भी ईश्वर प्राप्ति का साधन हो सकता है।[2]

इसी के आसपास बाउलों की प्रेम साधना का समय आता हैं। इनके अनुसार मानव शरीर मदिर है। इसका देवता है 'मनेर मानुष'

१—परशुराम चतुर्वेदी मध्यकालीन प्रेम साधना पृ० ९०

२—वही—वैष्णवों का सहजिया सम्प्रदाय शीर्षक लेख पृ० २७—३७

बाउल इस हृदय स्थित देवता को ही परमेश्वर मान कर उसे विविध प्रकार के प्रेम द्वारा प्राप्त करना चाहता है। दाम्पत्य प्रेम को ये लोग सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। प्रेम परमात्मा के सार का भी सार है। इस मत में आत्मरति और मानव-प्रेम प्रकारांतर से साधना कोटि में गृहीत[1] हुए हैं

अडवार, सहजियावैष्णव तथा बाउलों की साधना हिंदी साहित्य से पृथक बनी रही है। इस की भक्ति साहित्य की धारा तो जयदेव से प्रारम्भ होती है, जिस में सरस दाम्पत्य-प्रेम का परमेश्वर से संबंध स्थापित कर उसे परमेश्वर की प्राप्ति का साधन बनाया गया है। इसी धारा में कृष्ण धारा का वैष्णव साहित्य है। यहाँ संयोग में हर्ष तथा वियोग में पीड़ा की अनुभूति है। दूसरे निर्गुणी भक्त कबीर, दादू, जायसी आदि प्रेम के ही साधक हैं।

इन भक्त कवियों में कुछ लोग प्राधान्येन प्रेमी हैं। उन पर भक्ति की शास्त्रीय मर्यादाओं का प्रभाव नहीं है, जैसे नामदेव तथा रसखान।

रीति काल में भी प्रेम साधना चलती रही है। आनदघन, नागरीदास, चरणी हंसराज, भगवतरसिक, ललित किशोरी आदि प्रेम के साधक हैं। रीति तथा भक्ति दोनों के बंधनों से ये आबद्ध नहीं हैं। पर आनंदघन को छोड़ कर शेष को स्वच्छंद मार्गी इसलिए नहीं कह सकते कि इनका प्रेम साधना ही है अनुभूति नहीं है। इस प्रकार प्रेम का साधना रूप में प्रयोग १९ वीं शताब्दी तक निरंतर मिलता है। आनदघन जी के मुक्तकों में अनुभूत्यात्मक तथा कृपाकंद एवं निबंधों में साधनात्मक प्रेम का प्रयोग हुआ है।

अप्रस्तुत

तीसरा रूप अप्रस्तुत रूप से प्रयुक्त हुए प्रेम का भी है। अप्रस्तुत प्रेम वह कहलाता है जो किसी रचना का मुख्य रूप से वर्ण्य विषय न हो। उसके द्वारा किसी दूसरी वस्तु की सिद्धि अभिप्रेत हो। भक्ति और अनुभूत्यात्मक प्रेम में प्रेम ही मुख्य रहता है, पर अप्रस्तुत प्रेम में वह गौण हो जाता है। इस में जैन धर्मियों तथा सिद्धों की रचनाएं आती हैं। जैन धर्मियों ने प्रेम कथाएँ लिखी हैं, पर उनका पर्यवसान जैन धर्म की प्रशंसा या साधना में होता है। वहां जैन धर्म ही प्रस्तुत है। सिद्धों का भी प्राप्य योग सिद्ध है, पर 'कामिहि नारि पियारि जिमि' की तरह उपमान रूप में प्रेम

१—वही—बाउलों की प्रेम साधना शीर्षक लेख पृ० ४९—५०

व्यापारों का आश्रय वहा होता है। सिद्ध गडरीपा योगिनी को संबोधित करते हुए कहते हैं कि 'हे योगिनी, मै तेरे बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकता। तेरे ही चुम्बन द्वारा मैं कमलरस का आस्वादन करता हूँ।'

जोइनि तइँ बिनु रामहिं न जीवमि।
तो मुह चुम्बी कमल रस पीवमि[1]

४—प्रेम की विषमता

आश्रय और आलम्बन के पारस्परिक सबंध की दृष्टि से प्रेम के दो भेद किये जा सकते हैं, सम और विषम। दोनों समान भाव से एक दूसरे को प्रेम करते हैं तो सम और प्रेमी प्रेमप्रवण हो, प्रिय नही, तो विषम प्रेम कहलाता है। आनदघन का प्रेम विषम ही है। और वह भारतीय साहित्य में एक नवीन भावना है। अत. यह परीक्षण आवश्यक है कि इस परंपरा का आदि स्रोत कहाँ है।

प्राचीन काव्यों में सम प्रेम ही उपलब्ध होता है। रस-रीति में एक-निष्ठ प्रेम को 'रसाभास' माना गया[2] है। इसकी उत्पत्ति या आगमन कहा से हुआ यह प्रश्न उठता है। इसके उद्गम स्रोत दो प्रतीत होते हैं। भागवत और फारसी साहित्य। भागवत मे प्रेम लक्षणा भक्ति की परिपक्वता अनन्यता, दृढता आदि दिखाने के लिये तथा परमेश्वर को आप्तकाम, निष्काम सिद्ध करने के लिये एक पक्षीय प्रेम का विधान किया गया मिलता है। दशमस्कन्ध में इसका विवेचन करते हुए तीन दशाएं मानी गई हैं, सख्य वात्सल्य और आप्तकामता। सख्य वह स्थिति है जब प्रेम करने वाले के साथ प्रेम किया जाता है। वात्सल्य का अर्थ है प्रेम न करने वाले को भी प्रेम करना। पर इसमें दूसरे भाव दया, धर्म आदि प्रेरक होते हैं। आप्त कामता वह है जब कि प्रेम करने वाले को प्रेम न किया जाए। इसमें प्रथम स्वार्थ दूसरा दया मिश्रित तथा तीसरा विशुद्ध प्रेम है। प्रेम करने वाले को प्रेम करने मे प्रेमी का स्वार्थ निहित है[3]। प्रेम न करने वाले पुत्रादि को माता

१—हिंदी साहित्य में प्रेमप्रवाह पृ० १६ पर चर्यापद से उद्धृत।

२—रतौ तथाऽनुभयानिष्ठायाम्। साहित्य दर्पण ३,२५२।

३—मिथो भजन्ति ये सख्य स्वार्थैं कान्तोद्यमाहिते।
नतत्र सौहृद धर्मं स्वार्थार्थं तद्धिनान्यथा।
भजन्त्य भज तो येवै करुणा पितरो यथा।
धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृद च सुमध्यमा।

पिता जो प्रेम करते हैं उसमें उनका दया-भाव भी कारण होता है। तीसरा अर्थात् आप्तकाम प्रेम या तो कृतद्रोही का हो सकता है या आप्तकाम का। भागवतकार ने श्री कृष्ण के मुख से यह कहलाया है कि 'मै प्रेम करने वालों को भी प्रेम नहीं करता[1]। रासलीला के मध्य में श्री कृष्ण का थोड़ी देर के लिए तिरोहित हो जाना इसी तथ्य का व्यंजक है। भ्रमर गीत से भी इसकी व्यंजना होती है, जहा गोपिया श्रीकृष्ण को 'छली' 'नि.स्नेह' आदि कहती हैं। वैष्णव भक्तों की कृतियों में जो प्रेम का वैपम्य प्राप्त होता है वह भागवत की परपरा के कारण ही है जैसे सूरदास की रचनाओं मे। तुलसीदासजी ने भी विपम प्रेम को श्रेष्ठ माना[2] है, पर यह दास्य भक्ति के कारण है जहा भक्त और भगवान का लघु गुरु भाव अनिवार्य[3] हो जाता है। सख्य भाव मे प्रेम के वैपम्य भाव की ही विशेपता है, पर दास्य भाव मे यह पात्रो की विशेपता है। सूरदास के प्रेम का वैपम्य भाव-मूलक है, तुलसीदासजी का पात्र मूलक। अस्तु। विपम प्रेम की एक परंपरा भागवत भक्ति धारा मे विद्यमान है। जिस आप्तकामत्व का भागवतकार ने उल्लेख किया है उसकी व्यजना आनदघनजी के निम्नलिखित सवैये से होती है, जिससे अनुमान किया जा सकता है कि इनके प्रेमगत वैपम्य का कारण भागवतानुसारी भक्ति-भाव है।

'किहि बानि ठनी हौं सुजान, मनोगति जान सकै सु अजान करयौ।'

× × × ×

तुम तौ निहकाम, सकाम हमैं घनआनद, काम सौं काम परयौ ॥[4]

× × × ×

भजता पि न वै केचित भजन्त्य भजत. कुत ।
आत्मारामा आप्त कामा अकृतज्ञा गुरु द्रुह । भा० १०, ३२, १७,१९ ।

१—नाहतु मख्यो भजतोपि जन्तून् भजाम्य मीपामनु वृत्ति सिद्धये। वही १०, ३२ २०।

२—कैलघु कै बड़ मीत भल सम सनेह दुख होय-दोहावली।

३—भरतजी ने राम के प्रति अपना स्नेह चातक के साम्य से व्यक्त किया है 'जलद जनम भरि सुरति विसारउ, जाचत जलपवि पाहन डारउ। चातक रटनि घटे घटि जाई, बढ़े प्रेम सब भांति भलाई। रामायण अ० का० २, २०६।

४—सुहि० ४२५।

दूसरी परपरा फारसी की है। वहा प्रेम की एकान्तिकता, अनन्यता, उच्चता आदि दिखाने के लिये प्रिय को कठोर एव स्नेह हीन दिखाया जाता हैं। आनदघनजी उर्दू फारसी भाषा से परिचित थे। यह उनकी 'इश्कलता' और 'वियोग वेलि' से अनुमित होता है। अतः यह भी सम्भव है कि उन पर इसका भी प्रभाव पड़ा हो। उन्हीं के समकालीन मित्र नागरीदासजी ने 'इश्क चमन' उर्दू फारसी की प्रेरणा से ही लिखा जान पड़ता है। इसका कारण यही है कि भक्ति में सख्य प्रेम का प्रचार बढा तो उसके समस्त अग्र देखे गए। उर्दू फारसी के कवियों की रचनाओं में विषम प्रेम प्रचलित था ही। हिन्दी के भक्त प्रेमियो ने भी उसे अपना लिया।

आनदघनजी के साधनात्मक प्रेम मे वैषम्य के दर्शन नहीं होते। वर्ण-नात्मक प्रबधो में राधा और श्रीकृष्ण दोनों ही एक दूसरे को प्रेम करते प्रतीत होते हैं। इन रचनाओ में वर्णित प्रेम का स्वरूप साधनात्मक है, क्योंकि उसका भक्ति में विनयोग होता है। अनुभूत्यात्मक प्रेम में ही अर्थात् उस प्रेम में जो किसी साध्यातर का साधन नहीं है, अपने में स्वतत्र है, विषम भाव की बार बार आवृत्ति हुई है। इसकी अत्यधिक आवृत्ति उर्दू फारसी के प्रभाव की व्यजिका है। 'इश्कलता' में उर्दू की शैली का प्रेम व्यक्त कर अत में कवि की भावना है कि जो व्रजचद की 'इश्कलता' मन लगा कर पढेगा उसे वृंदावन के धाम का सुख प्राप्त होगा।

"इश्कलता ब्रजचद की जो बाचे दे चित्त।
वृन्दावन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त[1] ॥

× × × ×

अत मे यही कहा जा सकता है कि इन पर उर्दू फारसी तथा भक्ति परपरा दोनों के प्रेमगत वैषम्य का प्रभाव है।

प्रेम की उत्पत्ति आलबन को देख कर होती है। प्रारभ में लाभ की भावना इस में विद्यमान रहती है, पर अगले विकास क्रम में कामना का अभाव हो जाता है। तीसरे क्रम में आलबन की धारणा भी लुप्त हो जाती है। प्रेम अनुभव स्वरूप, निर्विषय ही रह जाता है। इस स्थिति में आलबन स्नेह युक्त हो या स्नेह हीन, प्रेम तदवस्थ रहता है। पहली स्थिति स्थूल, दूसरा सूक्ष्म तथा तीसरी सूक्ष्मतर कही जा सकती है। नारद ने ऐसे प्रेम

१—इश्कलता ४४।

को श्रेष्ठ माना है, जो प्रिय के गुणों की अपेक्षा न करता हो। कामना रहित हो, प्रति-क्षण बढता हो, मध्य में विच्छिन्न न हो और अनुभव स्वरूप हो।[1] विषम प्रेम में भाव के इसी उत्कर्ष के दर्शन होते है।

५—स्वरूप

अब हमें देखना चाहिये कि कवि ने स्वय प्रेम का क्या स्वरूप उपस्थित किया है।

आसक्ति प्रधान

इनकी प्रेम भावना रीतिकालीन कवियों की भावना से भिन्न है। वासनात्मक प्रेम की तरह एक ओर तो इस में प्रगाढ आसक्ति है दूसरी ओर निर्वाह के लिए यह साधना जैसा है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम' मे आसक्ति की जिस प्रगाढता की ओर सकेत किया है वैसी इनके प्रेम में मिलती है। रूपनिधान सुजान को देखे बिना दृष्टि सब ओर से पीठ फेर लेती है। आँखें पुतलियों मे उखिल की तरह खटकती रहती हैं। मूदने पर महा अकुलानि होती है। जीव डूबने सा लगता[2] है'। विरह व्यथा का जो अत्यत मार्मिक अनुभव हुआ है उसका कारण आसक्ति ही है। इसका परिचय वियोग में ही नहीं संयोग में भी मिलता है। प्रिय आते हैं तो ऐसा लगता है कि करोड़ों प्राण आँखों में आ गए, आनद छा गया, महारस की दृष्टि हो गई। पर वही जब आखों से ओझल हो जाते हैं तो जीव की ऐसी दुर्गति होती है कि वही जानता है। प्रिय मार कर जिलाता है। जिलाकर मारता[3] है। प्रतीक्षा करते समय लालसा पलकों में आ छलकती है। मिलन समय में इतना हर्ष होता है कि सातों सुधि भूल जाती हैं। रीझ बावरे होकर कुछ का कुछ कहने लगते हैं[4]। इन भावो मे आसक्ति प्रधान प्रेमभावना के दर्शन होते हैं।

१—गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमानम् अविच्छिन्नन् सूक्ष्मतरन् अनुभव रूपन्।—नारद भक्ति सूत्र-संत्र ५२।

२—सुहि० ३

३—वही ५५

४—वही ६७

साधना प्रधान

पर जितनी प्रगाढ आसक्ति है उतनी ही सुदृढ निर्वाह की क्षमता है। वियोग व्यथाएँ पहाड़ बन कर आती हैं पर प्रेमी अपनी निर्वाह साधना से विचलित नही होता। प्रिय की निःस्नेहता, कपट रुक्षता, प्रेमी की टेक मे अन्तर नहीं ला सकते। प्रेम की समस्त प्रतिकूलताएँ उसका भाग्य है। यह 'विसासी' सुजान से भी प्रेम करेगा। प्राण मृत्यु के समय भी प्रणय नहीं छोडते। सुजान का सदेश लेकर ही शरीर से बाहर निकलना चाहते हैं। आशा की रस्सी मे भरोसे की शिला छाती से बाँध कर प्रण के सिन्धु में डूबने तथा व्यथाओ का आरा अपने सिर पर चलवाने को प्रेमी तैयार है। पर कठोर प्रिय के हृदय में वह दया उपजा कर रहेगा। सयोग और वियोग दोनो के वर्णन पढने पर यही धारणा पाठक की बनती है कि प्रेम कवि की साधना है। भोग का विलास या मन का उद्वेग नहीं है।

भावात्मक

यह स्थूल और शारीरिक नहीं है। भावात्मक है। सयोग में कवि ने कही भी अश्लील चेष्टाओं का तथा ऐन्द्रियक भोग विलासो का वर्णन नहीं किया। उलटे सयोग मे प्रेमाभिलाप वियोग की सी स्थिति की रचना कर देता है। इनके वियोग मे शारीरिक भोगो का स्मरण नहीं है। हृदय की मार्मिक पीड़ाओं का अनुभवाश्रित विश्लेषण हुआ है। अभिलाषाओं के भी विविध रूप उपस्थित किए गए हैं पर शरीर सयोगों का कहीं भी दर्शन नहीं होता। केवल प्रिय के सान्निध्य की अभिलापा रहती है[1]। रूप के वर्णन भी वासना दुष्ट नहीं हैं। अभिलापुक दृष्टि से देखे गये प्रभविष्णु यौवन का सरल तथा यथार्थ चित्रण है।

✓प्रिय हृदयस्थ रहता है। सयोग हो चाहे वियोग उसकी विद्यमानता हृदय में रहती है। वह पास बैठा हो फिर भी हृदयस्थ प्रिय से वियोग ही बना रहता है। सतत ध्यान के कारण वह आखों के आगे से टलता नहीं। ससार को देखने में स्वय प्रिय झाँकता है। प्रेम मूर्ति प्रिय की प्रेमी ने जो आरती सजाई है उस में हृदय दीपक है, स्नेह तेल है, वियोग-व्यथा बत्ती है। यह सब भावना के भार में रक्खी जाती है।

१—वही १०४

नेह सों मोय सजोय धरी हिय दीप दसा जु भरी अति आरति।
भावना थार हुलास के हाथनि यों हित मूरति हेरि उतारति[1]॥

अत आनदघन के प्रेम का रूप भावात्मक ही सिद्ध होता है। रीति मार्गी प्रेम की तरह वह स्थूल शारीरिक नहीं है।

अभिलाषा प्रधान

सयोग तथा वियोग के प्रसग मे यह विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है कि इनके प्रेम मे अभिलाषा का प्राधान्य है। प्रिय का मिलन हो या विरह चाह को अतर्ज्वाला हृदय मे जलती रहती है। प्रिय के मुख को देखने की चाह का झड़ सा लग जाता है। कभी दैवगति से प्रिय मिलते भी हैं तो लाखों मनोरथो की भीड लग जाती है। मिल कर भी मिलाप नहीं हो पाता।[2] मिलन मे प्रिय और प्रेमी के अभिन्न हो जाने पर भी अभिलाषा का विनाश नहीं हाता। 'वे दोनों मिलकर एक हो गये हैं। घनआनद का शुद्ध सामीप्य मिल गया है। फिर भी रूप की अनूप तरंगो को देख कर चित्त चाह के प्रवाह में बहा जाता है[3]।

अभिलाषा की इस प्रधानता मे भक्ति के सिद्धात की व्यंजना की गई प्रतीत होती है। भक्त लोग भगवत्मा न्निध्य पाकर भी प्रेम लक्षणा भक्ति का सुख लिया करते हैं। वह इस रूप मे सम्भव हो सकता है कि मिलन मे भी अभिलाषा बनी रहे। इसीलिए कुछ वैष्णव आचार्यों ने तो अभिलाषा को ही प्रेम माना है। उसअभिलाषा-स्वरूप प्रेम का सयोग हो चाहे वियोग कभी विनाश नहीं होना चाहिये। इसी मान्यता की अभिव्यक्ति मिलन मे अभिलाषा की विद्यमानता द्वारा की गई प्रतीत होती है।'प्रेम तृपा बाढति भली घटे घटैगी कानि'

यह बुद्धि व्यापार गम्य नहीं

प्रेम बुद्धि व्यापार गम्य नहीं है। हृदय की सहज सरल अनुभूति है। बुद्धि का सयानप व्यवहार में बाकपन लाता है। प्रेम का मार्ग 'सूधौ' है। इसलिए बुद्धि का विचार प्रेम के अपार समुद्र को देखकर हैरान हो जाता

१—सुहि० ५०७
२—वही ७२
३—वही २३६
४—वही ४१२,

है और 'वार' से ही लौट आता है। हृदय पर रूप का आक्रमण होने ही प्रेम की दुहाई फिरने लगती है। बुद्धि दासी हो जाती है। रीझ[1] पटरानी। यहाँ देखने पर कुछ भी नहीं सूझता। बूझते बूझते तो बौरई मिलती है। कवि प्रेमानुभूति को बुद्धि की उपचेतन दशा की अनुभूति समझता है। भूल को प्रेमानुभूति मे सहायक माना गया है। प्रिय की स्मृति का सुख तभी तक सोया रहता है जब तक भूल नहीं जागती। अर्थात् प्रिय के स्मृति सुख के लिये सासारिक पदार्थों की भूल आवश्यक है। यदि स्मृति अनुकूल हो जाए, ध्यान मे प्रेमी आपादमस्तक मग्न हो जाए, तो वह विषयभोगो की सारी सुख सुधि भूल जाता है।

जौ लौं जगैन भूल तौ लौं सोवैं सुरति सुख।
वही होय अनकूल तौ भूल सुख सुधि सबै ॥[2]

× × × ×

प्रेमानुभूति में बुद्धि का गौण स्थान स्थिर करने से फ्राइड के उस मनोविज्ञान सिद्धान्त का स्मरण होता है जिसके अनुसार हृदय के सहज सच्चे भाव बुद्धि की उपचेतन या अवचेतन दशा में ही व्यक्त होते हैं। चेतनावस्था में तो सामाजिक, धार्मिक मर्यादाए अथवा लज्जा, अभिमान आदि व्यक्तिगत कृत्रिमताए हृदय की सहज गति को रोक लेनी हैं, भावो को सरल सीधे रूप में व्यक्त नहीं होने देतीं। इसके अतिरिक्त भक्ति के एक सिद्धान्त की भी व्यजना इससे होती है। भक्ति मे ज्ञान, क्रियादाक्ष्य आदि लोक निपुणताओं का आदर नहीं किया जाता। भागवत के दशम स्कन्ध के २३वें अध्याय में जो 'यज्ञ-पत्नी उद्धरण' का सवाद है उससे यही व्यक्त किया गया है। कर्मकाडी विद्वान ब्राह्मण मागने पर भी श्रीकृष्ण को भोजन नहीं देते। उनकी पत्निया श्रद्धापूर्वक लेजाकर भेंट करती हैं। बाद में ब्राह्मण लोग अपने ज्ञान, क्रियादक्षता आदि को धिक्कारते हैं, कि इसका उपयोग भगवद् भक्ति में नहीं हो सका। 'हमारे जन्म, तीनों वेदों के ज्ञान, व्रत, बहुज्ञता' कुल, क्रियादक्षता आदि सबको धिकार है कि ये भगवान के विमुख हैं।[3]

१—वही १४८

२—वही ३६६।

३—धिक जन्मनस्त्रि वृद्धिद्या धिग व्रत धिग् बहुज्ञताम् धिक् कुल धिक् क्रिया दाक्ष्य विमुखा येत्वधोक्षजे भाग० १०२, २३, ४०।

५—प्रथम दर्शन जन्य

यह सहवासजन्य नहीं प्रथम दर्शन का प्रेम है। प्रेमी ने जब से रूप निधान सुजान को 'नेकु' देखा है तभी से दृष्टि अनुराग मय होकर थक सी गई है। बुद्धि ने सब प्रकार की लज्जा त्याग[1] दी है। रस मूरति श्याम सुजान के देखने से हृदय की जो गति होती है वह किससे कही जाए। चुम्बक लोहे की तरह चित्त प्रिय से चिमट गया है। छुटाने से और अधिक आसक्त[2] होता है। प्रिय का प्रथम दर्शन ही समस्त इन्द्रियों पर रीझ का जादू सा डाल देता है। वे चेतनाहीन हो जाती हैं। विकलता आदि हृदय पर छा जाती हैं। इस प्रकार यहाँ प्रेम में किसी प्रकार का क्रमिक विकास नहीं दिखाई देता। रूप का प्रभाव सेना को तरह अकस्मात आक्रमण करता है और समस्त इन्द्रियों को आत्मसात् कर लेता है। मुक्तककार प्रेमी कवियों के लिए यही प्रेम-प्रकार अनुकूल पड़ता है। क्रमिक विकास तो प्रबंधों में ही दिखाया जा सकता है।

६—स्वच्छन्द

रीतिमार्गी कवियों को भांति इनका प्रेम शरीर सीमा मे ही आबद्ध नहीं है। इसकी उत्पत्ति अवश्य शरीर से है पर इसकी भावना पूर्ण रूप से मानसिक है। साथ ही यह व्यापक भी है। प्रिय आनद का घन है जो सर्वत्र छाया हुआ है। वह जगत के पदार्थ जात में दृष्टिगत होता है। अनुभूत्यात्मक प्रेम का परम सत्ता के साथ जो सम्बन्ध स्थापित किया गया है वह भी दार्शनिक पद्धति पर नहीं। भले ही वह सत्ता राधा कृष्ण ही हों। आधिदैविक और आधिभौतिक प्रेम का योग भक्तो की रचनाओं में मिलता है। घनानद की रचनाओं में आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक प्रेम ही का योग है। इसलिए 'रहस्यवाद' का अश कहीं कहीं आ गया है। अनुभूति की यह उच्चता तथा आदर्श भावना स्वच्छन्दता की व्यंजिका है। यह पारवारिक नहीं है। सास-ननद का भय, सपत्नी-दाह, आदि पारवारिक बाधाएँ यहाँ नहीं हैं। नायक का धृष्टत्व दिखाने के लिए यदि कहीं प्रच्छन्नरति का प्रदर्शन किया गया है तो वह केवल एक पक्षीय प्रेम की व्यजना के लिए। प्रेम पात्र नर्तकी है जो आसव पान

१—वही १।

२—वही २।

करती है, नृत्य करती है और खुले आमोद प्रमोद करती है। उसके रूप सौंदर्य पर लाज भी इकौसी होकर रीझती है। उसका यौवन सौन्दर्य अधिकतर अनावृत है। लज्जावृत नहीं। पारिवारिक प्रेम की मर्यादा में तो वेश्या प्रेम का नहीं अपितु प्रेमाभास का पात्र मानी जाती है। यहा सामाजिक बन्धन भी प्रेम की अनुभूति में बाधा उपस्थित नही कर सकते। निंदक प्रेमहीन हैं, दोषदर्शी हैं, अतः उपेक्ष्य हैं। कोई मुह मोड़ो। करोड़ो चवाइयाँ करो। अपना सम्बन्ध तोड़ लो। पर इनकी सुनै कौन। वे लोग तो स्नेहहीन, नीरस हैं। उनका हृदय मलीन है। वे सदा दोषो में ही रहते हैं। गुण वे कैसे गिनेंगे। निंदक सीस धुना करें प्रेमी अपनी टेक नहीं छोड़ सकता[1]।

रीतिमार्गी लोगो ने प्रेम व्यवहार की जो कृत्रिमताएँ चित्रित की हैं जैसे दूती, सखी आदि की मध्यस्थता, अभिसार, वचनविदग्धता, क्रिया विदग्धता आदि छल, आनदघन ने वे वर्णित नहीं की। प्रेमानुभूति का सीधा विश्लेषण किया है। उनके लिये तो 'अति सूधौ सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानक बाक नहीं। तहा साचे चलै तजि आपुनपौ झिझकें कपटी जैनिसाक नहीं।' अत. इनकी प्रेम भावना स्वच्छद है।

प्रेम रंजित दृष्टि

कवि की मान्यता है कि प्रेम जैसे सूक्ष्म तत्व के पहचानने में प्रेमरजित दृष्टि ही समर्थ हो सकती है। जो सूझवाले हैं वे भी इसका अनुभव करते समय अपनी दशा भूल जाते हैं। उसे बिचारे साधारण जीव कैसे पहचान लेंगे। वे लोग तो प्रिय के मिलन पर हर्ष और वियोग में विषाद का निरर्थक अनुमान किया करते हैं। उन्हें इसका यथार्थ अनुभव नहीं होता है। प्रेम के साक्षी तो वे आखें हैं जिन्हें चाह की मीठी पीर उठती[2] है।

यह दृष्टि (प्रेम रजित) वस्तु का विलोडन कर सार का पता लगा लेती है। रूप भी रिझवार को देख कर अपने गुप्त गुणों को उसके समक्ष प्रकट कर देता है। वैसे चद्रमा सब के लिये प्रत्यक्ष है, पर देखता उसे चकोर ही है। प्रेम रजित दृष्टि तो प्रिय के रूप को देख कर न थकती है न ऊबती है। उसके लिए प्रिय की रूक्षता में मिठास है, उसके न बोलने पर

१—वही ८०
२—सुहि० २३०,

अपनी वाणी न्यौछावर की जाती है, उसके न देखने को देखते ही रहती है। फिर ऐसी दृष्टि का साधारण आंखों से कैसे मेल हो।[1]

७—प्रेम हीनों की निंदा

उपर्युक्त दृष्टिकोण के भेद के कारण ही आनदघन जी ने प्रेमहीनो की बड़ी तीव्र और मार्मिक निंदा की है। इस निंदा मे एक ओर तो प्रेम की सूक्ष्मता और स्वच्छदता की व्यजना है दूसरी ओर कवि अपने काल के तथा कथित प्रेम कवियों की भी आलोचना करता है। रीति काल के प्रधान भाव प्रेम और शृगार हैं। पर प्रेम का मार्मिक चित्रण वहाँ नहीं हो सका है। आनंदघन की दृष्टि में प्रेम का निरूपण करने पर भी वे सच्चे प्रेमी कवि नहीं। उन्हें बातों की सूक्ष्मता का ज्ञान नहीं है। वे जडता के निकट हैं उनके हृदय ठढे हैं। चित्र की सी आखों से शृंगार रस के रुप और स्वाद का सराहना वे करते हैं। पर उनका स्नेह कथन नीर मथन के समान है। वे लोग 'कठ प्रेम' का निर्वाह करने वाले हैं। ऐसे अमिल प्रेमियो से आनदघन का मेल नहीं हो सकता।[2] ये लोग प्रेम की अनुभूति नहीं करते सयोग वियोग के हर्ष विषाद का बुद्धि के सहारे अनुमान भर[3] करते हैं। इस लिए इनकी रचनाओं मे स्वाभाविकता नहीं रहती। आनदघन ऐसे लोगो के पास भी नही ठहरना चाहते, जिनकी दृष्टि में दही और मट्ठा, हस और बगला, कोयल और कौआ, काच और मणि, चन्दन और ढाक तथा राग और चाटी एक से हैं। वे मूढ कवि 'व्यौरि' कर नहीं बोलते। वे प्रेम का नियम तथा हित की चतुराई नहीं विचारते।

> "मही दूध सम गनै, हस बग भेद न जानैं।
> कोकिल काक न ज्ञान, काच मनि एक प्रमानैं॥
> चदन ढाक समान, राँग रूपौ सग तोलैं।
> विन विवेक गुनदोप मूढ कवि व्यौरि न वोलैं॥

१—वही १४३,

२—बात के देखते दूरि परे जड़ता नियरे सियरे हिय दाहैं।
चित्र की आखिन लीने विचित्र महा रस रूप सवाद सराहैं।
नेह कथैं, सठ नीर मथैं, हठ कै कठ प्रेम को नेम निवाहैं।
क्यों, घन आनद, भीजैं सुजाननि यों अमिले मिलिवौ फिरि चाहैं।

सुहि० ३८३।

३—वही २३०।

प्रेम नेम हित चतुरई जे न विचारत नेकु मन।
सपनेहु न विलंबियै छिन तिन ढिग आनदघन ॥[१]

× × × ×

इसमें उन मूढ कवियों के लिए फटकार है जिन्होंने आनंदघन जैसे मार्मिक कवि को फारसी भावों का चोर बताया है, जैसे भडौआ छन्दों में।

८—व्यथापूर्ण

आनदघन ने अपना प्रिय आनद का घन सुजान माना है। वह सर्वत्र आनद की वृष्टि करता है। पर चातक जिस प्रकार उसके विरह में विषाद-पूर्ण रहता है उसी प्रकार यहाँ प्रेमी वियोग व्यथा का ही अनुभव करता है। यहा तक कि सयोग में भी उसे सुख का लाभ नहीं होता। "यह कैसा सयोग न बूझि परै जो वियोग न क्यों हू बिछोहत है।" इस व्यथाप्रचुर प्रेम अनुभूति में सूफी कवियों का प्रभाव अनुमित होता है। कवि को अपने प्रिय घन का कभी-कभी बिजली की कौंध के समान क्षणिक साक्षात्कार होता है उसमें भी मनोरथो की भीज आ पड़ती है। वर्षा-काल में जल की धारा से भीगी दृष्टि बिजली का पूर्ण दर्शन नहीं कर पाती। इसी प्रकार आनदघन का प्रेमी रीझभीजी अपनी दृष्टि से प्रिय का पूर्ण दर्शन नहीं कर पाता। सूफी लोग भी इसी प्रकार प्रिय परमेश्वर का क्षणिक दर्शन करते हैं[२]।

आशा की भी यदा कदा अनुभूति होती है। 'विरही आखों को नष्ट कर देना चाहता है पर उनसे प्रिय दर्शन की अभिलाषा है। कानों को समाप्त कर देना चाहता है पर उनसे प्रिय के वचनामृत पान करने की अभिलाषा है। इसी प्रकार प्राणों को प्रिय पर न्यौछावर करने की लालसा से उन्हें समाप्त नहीं करता। पर ऐसी आशा मृत्यु से विरही की रक्षा भर करती है। उसके हृदय में आनद का सचार नहीं करती। इसका फल तो व्यथा का आगे जीवित रहना होता है। कवि की दृष्टि में मृत्यु कष्टों से छुटकारा देती है। इसलिए

१—सुहि० २८५।

२—पद्मावती के दर्शन का वर्णन अलाउद्दीन ने बिजली के साम्य से ही किया है "बिगसा कवल मरग निसि जनहुँ लौकि गई बीजु। ओहि राहु भा भानुहिं राघव मनहि पतीजु।" पद्मावत चितौरगढ वर्णन खट।

वियोग मे मरने वाले मीन और पतगो को वह हेय दृष्टि से देखता है। आशा गले की फाँसी है जो मरने भी नहीं देती और प्रेम का त्याग भी नहीं करने देती। व्यथा का खारी समुद्र इतना विशाल है कि इसमें आशा जैसा मधुर भाव भी गिर कर खारी हो गया है।

यह व्यथा बहुलता रीति मार्ग की लकीर से हटती हुई है। वहा पर संयोग में हर्ष और वियोग में विषाद के वर्णन का ही विधान है। पर इनका प्रेम व्यथाबहुल है। कवि की समस्त कविता ही मानो व्यथित हृदय की पुकार है। कवि ने कहा भी है कि काव्य का सच्चा रूप व्यथा ही है। हर्ष का वर्णन हृदय के सत्य स्वरूप को प्रकट नहीं कर सकता। कवि की उक्ति है कि 'जिन्हे रोना नहीं आता उनका गाना भी रोने के समान हो जाता है'[1]।

प्रकृति का सौंदर्य भी कवि के व्यथित हृदय को व्यथापूर्ण ही लगता है। वर्षा की धार वियोगी की दशा पर आँसू बरसाती है। पर्व त्यौहारों का आमोद-प्रमोद व्यथा को हल्का नहीं कर सकता। वास्तव में विषयिगत भाव के अनुभविता कवि के लिए समस्त बाह्य उपकरण उसके हृदयस्थ भाव को ही बढाने का कार्य करते हैं। कवि विरही है जिसके 'शरीर रूपी वन में विरह की दावाग्नि उठी हुई है। वह यत्नों के जल से शीतल नहीं हो सकती। उससे हृदय की प्रौढता फट जाती है। साँस बाँस की तरह चटकते हैं। आशा की लम्बी लता भी उद्वेग की झर से मुरझा जाती है। प्राण-खग दुःख के धूम मे घुटे होकर घिर जाते हैं। यह ज्वाला प्रिय के दर्शन जल से ही शात हो सकती है'[2]।

६—वैषम्य

वैषम्य इसकी (प्रेमभावकी) सबसे बड़ी विशेषता है। इस वर्णन के प्रसग में प्रेमी और प्रिय के स्वरुपों का परिचय विस्तार से दिया जा चुका है। सूक्ष्मतः प्रेमी की प्रेमासक्ति जितनी उत्कट है उतनी ही प्रिय की उपेक्षा-वृत्ति प्रबल है। वह निःस्नेह है, छली है। प्रेमी स्नेहसिक्त, सरल, सीधा है। प्रेमी का स्वभाव स्मरण का है, प्रिय का भूलने का। प्रिय मोहन है, प्रेमी मोहित। वह 'निहकाम' है, प्रेमी सकाम। इस प्रकार प्रेमी और प्रिय के स्वभाव की विषमता भाव को भी विषम बना देती है व्यवहार भी दोनों का

१—रोयबो न आवै तो पै गायबोहू रोयबो। प्रकी० ३०।

२—सुहि० ५०।

विषम है। प्रिय दुःख देकर सुख प्राप्त करता है। प्रेमी हृदय देकर चिंता लेता[1] है।

प्रेम भावना का प्रभाव भी दोनों पर सम नहीं पड़ता। प्रेमी को प्रेम दुःख दोषों से दुखी करता है, प्रिय को सुखों से पोषित। वह प्रेमी को चिंता तथा प्रिय को निश्चिंतता प्रदान करता है। प्रेमी रोकर जागता है, प्रिय हँस कर सोता है। प्रिय मे प्रेम भूलें भरता है, प्रेमी मे शल्य बन कर करकता रहता है। प्रिय के लिए चैन की चाँदनी हर्ष की सुधा बरसाती है, प्रेमी के लिये विषाद का सूर्य तपता रहता है। आनद का घन कहीं उमड़ता है कहीं उघरता है। प्रेम की विषमता अतर्क्य है[2]।

इस तरह पात्रों के स्वभाव, व्यवहार तथा भावना के प्रभाव आदि के कारण प्रेमगत वैषम्य का जन्म होता है। वह विविधरूप से कवि द्वारा चित्रित किया गया है। यह तत्व इतना बढ़ा हुआ है कि इसके द्वारा शैली मे भी विरोध की प्रवृत्ति आ गई है। यह फारसी के प्रेमगत वैषम्य के रूप मे भी प्राप्त है और भक्त तथा भगवान के भेद की विषमता के रूप मे भी।

१०—अनन्यता

अनन्यता प्रेम का मूलतत्व है। यही इसका सत्यापक प्रमाण होता है। आनदघन की रचनाओं में इसकी उच्चतम कोटि प्राप्त होती है। यहा प्रेमी चातक है, प्रिय घन। चातक भारतीय साहित्य मे अनन्त काल से अनन्य प्रेम का प्रतीक माना गया है। कवि ने उसे अपना मुख्य प्रतीक बना कर अनन्यता का परिचय दिया है। प्रिय अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल विद्यमान हो चाहे अविद्यमान पर प्रेमी उसी से प्रेम करता रहेगा। चातक का जीवन तो प्रेम की टेक के निर्वाह करने में है। वह दिन रात घन के रस बरसाने को देखने के लिए टकटकी लगाये रहता है।[3] वह तो पुकार करना जानता है, बादलों के हटजाने पर भी वह क्या आखें और मुख मूद लेगा?[4] प्रेमी अपनी अनन्यता का भी परिचय देता हुआ कहता है कि प्रिय, तुम जहा हो प्राण वहीं है। यह जीवन तो भ्रम सा है। मेरी तो गति मति, और सुरति सब आप ही हैं। फिर कहीं ऐसे आश्रित को भी छोड़ा जाता है?[5]

१—वही १३१।
२—वही ११३।
३—वही १०३।
४—वही १३८।
५—वही १६५।

११—आन्तरिकता

इसकी अनुभूति आन्तरिक है। रीति मार्गी प्रेम की तरह बाहर इसका प्रदर्शन नहीं होता। भीतर ही भीतर हर्ष विषाद की तरगें उठती रहती हैं। प्रेमी का मौन उसके मनोवेगों को छिपा लेता है। ध्यान की प्रचुरता भी इस आन्तरिकता के कारण ही है। विरह मे श्वास आन्तरिक अग्नि से तचते रहते हैं। उद्वेग की अग्नि से अग उसीजते हैं, मसोसों की ऊमस से जीव व्याकुल रहता[1] है।

संयोग मे अभिलाषाओ के अतिरेक से, भावी वियोग की आशका से अथवा प्रिय के रूप के लोकोत्तर होने मे जो विषाद उत्पन्न होता है वह भी प्रेम भावना की आन्तरिकता के ही कारण है। अन्यथा रीति काल के शृङ्गारी कवियो ने तो सयोग में विलासो का स्थूल वर्णन किया है जिसमें अनुभूति पक्ष लुप्त ही हो जाता है।

वियोग में वैसे सभी कवि ध्यान प्रवण हो जाते हैं। वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है। पर घनानद मे यह प्रवृत्ति चरम सीमा तक पहुँची हुई है। अनेक अन्तरायों के मध्य में आ जाने से प्रिय से शरीर सम्बन्ध नहीं हो सकता पर प्रिय उसी मे (शरीर मे) फानूस के दीपक के समान उजाला किये हुए है। लोचन पतग के समान हृदयगत प्रिय के आस पास ही मडराते रहते हैं। ध्यान की सीप मे प्रिय मुक्ता के समान विद्यमान है। इसलिए प्राण हस उड़ कर नहीं जाते। ऐसी स्थिति में प्रिय को दूर कैसे बताया जाय, जब कि वह हृदय के सिहासन पर हो विराजमान है? वह दृष्टि के आगे घूमता है। बोलता नहीं तो इसमें उसका क्या वश? प्रेमी को तो यह वियोग मे भी समीप ही लगता[2] है।

इनकी प्रेमानुभूति की यह सबसे बड़ी विशेषता है। यहा मौन मे पुकार रहती है। प्रेमानुभूति से ज्ञान की अतरिन्द्रिया जैसे बुद्धि, जीव, मन आदि की जैसी दशा होती है उनका चित्रण कवि ने अधिक किया है। भाव जैसे अभिलाष, रीझ, मोह, आशा, निराशा, उत्साह हर्ष, औत्सुक्य, मति एवं रति आदि का ही चित्रण विश्लेषण अधिक किया गया है। यह सब अनुभूति की आन्तरिकता के बिना नहीं हो सकता। ✓

१—वही १७०।

२—सुहि० ९८।

(ख) रीति कालीन प्रेम और आनंदघन का प्रेम

शृंगारिकता रीति काव्य की प्रधान प्रवृत्ति है। इस समय के आचार्य तथा कवियों का प्रमुख रस प्रेम-शृंगार ही है। पर घनानद का प्रेम उससे विलक्षण है। रीति मार्गियो का प्रेम किसी प्रकार का अतरग साधन नहीं है। वह बाह्य साध्य है। इसीलिए उसमें इद्रिय तुष्टि और विलासवासना का प्राधान्य विद्यमान है। रीति काव्य को शृंगारिक कह सकते हैं, प्रेम प्रधान नहीं। प्रेम की जो एकनिष्ठता होती है उसका वहाँ अभाव है। नायक नायिकाओं की बहुविषयक आसक्ति के कपटपूर्ण व्यापारो से साहित्य भरा पड़ा है। विलास की रसिकता वहाँ मिलती है। इस रसिकता मे भी किसी प्रकार का गाम्भीर्य या आतरिकता हो, वह भी नहीं। स्थूल शारीरिकता की प्रमुखता है। प्रिय की आसक्ति प्रेयसी के शरीर सौंदर्य से रहती है। इसलिए वह अगो के वर्णन में अनेक उपमानों का प्रयोग करता है। उनकी शोभा मे उसकी आखें मधु मक्खी बनकर सलग्न हो जाती हैं। उसका प्रेय भी प्रेयसी का शरीर सयोग ही रहता है। सयोग काल में आलिंगन, चुबन सुरत, उसके अवसाद आदि श्लील-अश्लील शारीरिक व्यापारों का ही कवियो ने वर्णन किया है। प्रेम की भावना-प्रधानता का यहा अभाव मिलेगा। रीति काल की रसिकता मे तरलता विद्यमान है, तीव्रता नहीं है। अतः रीति काल के प्रतिनिधि कवि बिहारी, मतिराम, पद्माकर रसिक ही थे प्रेमी नहीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनकी रसिकता या सौंदर्य भावना भी बहिरग ही थी अतरग नहीं[1] थी। वह विषयगत ही थी विषयि गत नहीं, जिसमें भावों के विविध रूप एक के बाद दूसरे आते जाते और बनते बिगडते रहते हैं। इसीलिए रीतिकारों की रचनाओ में भावों के विश्लेषण की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती। "भावना भेद स्वरूप को जाने" की प्रशसा इन लोगों में से किसी की नहीं की गई।

गार्हस्थिकता भी इस काल के शृगार की विशेषता है। कन्या, परोढा, वेश्या आदि के प्रेम की सर्वत्र निंदा को गई है। उसे रस के स्थान पर रसाभास ही माना है। "प्रेमहीन त्रिय वैश्या है शृंगारामास।"[2] इसीलिए

१—डा० नगेन्द्र—रीति काल की भूमिका और देव तथा उनकी कविता पृ० १९४
२—देव प्रेम चद्रिका

प्रिया-मिलन के लिए दूती, सखी आदि का प्रचुर प्रयोग किया जाता है। इस से पारिवारिक मर्यादा का भग नहीं होता। सास, ननद, गुरुजन आदि का भय तथा लज्जा आदि भाव सर्वत्र बने रहते हैं। अभिसार आदि मे थोडी बहुत उच्छृ खलता दिखाई देती है। वहाँ भी दूतियाँ मार्ग प्रदर्शन करती हैं, नायिका को चलने के लिये प्रोत्साहित करती हैं। उसकी सहज लज्जा का अनेक प्रकारो मे अपनयन करती हैं। इसलिए घटनात्मक साहसिकता का इसमें अभाव रहता है। इसका कारण सस्कृत की प्रेम शृगार परम्परा का प्रभाव है। सस्कृत का उत्तरकालीन साहित्य शृगारप्रधान तो हो गया था पर वर्णाश्रम मर्यादाओं का प्रभाव उस पर बड़ा प्रबल था। उसके फलस्वरूप अमर्यादित प्रेम के वर्णन सस्कृत साहित्य में बहुत कम हैं। समझिए नहीं ही हैं। हिंदी के रीति काल का प्रेम उसी का विकास है। यद्यपि इस समय तक विदेशी प्रेम फारसी साहित्य के द्वार से आकर प्रविष्ट हो गया था। पर वह भावानुभूति तथा अभिव्यजना के छोटे मोटे परिवर्तनों के अतिरिक्त मूल ढाचे मे कोइ अदल बदल नहीं कर सकता था। यहाँ के प्रेम शृगार का रूप शुद्ध भारतीय ही रहा था।

यह बताया जा चुका है कि रीति काल के कवि प्रकृत्या प्रेमी नहीं थे। काव्यगत प्रेम उन्हें कवि परपरा से मिला था। उसी का वे शास्त्रों के बल पर निर्वाह करते थे। उसी से इसकी महत्ता की घोषणा करते थे। इनकी व्यक्तिगत अनुभूति इस विषय को नहीं थी। प्रेमहीनों की निंदा मे इन कवियों को ही घनानद ने लिया है। साधारण व्यक्तियों को नहीं। क्योंकि इनकी प्रेमानुभूति में वैयक्तिकता का अभाव मिलता है। भाषा शैली से एक रीति काल की रचना दूसरे की रचनाओं से पृथक की जा सकती है। पर भाव की दृष्टि से सब एक ही प्रकार की प्राय. हो जाती हैं। कभी ये लोग नारियों के रूप सौन्दर्य को प्रशसा में ससार की समस्त श्रेष्ठ वस्तुओं को तुच्छ प्रमाणित करते हैं, तो कभी उनकी निंदा भी करते हैं। उनके व्यक्तिगत भाव कुछ नहीं प्रतीत होते। प्रेम-पात्र भी इनके प्रेम मे कोई स्त्री विशेष नहीं है, साधारण नारी है जो उपभोग्य से अधिक और कुछ नहीं। देव ने अपने रस विलास में इसी भाव को स्पष्टरूप से स्वीकृत किया है।

काम अधकारी जगत लखै न रूप कुरूप।
हाथ लिए डोलत फिरै कामिनि छरी अनूप॥

तातै कामिनि एक ही कहन सुनन को भेद।
रागै पागै प्रेम रस मैटे मन के खेद॥[1]

× × × ×

इससे स्पष्ट है कि प्रेम के आश्रय और आलम्बन दोनों में व्यक्तित्व का अभाव था।

कृत्रिमता इसमें इसलिए आ गई थी कि अनुभूति की सत्यता नहीं थी। कवियों को कुछ अपने हृदय का अनुभव जब कहने को नहीं था तो बाह्य उपचारों के वर्णन से काम चलाते थे। नायिका भेद, दूती, सखी आदि का आश्रयण, पूर्वराग, मान आदि की परिस्थितियाँ, अभिसार आदि में वेष भूषा आदि का बखेड़ा फैलाना सब कृत्रिमताएँ हैं। सच पूछा जाय तो रीतिकाल के प्रेम शृंगार में इन सबके अतिरिक्त कुछ और मिलता ही नहीं।

प्रेम निरूपण की शैली में ऊहात्मक पद्धति से हर्ष विषाद की मात्रा का साम्यादि द्वारा अनुमान कराया जाता है। जाड़े के दिनों में भी सखियाँ गीले वस्त्र लपेट कर विहारी की विरहिणी के पास जाती हैं। इससे उसके विरह संताप का अनुमान किया जा सकता है। संताप के समय विरहिणी के हृदय में कैसे और क्या क्या भाव उठते हैं यह विहारी के अनुभव से बाहर की बात है।

रीतिकारों का प्रेम सम था। संस्कृत साहित्य की परंपरा में अनुभयनिष्ठ प्रेम को रसाभास का हेतु माना है। इसी परंपरा का अनुसरण रीतिकारों ने किया था। इसलिए नायक और नायिका दोनों ही समान रूप से एक दूसरे को प्रेम करते हैं। मानिनी नायिका का अनुनय विनय करने के बाद यदि प्रिय निराश होकर लौट जाता है तो नायिका पीछे पश्चाताप करती है। प्रेम की विषमता में जो भाव की उच्च भूमि तथा एकान्तिकता सिद्ध होती है उससे ये लोग परिचित तो रहे होंगे पर अपनी शास्त्र मर्यादा के भंग-भय से उन्होंने उसे अपनाया नहीं।

डा० नगेंद्र ने रीति मार्गीय प्रेम शृंगार की मुख्य विशेषताएँ चार बताई हैं।

१—उसका मूलाधार रसिकता है प्रेम नहीं। वह रसिकता शुद्ध ऐन्द्रियक

१—डा० नगेन्द्र रीतिकाल की भूमिका तथा देव और उनकी कविता पृ० १७७ पर उद्धृत।

तएव उपभोग प्रधान है। उसमे पार्थिव एवं ऐंद्रियक सौन्दर्य के आकर्षण स्पष्ट स्वीकृति है। किसी प्रकार के अपार्थिव अथवा अतीन्द्रीय सौन्दर्य के स्य सकेत नहीं।

२—इसीलिए वासना को अपने प्राकृतिक रुप में ग्रहण करते हुए ती की तुष्टि को निश्छल रीति से प्रेम रुप में स्वीकार किया गया है। सको न आध्यात्मिक रुप देने का प्रयत्न किया गया न उदात्त और परिष्कृत रने का।

३—यह शृगार उपभोग प्रधान एव गार्हस्थिक है जो एक ओर बाजारी क या दरबारी वेश्या विलास से भिन्न है दूसरी ओर रोमानी प्रेम । साहसिकता अथवा आदर्शवादी बलिदान भावना भी प्रायः उसमे हीं मिलती।

४—इसीलिए इसमें तरलता और छटा अधिक है आत्मा की पुकार र तीव्रता कम[1]।

आनदघन जी की प्रेमभावनाओं मे अनेक ऐसी विशेषताएँ हैं जो उपर्युक्त ति मार्गी विशेषताओं से भिन्न हैं। इसलिए प्रस्तुत कवि का मार्ग रीतिमुक्त थर होता है। यह बताया जा चुका है कि इनका प्रेम भावात्मक है रीरिक नहीं। सयोग मे शरीर सहवास की चेष्टाओ का तथा वियोग मे सके हाव भाव या हास विलासो का वर्णन कवि ने नहीं किया। उभयत्र दय के भावों का ही विश्लेषण किया है। प्रिय के बिछुडने पर तथा मिलने र प्रेमी शाति का अनुभव नहीं करता।

'बिछुरैं मिलै प्रीतम साति न मानै'

प्रिय दर्शन की अभिलाषाओं का झड सा लगा रहता है। कभी वगति से स्वप्न को भाति उनका मिलन भी होता है तो मनोरथों की भीड र जाती है। फलस्वरूप मिलकर भी मिलाप नहीं होता।

कबहुँ जौ दई गति सौं सपनौ सो लखौं तो मनोरथ भीर भरै।
मिलिहू न मिलाप मिलै तनकौ उर की गति क्यों करि च्यौरि[2]परै।

प्रिय के रूप का साक्षात्कार कर लेने से भी प्रेमी प्रसन्न नहीं होता। गवान की छटा देख कर जैसे भक्त आश्चर्य चकित होता है उसी प्रकार

१—वही पृ० १७८
२—सुहि० ७२

प्रेमी की बुद्धि आश्चर्य चकित हो जाती है। मति की गति थक जाती है, कहने का सामर्थ नहीं रहता।

> क्यौं करि अनद घन लहियै संजोग सुख
> लालसानि भीजि रीझि बातै न परै कहीं।[1]

नेत्र रूप को देखते हैं पर वर्णन वाणी को करना पड़ता है। उसे वे कैसे करें। बिना देखे रूप का वर्णन वाणी कर दे तो उसका विश्वास क्या? नेत्र रूप के स्वाद में भीने रहते हैं, पर वे अबोल ही हैं।

> जो कछू निहारै नैन कैसे जो बखानै बैन।
> बिना देखि कहैं तो कहा तिन्है प्रतीति है।
> रूप के सवाद भीने बापुरे अबोल कीने
> विधि बुधि हीने की अनैसी यह रीति[2] है

रूप दर्शन के समय बाह्य इद्रियाँ सतुष्ट होकर हर्ष लाभ करें, इससे पूर्व ही हृदय विविध भावों का उद्गम, दुख की धूँधरि उठा देता है। प्राण उसी में घुटने लगते हैं।

सयोग काल में घनानद की अनुभूति रीतिमार्गी कवियों की भाँति कुठित नहीं होती। और तीक्ष्णतर होती जाती है। उसका कारण प्रेम भावना की भावात्मकता है। वियोग में और लोग शरीर-सयोग के सुखों का स्मरण करते हैं। घनानद आतरिक पीड़ा की विविध अभिव्यक्ति करते हैं। यहा मौन में आकुल प्राण पुकारते हैं।

भौतिक प्रेम का आध्यात्मिक प्रेम में विकास है।

इनके प्रेम में अतींद्रिय सौंदर्य के रहस्यमय सकेत विद्यमान हैं। प्रेम का प्रारभिक रूप शारीरिक है। रूप सौंदर्य पर इन्द्रियों की रीझ, विस्मय आदि के भाव अनुभूत हुए हैं। पर इसका आगे भावना में विकास हुआ है। प्रिय भले ही नाम से राधा कृष्ण हों पर वे स्वभाव में 'आनद के घन' तथा 'सुजान' हैं। 'आनद के घन' से प्रिय की आनदमयता तथा 'सुजान' से उसकी सर्वज्ञता की व्यजना की गई है। बादलों की तरह ही प्रिय सर्वत्र व्यापक है। ध्यान के सीप में उसे हृदय के अदर बिठा लिया जाता है तो

१—वही २००

२—वही २०१

संसार को देखने में वही दिखाई देता है। प्राणों की वह गति है। बुद्धि स्मृति, नेत्र और वाणी में उसका वास है। प्रेमी की मनस्थिति ऐसी है कि ससार आँखों से ओझल हो चुका है। आनदघन सर्वत्र छाया हुआ है। इस लिए चातक की तरह प्राण उसी की ओर ताकते रहते[1] हैं। प्रिय के गुण गाते गाते बुद्धि उसी में उलझ जाती है। जिस प्रकार कानों से उन्हें सुना है उसी प्रकार प्राणों से देखने की साध बनी रहती है। पर प्रिय आँखों से नहीं दिखाई देते। यद्यपि सब जगह वह छाये हुए हैं। उन्हें पाकर प्रेमी खोये से हो जाते हैं। प्रेमी आश्चर्य चकित होकर कहता है कि 'हे बिसासी बालम, हम तुम एक दूसरे से परिचित नहीं हो पाये। एक ही वास बसे हैं फिर भी दोनों को एक दूसरे का परिचय नहीं हो पाया।' इन उक्तियों मे ब्रह्म की व्यापकता तथा उसे प्रेम द्वारा प्राप्त करने की जीव की अभिलाषा का रहस्य प्रतीत होता है। प्रिय और प्रेमी के एक साथ रहने का अर्थ जीव और ब्रह्म का शरीर में होने वाला एकाश्रय सहवास प्रतीत होता है[2]।

'प्रीति पावस' में कवि ने व्यक्त किया है कि आनदघन के निकट सदा प्रेमानद का पावस ही बना रहता है। वहा चाहों की वर्षा होती है। वह ज्यौं ज्यौं बढती जाती है तृषा की अग्नि त्यौं त्यौं प्रचड होती जाती है। 'इश्कलता' में फारसी ढंग से अनेक प्रेमोपालभ प्रकट किए हैं। वियोग की तीक्ष्णता 'आशिकाना' ढग से अभिव्यक्त करते हुए कवि 'शोहदा' सा लगता है—

> 'जिगर जान महबूब असाने की बेदरदी दैंदा है।
> पाक दिला दे अदर धँस कर बेनिसाफ दिल लैंदा है॥
> आनदघन हो प्रान पपीहा निसदिन सुध न विसारी है।
> महर लहर अजचद यारदी जिंद असाडी जारी है[3]॥'

१—वही २६५

२—भले हो रसीले अरसीले सुनिहूजिए च,
गुननि तिहारे उरझ्यौ है मन गाय गाय।
काननि सुनो है तैसे आखिन हूँ देखें जाते,
दीखत नहीं औ सब ठाव रहे छाय छाय।
ऐसे घन अनद अचभे सों भरे ही भारी,
खोए से रहत जित तित तुम्हें पाय पाय।
एक वास बसे सदा बालम बिसासी पै न,
भई क्यों चिन्हारि कहूँ हमैं तुम्हैं हाय हाय। सुहि ४६८

३—इश्कलता १८।

पर रचना की समाप्ति पर कवि कहता है कि जो आनद के घन छैल की छवि ध्यान धर देखेगा वही 'इश्कलता' के अर्थ को समझ सकेगा। इसे जो चित्त देकर बाचेगा उसे बृन्दावन के धाम-सुख की उपलब्धि होगी—

आनद के घन छैलकी छवि निरखै धरि ध्यान।
इश्कलता के अर्थ को समझै चतुर सुजान॥
इश्कलता ब्रजचन्द का जो बांचै दे चित्त।
बृदावन सुखधाम सो लहै नित्त ही नित्त[1]॥

इससे स्पष्ट है कि कवि के प्रेम का विषय कोई ससारी प्राणी न परमेश्वर है।

भौतिक प्रेम के आध्यात्मिक रूपमे विकसित होने की प्रेरणा—

उपर्युक्त रहस्यवाद वैष्णव दर्शन से तो इसलिए प्रभावित लगता है कि व राधा और कृष्ण पर आधारित है। इसका स्वरूप पदावली तथा वर्णनात्म प्रबन्धों में प्रकट हुआ है। पर दूसरी ओर फारसी शैली से प्रभावित लग है, जहा अधिभूत पार्थिव प्रेम का अध्यात्म अशरीर सत्ता के साथ स: जाड़ा जाता है। वह अदृश्य सदा आनदरूप है। वेदान्तियों के ब्रह्म के सम जो सर्वत्र व्यापक है। फलतः इनकी आन्तरिक प्रेमानुभूति का रहस्य भाव मे विकास होना जैसा स्वाभाविक था वैसा ही हुआ है। इस विशेषता मे राति मार्ग से भिन्न रातिमुक्त धारा मे आते हैं।

भावात्मक होने के कारण ही प्रेम का रूप उदात्त और मानसिक है कहीं भी शृगार के अश्लील वर्णन नहीं किये गए। जिस प्रकार की घ आसक्ति सुजान वेश्या के प्रति प्रारम्भ में थी वैसी ही सखी भाव की उपास में श्री कृष्ण और राधा के प्रति हो गई है। वासना साधना बन गई है भोग की लालसा भौतिक प्रेम में भी नहीं दिखाई देती। केवल दर्शनों आकाक्षा बनी रहती है। इसी प्रकार सखी भाव में युगल मूर्ति की र केलियों के साक्षात्कार कर लेने तथा उनमें सहायक होने पर भी कवि सखी रूप श्रीकृष्ण में पति भाव का कामुक नहीं होता[2]। वह केवल केलिसा और सेवा के अवसर से सतुष्ट रहता है। प्रेम की भौतिक भावना का उ का त्यों भक्ति में यह विनियोग उसके परिष्कार का ही चिह्न है। शारीरि

१—वही ४३, ४४।

२—देखिए सप्रदाय के प्रकरण में सखी भाव का स्वरूप विवेचन। सुहि० २४१।

वासना का मानसिक भावना में परिणाम भी परिष्कार के ही फलस्वरूप है। अत. आनदघनजी का प्रेम रीतिकारों के प्रेम के विपरीत उदात्त और परिष्कृत प्रतीत होता है।

आनदघन का प्रेम गार्हस्थिक भी नहीं कहा जा सकता। वेश्या के साथ उसका प्रारम्भ होता है। सुजान का सौदर्य अनावृत है। वेश भूषा भडकीली है। हावभाव प्रमविष्णु और मादक हैं। घनानद का प्रेम भी सामाजिक शालीनता से झिझकता नहीं है। उसकी अभिव्यक्ति निश्छल और स्पष्ट है। प्रेमी सुजान के पैरो पर अपना सिर घिसना चाहता है। उसकी अनखौंही मुद्रा के सामने विनीत भाव से खड़ा रहना चाहता है। ऐसा करते हुए उसे सामाजिक लज्जा का अनुभव नहीं होता। अत. यह पारिवारिक प्रेम नहीं कहा जा सकता।

थोडे बहुत जो खडिता के वचन लिखे गए हैं उनमें प्रिय की कठोरता, नि.स्नेहता आदि ही बहु विषयक प्रेम द्वारा व्यक्त की गई हैं। पारिवारिकता का आभास उससे नहीं लगता। यह बताया ही जा चुका है कि सास ननद का भय, सपत्नीदाह, परिजनों से प्रेम का छिपाव, दूती या सखियों द्वारा प्रिय का बुलावा या उसके पास जाना, परिजनो में घिर कर भीतर ही भीतर घुटना आदि यहाँ कुछ नहीं है। प्रिय मिलन में यहाँ पर या तो प्रेमी की ही भावनाएँ बाधक हैं या प्रिय का निःस्नेह रूप। पारिवारिक तथा सामाजिक मर्यादाओं का यहाँ कोई स्थान नहीं। अपने भौतिक रूप में यह निर्भीक वैशिक प्रेम है। सामाजिक निदा गर्हणा को तो प्रेम हीनों की भूल बताकर तिरस्कार कर दिया गया है।

पर इसकी अनन्यता और एकान्तिकता की सिद्धि के लिये कवि ने स्थिरता उच्च कोटि की प्रदर्शित की है। प्रेम का वैषम्य इसकी स्थिरता और अनन्यता को और अधिक उज्वल रूप में प्रस्तुत करता है। 'प्रिय सुजान को देखने के लिये औरो से अनदेखी कर दी है, उसका मार्ग देखते देखते पलक थक गये हैं, उनमे पीड़ा उत्पन्न हो गयी है। नेत्र भी मार्ग को नाप नाप कर थक गये हैं। हृदय मे दिन-रात उद्वेग की अग्नि लगी रहती है। प्रिय की आराधना की योग साधन होती रहती है। इस दुसह दुहेली दशा के बीच में पड़कर प्राण थक गए हैं। यद्यपि प्रेमी अपने जीवन से उदास हो गया है फिर भी

वह प्रिय का नाम लेकर जीवित रह[1] रहा है। केवल प्रिय की ही आशा और प्रिय का ही विश्वास प्राणों में बैठा हुआ है। वे चातक की तरह आठो याम उसी का नाम लेते रहते हैं।

> एकै आस एकै बिसवास प्रान गहै वास,
> और पहचानि इन्हें रही काहू सौं न है।
> चातक लौं चाहै घनआनंद तिहारी ओर,
> आठौ जाम नाम है बिसारि दीनी मौन है[2]।

स्थिरता चरम कोटि की दिखाई गई है। प्राणांत तक प्रेमी प्रेम को नहीं छोड़ना चाहता। प्रिय की निः स्नेहता, रुक्षता आदि उस की भावना को चलायमान नहीं कर सकते। मरते समय भी प्राण सुजान का संदेश लेकर ही बाहर जाना चाहते हैं।

इस तरह आनदघन का प्रेम कोरी शरीर की स्थूल वासना ही नहीं है। उस में आदर्श भावना की प्रचुरता विद्यमान है। भावात्मक होने के कारण घटनात्मक वह नहीं है। अत रोमानी साहसिकता के दर्शन आनदघन के प्रेम में नहीं हो सकते। पर उसका साधना रूप यहा अच्छी प्रकार स्पष्ट हुआ है। इस विशेषता से भी ये रीति मार्गी प्रेम से भिन्न प्रकार के प्रेम के भावुक ठहरते हैं।

रीति मार्गी प्रेम में जो तरलता और छटा है उसके स्थान पर यहा तीव्रता और आत्मा की पुकार मिलेगी। तीव्रता के दर्शन आसक्ति के स्वरूप वर्णन में प्राप्त होते हैं। वह इतनी तीव्र है कि प्रिय के दर्शनों की लालसा में प्राण आखों में आ बसते हैं। जान प्रिया का मिलन होता है तो लाखों प्राण न्यौछावर करने की अभिलाषा इतनी तीव्र हो जाती है कि वह सयोग

१—तेरी बाट हेरत हिराने औ पिराने पल,
थाके ये बिकल नैना ताहि नपि नपि रे।
हिये में उदेग आगि लागि रही राति धौंस,
तोहि को अराधौं जोग माधौं तपि तपि रे।
जान घनानद यौं दुसह दुहेली दसा
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे।
जीयें तें भई ऊदास तऊ है मिलन आस,
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे। सुहि० २९४

२—वही २६०

के हर्ष की जगह विषाद उत्पन्न करती है। यह सब आसक्ति की तीव्रता के कारण है। प्रेमानुभूति की तीव्रता कवि ने प्रेयसी और प्रियतम के संयोग काल में भी व्यक्त की है। नीचे लिखा पद्य उसी का व्यंजक है।

> पौढ़े घनआनंद सुजान प्यारी परजंक,
> धरे घन अंक तऊ मन रक गति है।
> भूषन उतारि अंग अंगहि मग्हारि नाना,
> रुचि के विचार सों समोय सौंधी मति है।
> ठौर ठौर लै लै राखैं और औरै अभिलाखें,
> बन तन आखे तेई जानै दशा अति है।
> मोद मद छाके घूमैं रीझि भीजि रस झूमे,
> गहैं चाहि रहैं चूमैं अहा कहा रति है।[1]

जिन चेष्टाओं का वर्णन किया गया है उनके पीछे आसक्ति की तीव्रता ही प्रतीत होती है। संयोग की तरह वियोग में भी तीव्रता और अधिक मिलती है। वेदना की मार्मिकता और मौन सहिष्णुता उसकी तीव्रता का ही परिचायक है। एक पद्य का उदाहरण पर्याप्त होगा।

> अतर ही किधौं अंतर हौ, दृग फारि फिरौं कि अभागिन भीरौं।
> आगि जगौं, अकि पानी परौं अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं॥
> जौ घनआनंद ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्रानति पीरौं।
> पाऊ कहा हरि हाय तुम्हें धरती मैं धसौं कि अकासहि चीरौं[2]॥

इनकी कविता व्यथा प्रधान है। व्यथा का स्वरूप आन्तरिक है, यह भाव प्रकरण में प्रतिपादित किया गया है। प्रेमी को ऐसी परिस्थिति प्रतीत होती है जिससे वह निकल नहीं सकता। उसमें किसी प्रकार का सुख भी नहीं पा सकता। एक प्रकार की बेबसी में वह फँसा हुआ दृष्टिगत होता है। इसी बेबसी में उसकी अन्तश्चेतना व्यथित होकर जो आत्माभिव्यक्ति करती है वही आनंदघन का काव्य है। कवि ने स्वयं यह तथ्य स्पष्ट किया है कि—'सुजान के तीक्ष्ण कटाक्षबाणों से प्राण जब आहत होते हैं और इसी आघात से उनकी प्यास बढ़ने लगती है तो काव्यानुभूति बादलों की तरह हृदय पर छा जाती है। जिससे प्राणों को शान्ति मिलती है। यह भावों की

१—सुहि ७०
२—सुहि ४८

घनावली सुजान की ओर से ही आती है। इस तरह और लोग तो लग कर कवित्त बनाते हैं पर घनानद को उनके कवित्त ही बनाते हैं[१]।" आहत प्राणों की पुकार ही इनकी काव्यवाणी का रूप धारण करके आई है। इनके प्रेम में दिगन्त व्यापी कुररी क्रन्दन है। इनका अनुराग करुणोन्मुखी है। वह उस समर्थ असमर्थ का क्षोभ है जिसके अधिकार में न प्रेम है न प्रिय और न अपना शरीर। यह प्रेम मानव हृदय की वह व्यथा है जिसमें प्राण सौन्दर्य की सत्यता की कभी न भुलाई जाने वाली एक झलक भर मिल जाती है। विरही का यह अनुराग ऐसा विलक्षण है कि विरह में तो प्रिय की प्रतीक्षा में रोम रोम सजग रहता है पर प्रिय के आते ही उसके स्वर आँखों की तरलता में कापने लगते हैं, तन में पुलक प्रस्वेद बन कर बहने लगते हैं।

जो नेत्र पहले घन आनद प्रिय के दर्शनों के रस से शीतल होते थे वे एक दिन दुख जाल में जलने लगे। जो प्रिय के साथ तुष्ट पुष्ट होकर रहे थे वे अब एकाका होकर मरने लगे। प्रिय की प्रीति जो थाती की तरह छाती पर विराजमान थी उसी का ध्यान कर-कर विरही के नेत्र आँसू बरसाने लगे। तब कवि की अतश्चेतना से ऐसे स्वर निकलने लगे जो सचमुच व्यथित प्राणो की पुकार हैं।

'हारे उपाय कहा करौं हाय मरौं किहि भाय मसोस यौं मारै।
रोवनि आँसू न नैननि देखैं रु मौन मैं व्याकुल प्रान[२] पुकारै॥

उपर्युक्त विशेषताओं से युक्त प्रेम रीतिकारों या रीति के अनुयायियों द्वारा वर्णित प्रेम से भिन्न है। वह अपनी आदर्श अनन्यता, स्थिरता, भावात्मकता, अनुभूतिमयता, स्वच्छदता, आदि गुणों के कारण स्वच्छद कहा जाने योग्य है, शास्त्रीय नहीं।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि डा० नगेंद्र ने 'रीति कालीन' प्रेम में जो विशेषताएँ बताई हैं वे इनके प्रेम में नहीं हैं। इनका मार्ग उनसे पृथक अपना ही है।

———

१—सुहि २२८।
२—वही ४३७।

आठवाँ परिच्छेद

(भक्ति रस)

आठवाँ परिच्छेद

भक्ति रस

१—आवश्यकता

भगवत्प्राप्ति सांसारिक प्राणियों के लिए अभिलषणीय इसलिये है कि वे संसार के दुख संतापों से संतप्त होकर आनंद छाया में विश्राम चाहते हैं। आनंद इंद्रिय और विषयों के संपर्क से संसार में भी मिलता है पर वह क्षणिक और दुखपर्यवसायी है।[1] इसलिए महर्षि पतंजलि ने विवेकी के लिये संसार के समस्त भोगों को दुख बताया है।[2] पूर्ण सुख अर्थात् आनंद परमेश्वर का रूप है। इसीको प्राप्तकर प्राणी यथार्थतः आनंदी हो सकता। सांसारिक आनंद उसी समुद्र की एक बिंदु है[3], जो धूलि में पड़कर मलिन भी हो गई है। फलतः सांसारिकों को परम काम्य, परमपदार्थ भगवत्सानिध्य ठहरता है। उसे प्राप्त करने के अधिकारिभेद से दो मार्ग हैं।—प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग। प्रवृत्ति मार्ग का अर्थ है शरीर की स्वाभाविक प्रवृत्तियों द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करना। उनका नाश या अभिभव न करना, उन्हीं को विषयों से हटाकर परमेश्वर में स्थानांतरण करना। इसमें कर्म मार्ग और भक्ति मार्ग दो आते हैं। निवृत्ति मार्ग में ईश्वर प्रतिकूल वृत्तियों की निवृत्ति कर विवेक द्वारा अनात्म को त्यागते हुए आत्मसाक्षात्कार किया जाता है। इस मार्ग के ऋषि की प्रार्थना है:—'असतो मासद्गमय तमसोमाज्योतिर्गमय मृत्योर्मा मृतंगमय।' योग मार्ग और ज्ञान मार्ग इसके भेद हैं। योग में चित्त वृत्तियों का विषयों से निरोध कर ईश्वर में संगमन किया जाता है और ज्ञान में आत्म अनात्म का भेद। कर्म का अर्थ होता है ईश्वर साधक कर्म यज्ञानुष्ठानादि। ये तीनों मार्ग (ज्ञान, कर्म तथा योग) कठिन भी हैं और सफलता के

१—येहि संस्पर्शजाभोगा दुःखयोनय एवते।
आद्यन्तवन्त कौन्तेय न तेषु रमते बुध । गीता।

२—परिणामताप संस्कार दुखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च
सर्वमेव दुःख विवेकिनः। योगसूत्र ८

३—आनंद ब्रह्मणो विद्वान्। तस्यैवानंदस्यमात्रामुपजीवति।
योगदर्शन १२।

अनिश्चित साधन भी। 'नियमों से निराश होकर कर्मवाद की कठोरता से घबड़ा कर परोक्ष ज्ञान और परोक्ष शक्ति मात्र से पूरा पड़ता न देख कर ही तो मनुष्य परोक्ष हृदय की खोज में लगा और अंत में भक्ति मार्ग में जाकर इस परोक्ष हृदय को उसने पाया।[१]

२—स्वरूप

भक्ति प्रवृत्ति मार्ग का श्रेष्ठ साधन है। सत और असत् सभी वृतियों का इस में सदुपयोग होता है। ईश्वर के सपर्क से वे सब श्रेयस्कर बन जाती हैं। भागवतकार का वचन है कि काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, सौहार्द आदि कोई भी भाव भगवान में किया जाय तो भक्त भगवान्मय हो जाता है।[२] इसलिए वल्लभाचार्य जी ने अपनी 'चतु' श्लोकी' में भक्तों का यही धर्म निश्चिति किया है कि श्री कृष्ण को सर्वभावेन भजना चाहिए।[३] यह सहजता ही भक्ति मार्ग की बड़ी विशेषता है। चूँकि भक्ति का स्रोत प्रवृति है इसलिए प्रवृत्ति की प्रगाढता भक्ति मार्ग का उत्कर्षाधायक गुण माना जाता है। आसक्ति से प्रवृत्ति प्रगाढ बनती है। इसलिए जितनी भगवान में आसक्ति अधिक होगी उतनी ही भक्ति श्रेष्ठ होगी। दास्य भाव से मधुर भाव की प्रगाढता है। 'कामिहिं नारि पियारि जिमि लोभिहिं प्रिय जिमि दाम।' तुलसीदास जी के इस पद्य में आसक्ति या अनुरक्ति ही व्यग्य है। भक्ति के सब लक्षणों में आसक्ति का समावेश है। जो आसक्ति निवृत्ति मार्ग में दोष है वही भक्ति मार्ग का गुण है।• विष शोधा जाने पर जैसे जीवनदायिनी अमृतोपम औषध बन जाता है उसी प्रकार जीवन के दोष भगवान के सपर्क से अमृत बन जाते हैं।

३—लक्षण

१—भक्तराज शाडिल्य ने अपने सूत्रो से ईश्वर में प्रगाढ अनुरक्ति[४] को

१—रामचन्द्र शुक्ल त्रिवेणी पृ० १३३

२—काम क्रोध भय स्नेहमैक्य सौहृदं मेवच।
नित्य हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते। भागवत १० २९ ५५

३—सर्वदासर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप स्वस्यायमेव धर्मो हि नान्य. क्वापि कदाचन।

चतु श्लोकी श्लोक १

४—'सापरानुरक्तिरीश्वरे 'शाण्डिल्य भक्ति सूत्र, १मसूत्र'।

भक्ति कहा है। २—नारद ने 'परमेश्वर में परम प्रेम' को भक्ति माना है[1] नारद के मत से कोरा प्रेम भक्ति नहीं। माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित है। कोरा प्रेम जार प्रेम सा है।[2]

३—भागवतकार का भक्ति का लक्षण है कि 'सासारिक विषयों का ज्ञान देनेवाली इद्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति निष्कामरूप से भगवान में जब लगती है तो उसे भक्ति कहते हैं।[3]

४—वल्लभाचार्यजी का मत नारदानुसारी है। भगवान के माहात्म्य का ज्ञान रखते हुए उन में सब से अधिक दृढ स्नेह करना भक्ति है।'[4]

५—पडित भक्त श्री रूप गोस्वामी ने अपने भक्ति रसामृत सिंधु में यह लक्षण किया है 'श्री कृष्ण का अनुकूलरूप में अनुशीलन, जिस में अन्य किसी प्रकार की अभिलाषा न हो और ज्ञान कर्मादि का उस पर आवरण न हो तो भक्ति कहलाती है।[5]

यह प्रगाढ आनन्द स्वरूप होती है। इस के बल से भगवान स्वयं भक्त की ओर आकृष्ट होते हैं। यह क्लेशो को नष्ट करनेवाली एवं सुख सृष्टि का हेतु है। इस के समक्ष मोक्ष भी लघु है। इसके आनंद की महिमा का व्याख्यान करते हुए श्री रूप गोस्वामी लिखते हैं कि ब्रह्मानद को यदि करोड़ोंबार गुणित किया जाए तब भी वह भक्ति के आनंद सागर की विंदु के समान नहीं होता।[6]

१—'सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा' नारद भक्ति सूत्र २यसूत्र।

२—तत्रापि न माहात्म्यज्ञान विस्मृत्यपवाद. तद्विहीन जाराणामिव।
नारद भक्ति सूत्र २२, २३।

३—देवाना गुण लिंगानामानु श्रविक कर्मणाम्
सत्व एवैक मनसो वृत्ति. स्वाभाविकी तुया
अनिमित्ता भागवती भक्ति सिद्धेर्गरीयसी। भागवत ३, २५, ३२-३३

४—माहात्म्य ज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ· सर्वतोऽधिक.
स्नेहो भक्ति रिति प्रोक्तस्तयामुक्तिर्न चान्यथा। तत्वदीप निबध शास्त्रार्थ प्रकरण श्लोक ४६

५—अन्याभिलाषिता शून्य ज्ञान कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलन भक्ति रुत्तमा।
(हरि भक्ति रसामृत सिंधु पूर्व विभाग लहरी १ श्लोक ११)

६—ब्रह्मानदो भवेदेषचेत्परार्धगुणीकृत।
नैति भक्ति तुलाम्योधे परमाणुतुलामपि।
वही पूर्वभाग लहरी १ श्लोक २०

सारांश में यह कहा जा सकता है कि भक्ति में अनुरक्ति की तो अत्यंत आवश्यकता है। परमेश्वर की प्रभुता की भावना इसमें होती भी है और नहीं भी होती। यह आवश्यक तत्व नहीं। प्रतीत होता है कि प्रारंभ से ही भक्ति-मार्गी लोगों में दो प्रकार के विचार विद्यमान थे। एक समाज मर्यादा को सुरक्षित रखते हुए परमेश्वर को पूज्य बुद्धि से भजते थे। दूसरे प्रेम को ही ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र साधन मानते हुए उस पर समाज, शास्त्र आदि का बंधन न्यौछावर करते थे। दोनों विकसित स्वरूप में व्यवस्थित हो कर 'वैधी' और 'रागानुगा' भक्ति बने।

वल्लभाचार्य जी माहात्म्य ज्ञान के पक्षपाती थे। पर उन्हीं के संप्रदाय के 'कुछ लोगों ने इसको आवश्यक नहीं माना। श्री हरिराय जी ने माहात्म्य ज्ञान की व्याख्या करते हुए कहा है—

'सो ठाकुर जी भक्त के स्नेहवश होय भक्त के पाछे पाछे डोलत हैं। सो जहाँ ताइ ऐसो स्नेह नहीं होय तहाँ ताई महात्म्य रखनो······तासों महात्म्य विचारैं और अपराध सौं डरपै तो कृपा होय। जब सर्वोपरि स्नेह होयगो तब आपही ते स्नेह ऐसो पदार्थ जो महात्म्य कूँ छुडाय देयगो।'[1]

चैतन्य संप्रदाय के अनुयायियों में भी महात्म्य का आदर नहीं है। केवल प्रेम की महत्ता मानी गई है। चैतन्य चरितामृत में लिखा है कि 'संसार की तो यह रीति है कि वह प्रभुता के ज्ञान के साथ मेरा भजन करता है। पर ऐश्वर्य के कारण प्रेम शिथिल हो जाता है। इसलिए यह मेरा सच्चा प्रेम नहीं। जो मुझे ईश्वर और अपने को हीन मानते हैं, मैं उनके अधीन नहीं होता। मुझे पुत्र सखा या पति मान कर जो भजते हैं वे ही शुद्ध रति करते हैं। जो माताएँ मेरे प्रति पुत्र भाव रख कर मुझे छोटा मान कर लालन पालन करती हैं, जो सच्चा सख्य रखते हुए 'तुम हमसे क्या बडे हो' ऐसा मानकर जो मेरे कंधों पर चढते हैं, तथा प्रिय भाव रख कर जो मान समय में मेरी भर्त्सना करती हैं—वे मेरे परम भक्त हैं। वेदस्तुतियों से भी अधिक वे मुझे प्रिय लगती हैं।[2] अनुरक्ति की दृष्टि से दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य और

१—अष्ट छाप वार्ता काकरोली पृ० १८ 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय पृ० ५३० से उद्धृत।

२—प्रभुता ज्ञान मिल्यौ भजै सब जग की यह रीति,
मिथिल प्रेम ऐश्वय करि तासों नहीं मम प्रीति।
मुहि को ईश्वर मानि कैं आपुन मानत हीन,

वात्सल्य से माधुर्य उत्तरोत्तर श्रेष्ठ भाव माने जाते हैं। राधा में महाभाव की भावना का रहस्य अनुरक्ति का प्रावल्य है।

४—भक्ति की प्रेरक भावनाएँ

पीछे बतलाया जा चुका है कि भगवान के प्रति सब प्रकार के भाव रखे जा सकते हैं। उनमें निष्ठा और रति आवश्यक हैं। वैसे भक्ति के सात्विक क्षेत्र में तमोगुण की संभावना नहीं रहती फिर भी यदि कामादि इतने प्रबल हों कि वे वश में न आसकें तो उन्हें भी भगवान की ओर केन्द्रित करना चाहिये। फलस्वरूप समस्त भावों का आलबन जब भगवान बन जाता है तो उसकी अनुभूति होने लगती है।[१] अत मे कामादि दुर्भावोंका भगवत्सपर्क से परिष्कार होजाता है और वे भक्ति भाव में परिणत हो जाते हैं। भागवत में श्री कृष्ण का वचन है कि मेरे में बुद्धि समर्पित करने वालों की काम वासनाए फिर कामोद्दीपन नहीं करती जैसे भुजे या उबले धान फिर बीज नहीं बनते।[२] इस लिए आचार्यों ने भक्ति के क्रोड में दुर्भावों का ग्रहण करते हुए भी उन्हें मूल भावों में नहीं लिया है। मूल भाव पाच हैं, रति दास्यादि। यह पाचो रति के आलबन और आश्रय के भेद से भिन्न हुए रूप हैं। मूल में

कबहू ताके प्रेम वश हों न होहु आधीन।
कृष्ण तनय मम सखा सम मेरे पति है प्रान,
करै शुद्ध रति कोइ जो इहि विधि मोको जान।
आपुन को बड़ मानई मोको मम अरु हीन,
मन वच क्रम करि होत हू मैं ताके आधीन।
पुत्र भाव कर मात मम बधन करै प्रवीन,
लालन पालन करति नित जानि मोहि अति हीन।
सुद्ध सख्य करि सखा मम काधे चढ़ै सुजान,
कौन बड़े तुम लोक हो हम तुम एक समान।
मान समै जब प्रिया मन भर्त्सन करै निदान,
वेद स्तुत ते अधिक हो सु मन अरु प्रान।

चै० च० व्रजभाषा—चतुर्थ परिच्छेद

१ अभ्यास योग युक्तेन चेतसानान्य गामिना। परम पुरुष दिव्य याति पार्थुन चितयन्। गीता ८, ८

२ नमय्यावेशितधिया काम कामायकल्पते। भजिता क्वथिता धाना प्रायो बीज यनेष्यते। भागवत १०, २२, २६

रति ही एक मात्र भक्ति का प्रेरक भाव है। अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार निम्न लिखित पाच प्रकार से परमेश्वर में प्रेम प्रकट किया जाता है।

१ दास्य—परमेश्वर मेरा पिता है, माता है, स्वामी है और मैं उसका आज्ञाकारी पुत्र अथवा दास हूँ। इसका नाम दास्य प्रीति या दास्य भक्ति है।

२ सख्य—परमेश्वर मेरे सुख दुख, हर्ष शोक मे मेरा साथी है, वह मेरा मित्र है, बन्धु है, उसके अतिरिक्त और कोई मेरा हितू या सखा नहीं। इसे सख्य प्रीति या सख्य भक्ति कहते हैं।

३ वात्सल्य—परमेश्वर बालक है, पुत्र है और मैं उसका पालन करने वाली माता या धाय हूँ। मैं उसका पिता हूँ। यह भाव वात्सल्यप्रीति या वात्सत्य भक्ति है।

४ माधुर्य—परमेश्वर पति है। मैं उसकी पत्नी हूँ। अथवा परमेश्वर प्रिय है और मे उसका प्रेमी हूँ या परमात्मा प्रेमी है और मैं उसकी प्रिया हूँ। यह शृङ्गार प्रेम अथवा माधुर्य भक्ति है।

५ शान्त रति—परमेश्वर व्यापक है, सर्वनियता है, शुद्ध है, सच्चिदानद-स्वरूप है। वह शातदात और शुचि है। हम उसके अश शातदात और शुचि हैं। उससे प्रेम करने पर सात्विक आनद मिलेगा। यह शात रति अथवा शात भक्ति है।

इन पाच प्रकार के भावों मे उत्पन्न हुई भक्ति मुख्य होती है क्योंकि परमेश्वर इन सभी भावों का सीधा आलबन रहता है और रति सभी में विद्यमान रहती है।

उपर्युक्त ये भाव भक्ति के अनुकूल हैं। साहित्य के आचार्यों ने जो अनुकूल प्रतिकूल दोनों प्रकार के भावों का विश्लेषण किया है उन्हें भक्त आचार्यों ने भी बाद में भक्ति के क्रोड में समेटने का प्रयत्न किया है। साहित्य के नौ रसों में से शृगार तो दास्यादि चार भावों में तथा शात शाता भक्ति में अंतभूत हो जाते हैं। शृगार का स्थायी भाव रति है। सख्य वत्सल्य आदि में रति के ही विभिन्न रूप हैं यह बताया जा चुका है। शेष रह जाते हैं हास्यादि सात रस। इनके विषय में भक्ति सिद्धात में निर्णीत है कि हास्यादि के हासादि सातों स्थायी भाव भगवदुन्मुख होंगे तो रति ही उत्पन्न करेंगे। बलि और रावण ने मरते समय भगवान राम में श्रद्धा ही प्रकट की

थी वैर नहीं। कुछ काल के लिए इनका आधार पृथक् होता है। बाद में भगवद्विषयक रति में ही इनका उपकारकत्वेन विलयन होजाता है[1] चूंकि यह परंपरा से भगवत प्रेम में परिणत होते हैं अतः इन से उद्भूत भक्ति को भी गौण भक्ति कहा जाता है।—

घनानंद की दान घटा इसका उत्तम उदाहरण है। गोपों के साथ श्री कृष्ण एक ओर से और गोपियों के साथ राधा दूसरी ओर से आते हैं। दोनों दलों में परस्पर कलह होता है।

गोपी

'छैल नए नित रोकत गैल सु फैलत कापै अरैल भए हौ।
लै लकुटी हँसि नैन नचावत चैन रचावत मैन तए हौ॥
लाज अचै बिन काज लगौ तिनही सौं पगौ जिन रंगरए हौ।
ऐंड सबै निकसैगी अबै घन अनानद आन कहा उनए हौ॥

× × ×

श्री कृष्ण

'हैं उनए सु नए न कछू उघटै कित ऐंड अमैंड अयानी।
बैन बड़े बड़े नैनन के बल बोलति हैं क्यों इती इतरानी॥
दान किये बिन जान न पाइहै आइहै जो चलि खोरि बिरानी।
आगें अछूती गई सो गई घन आनद आज भई मनमानी॥

× × ×

इस अर्मप का अवसान इस प्रकार हुआ।

आवौ सखी चलि कुंज में बैठि लखैं घन आनंद की सुघराई।
पैठन देहिं न एक सखै अकिले इन्हैं छैकि करें मन भाई॥
भावती टैक रहा बहु भाति किये न बनै अति ही कठिनाई।
लेत हौ राधे बलाय कह्यौ करि आज मनौ इतनी हमपाई।

× × ×

और फिर

'रंग रह्यौ सुन जात कह्यौ उमह्यौ सुखसागर कुंज में आए।
फैलि परयो रस को झगरौ अति ही अगरो निबटै नचुकाए॥

---

१ कंचित्कालम् क्वचिद्मीके हासाधा स्थामितामभी। रत्याचारु तायाति तल्लीलाव-नुमारत। तम्मादनियता धारा सस मामयिका इमे। महजा अपिली यन्ते बलिष्ठेन तिरस्कृता। ह० र० दक्षिण विभाग पूमलहरी श्लोक ३५-३६।

काहू सँभार रही न भटू तन को तन मैं घनआनंद छाए।
प्रेम पगे रिझवारन की तँह रीझ कै रीझ ही लेत बलाए॥

× × ×

यहा पहले दूसरे पद्यो मे क्रोध और तीसरे चौथे पद्यों में स्नेह प्रतीत होता है। फलतः क्रोध रति का उपकारक मात्र है स्वतन्त्र नहीं।

इस प्रकार मानवीय समस्त भावों का भक्ति मे अंतर्भाव हो जाता है। वे चाहे भक्ति के अनुकूल हो चाहे प्रतिकूल।

५ भक्ति के भेद

१ अनेक प्रकार से भक्ति के भेद किए जा सकते हैं। साधना की दृष्टि से भागवतकार ने नवधा भक्ति का उपदेश दिया है। नौ विधाएँ ये हैं—

(१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पाद सेवनम् (५) (६) वंदन (७) दास्य (८) सख्य और (९) आत्म निवेदन।

इस विभाजन में भक्ति का ही नहीं उसके उपकारी अंशो का भी सन्निवेश कर लिया गया है। जैसे श्रवण कीर्तन और स्मरण भक्ति की साधिका क्रियाएँ हैं। भक्ति स्वयं एक भाव स्थिति है जो अन्तिम तीन दास्य, सख्य और आत्म निवेदन से व्यक्त की गई है। पाद सेवन अर्चन और वंदन उपास्य के रूप से संबद्ध है। नंददास जी ने इस नौ भेदों को दो मार्गों में विभक्त किया है। नाद मार्ग और रस मार्ग। श्रवणादि पहले तीन नाद द्वारा भगवदुपासना के व्यापार हैं और पाद सेवनादि तीन रूप सेवन द्वारा। शेष तीन भाव हैं। इनके अतिरिक्त वात्सल्य आदि और भी भाव हैं जो पहले कहे जा चुके हैं।[१]

२ अधिकारी की दृष्टि से सात्विकी, राजसी, तामसी तथा निर्गुण चार प्रकार की भक्ति होती है। जो भक्त पापों के नाश के लिए अपने पाप पुण्य सब भगवदार्पित कर देता है और अनन्य भाव से ईश्वर में आसक्ति रखता है वह सात्विक भक्ति है। राजसी भक्ति लौकिक विषय, यश ऐश्वर्य आदि पर दृष्टि रख कर की जाती है। तामसी में हिंसा दम्भ, क्रोधादि के वशीभूत होकर इच्छापूर्त्यर्थ भगवदुपासना होती है। निर्गुण सबसे श्रेष्ठ है। इसमें परमेश्वर को सबमें सम भाव से व्याप्त जानते हुए अपने कर्म परमेश्वर को समर्पित किए जाते हैं और निष्काम आसक्ति रहती है।[२]

१—देखिए अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ५४३।

२—भागवत ३।२९।७।१४

३ प्रेरणाओं के भेद से गीता में चार प्रकार के भक्त बताए गए हैं। उनकी भक्ति भी चार प्रकार की होनी चाहिए। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी।[1] वास्तव में ऊपर बताए चार भेदो के अधिकारियों के नाम इसमें लिए गए हैं। भेद का विनिगमक सत्व, रजस्, तमस् तथा विवेक ही है। आर्त तामस भक्त है। जिज्ञासु सात्विक, अर्थार्थी राजस और ज्ञानी निर्गुण।

४ ज्ञानी भक्त श्री रूपगोस्वामी ने साधना द्वारा होनेवाले विकास की दृष्टि से भक्ति के भेद 'भक्ति रसामृतसिंधु' में विस्तार और शास्त्रीय व्यवस्था के साथ किए हैं। मुख्यतः इसके तीन भेद हैं—

(१) साधन रूपा
(२) भावरूपा
(३) प्रेमरूपा

साधनरूपा

साधनरूपा वह प्राथमिक भक्ति दशा है जब भक्त का परमेश्वर में पूर्ण राग नहीं होता पर अर्चनादि कर्मों से उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किए जाते हैं। इसका साध्य होती है भावरूपा भक्ति।[2] इसके दो भेद माने गए हैं और वैधी और रागानुगा। जब परमेश्वर में स्वतः राग नहीं होता और शास्त्रों के शासन से अर्जित किया जाता है वह वैधीभक्ति है।[3] जिस प्रकार महाराज परीक्षित को शुकोपदेश से हुई थी। जीवगोस्वामी जी ने 'हरिभक्ति रसामृत सिन्धु' की इस स्थल की टीका में लिखा है कि वैधी भक्ति में शास्त्र ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान रहता है। वर्णाश्रम धर्म के आचार - व्यवहार, पूजा-विधानो की तत्परता, शास्त्रो की अनुवर्तिता आदि गुण इनमें प्रमुख बने रहते हैं। शनैः शनैः ये बाह्याचार क्षीण हो जाते हैं, प्रेम प्रबल हो जाता है। एक स्थिति ऐसी आती है कि शास्त्रीय विधानो की अपेक्षा नहीं रहती। प्रेम ही सर्वस्व हो जाता है। वह रागानुगा भक्ति होती है। यह वैधी का विकास भी है और स्वतः उद्भूत भी। भगवत्कृपा हो तो विना वैधी के रागानुगा का उदय हो जाता है।

१—चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोर्जुन
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। गीता० ७।१६।

२—कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावासासाधनाभिधा।
ह० र० पूर्व विभाग २ लहरी श्लोक १

३—यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूप जायते, शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते।
वही पूर्व भ.ग लहरी २, श्लोक ३

रागानुगा भक्ति में भक्त के विना किसी वाह्य प्रयत्न के स्वाभाविक रूप से भगवान के प्रति प्रेममयी, उत्कट तथा तन्मय कर देने वाली तृष्णा उत्पन्न[१] हो जाती है। यह तृष्णा कभी काम प्रेरित होती है कभी दूसरे सम्बंधों से। फलत. रागानुगा के भी दो भेद हो जाते हैं—काम रूपा और सबध रूपा। पहली जैसे व्रज वनिताओं की, दूसरी जैसे शिशुपाल आदि की! इसमें शास्त्र समाज, तथा परिवार की मर्यादाओं का सर्वथा परित्याग होता है।

भाव रूपा

उपर्युक्त द्विविध साधना भक्ति द्वारा भाव रूपा भक्ति प्राप्त की जाती है। उसका लक्षण इस प्रकार किया गया है। परमेश्वर की ह्लादिनी, संधिनी और सवित नाम की जो तीन शक्तियाँ हैं उनमें से पहली का जीवों में प्रेमरूप से प्रकट होनेवाला अश 'शुद्धसत्व' कहलाता है। वही भाव है। अर्थात् वह ईश्वर का ही अश है। उससे हृदय में अनेक अभिलाषों का उदय होने लगता है, तो वह आर्द्र और द्रवीभूत हो जाता है। भाव से अभिलाषों की किरणें सूर्य से सूर्य किरणों के समान फूटती हैं जो समस्त वृत्तियों को अपने रग में रग लेती है।[२] दार्शनिक विश्लेषण करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि रति इच्छा है जो मूलतः आत्मा या परमात्मा का ही अश है। वह हैं तो स्वय प्रकाश पर भक्तों की मनोवृत्ति मे प्रकट होकर उसी का (मनोवृत्ति का) रूप धारण कर लेती है। और ऐसा लगता है मानो साधनातरों से प्रकट हुआ हो।[3] यह दो प्रकार से उत्पन्न होती है। साधनों द्वारा जिसमें वैधी आदि पूर्वोक्त भेद आते हैं और श्रीकृष्ण या उनके भक्तों की कृपा द्वारा। साधनों का अभिनिवेश भगवान में पहले रुचि फिर आसक्ति और तदनतर रतिभाव को उत्पन्न करता है। रूप गोस्वामी जी की स्थिर धारणा है कि रति भाव का ही मूल रूप है। अतः इससे भाव का ही प्रकाश हो सकता है, प्रेम का नहीं।[४] प्रेम भाव से आगे की विकास

१—इष्टे स्वारसिकी राग परमाविष्टताभवेत, तन्मयीयाभवेद्भक्ति सात्ररागात्मिकोदित।
(वही पूर्व विभाग लहरी २ श्लोक ६२)

२—शुद्ध सत्व विशेषात्माप्रेम सूर्यांशु साम्यभाक्
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्चते। वही पूर्व विभाग लहरी ३ श्लोक २

३—आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपतान्
स्वय, प्रकाशरूपाद भासमाना प्रकास्यवत। वही पू० वि० लहरी ३ श्लोक २

४—रत्यातु भाव एवात्र नतु प्रेमाभिधीयते। वही श्लोक ७

कक्षा में आता है। टीकाकार जीव गोस्वामी भी इस सिद्धात से सहमत नहीं। वे भाव और प्रेम को एक ही मानते हैं। उनके मत से भक्ति के भी साधन और साध्य दो ही भेद होते हैं तीन नहीं।

भक्ति का स्थायी भाव रति है। जो रुचि के अनुसार पाँच प्रकार की होती है—शाति, प्रीति, सख्य, वत्सल्य, और माधुर्य। इनसे पाँच प्रकार की भक्ति निष्पन्न होती है। शात, दास्य, सख्य वात्सल्य और मधुरा। इनके स्वरूपों का निर्देश पहले किया जा चुका है। भाव के उदय हो जाने पर भक्त की जो भाव दशा होती है वह निम्नाकित नौ चिह्नों से जानी जाती है।

१ क्षाति—अर्थात् क्षोभ कारणो के उपस्थित होने पर भी क्षुभित न होना।

२ वैराग्य—अर्थात् इद्रियो की अपने विषयों में रुचि न रहना।

३ समय का व्यर्थ न खोना—अर्थात् अधिक से अधिक समय भक्ति में ही लगाना।

४ मानशून्यता—अर्थात् स्वय उत्कृष्ट होकर भी मान न करना।

५ आशावध—अर्थात् भगवत्प्राप्ति की दृढ सभावना।

६ समुत्कण्ठा—अर्थात् भगत्प्राप्ति के लिए अत्यधिक लालयिता रहना।

७ नाम गान में रुचि—अर्थात् कीर्तनादि करना।

८ भगवद्गुणों में आसक्ति—जिस लगाव से संसारिक कर्म किए जाते हैं उसी से भगवद्गुणों का श्रवणादि हो।

९ भगवान के वास स्थल में प्रेम—अर्थात् व्रज अयोध्या आदि तीर्थों से अनुराग।

प्रेम रूपा

इसके वाद प्रेम लक्षणा भक्ति का अवसर आता है। इसका लक्षण यह है 'हृदय जब भाव में अत्यत द्रवीभूत और प्रगाढ ममता से संयुक्त हो जाता है तो वही प्रगाढ अवस्था प्रेम कहलाती है।' प्रेम-भाव रूपा भक्ति का विकास भी है और भगवत्प्रसाद द्वारा स्वतंत्र रूप से उद्भूत भी। इसके विकास का सपूर्ण क्रम इस प्रकार माना गया है। सबसे पूर्व श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसकी प्रेरणा से साधु सग किया जाता है। संगति के प्रभाव से भगवद्भजन होने लगता है। भजन से वाधाएँ निवृत्त होती हैं जिससे दृढ आस्था या निष्ठा होने लगती है। निष्ठा के वाद रुचि आदि और इसके वाद आसक्ति होती है। आसक्ति का परिणाम भाव और भाव का परिणाम प्रेम है।

यह प्रकट हो हो कर छिप जाने की शिक्षा कहाँ से सीखी है। बीच में पड़कर दूसरे दूसरे नाम रखकर अटपटी बातें करते हो। आप ही तो नेत्रों के तारे हो पर दिखाई नहीं देते।'[1] विषयासक्ति छोड़कर भगवदनुराग में मग्न होने का उद्बोधन मन को देते हुए कहते हैं—

'तू सब विषयों से पृथक होकर हरि से भेंट कर। तू मद विकार से भरा हुआ है। इस मैल को मिटाकर शुद्ध बन। अपने यथार्थ रूप को पहचान। माया के संग में तू चेतन से जड़ हो गया। फिर भी उसका संग नहीं छोड़ता। शरीर से निकलकर विदेह रूप धारण कर आनदघन के रूप में रँग जा'।[2] साप्रदायिक रूढि से ऊपर उठकर मानसी आरती का सकल्प यह है 'ऐसी आरती करो। हृदय के थार में प्रेम का दीपक रक्खो। निर्मल आचार की बत्ती में स्नेह का तेल डालो। विश्वास के साथ भावों के पुष्प चढाओ। मोहन के मुख के पानिप को देखकर प्रसन्न रहो। इस आरती से श्री कृष्ण वश में हो जाएँगे।[3]

शात भक्ति के आराध्य का स्वरूप भी अनेकत्र वर्णित हुआ है। 'हरि-चरण आनद कद हैं। इनकी वदना करो। ये परम सुख की सीमा और दुख को दूर करनेवाले हैं। शिव, ब्रह्मा, नारद आदि इनकी शरण में रहते हैं। रस निवास आनंद के घन हैं जो प्यास को दूर करते हैं'।[4]

१—अब तुम तब तुम जब तब तुमहीं तुम बिन कब हौं हौ तुम हौं।
यह दुरि उघरन कहौ कहाँ ते सीखे तुम्है तुम्हारी सौं।
आपु बीच परि नाम और धरि करत अटपटी घातनि कौं।
आनदघन सुजान दृग तारे लखी न परति अनौखी गौं। वही ६५

२—सब तें न्यारे है हरि भेंटि।
है मन मद विकार भरयौ तू निखरि मैल को मैटि।
निज सरूप सौं सम्हारि छूट लगि भूलानि भले भुलाव।
चेतन ते जड़ भयौ सगवसि अजहु तजत न सग।
तनते निकसि विदेह देह धरि रचि आनदघन रग॥ वही १९३

३—ऐसी आरति करौ।
सुघर थार हिय विसद बीच चलै प्रेम प्रदीप धरौ।
उज्ज्वल दसा सनेह सजोई ज्योति जगाइ ढरौ।
भाव पुहप प्रतीत सौं सयुक्त वार निओर अरौ।
मोहन मुख जगमगानि पौनि पै निरखत हरष भरौ॥ वही २४०

४—ये आनद कद वदि लै हरि चरन।
परम सुख की सीम दुख समूह दरन

भक्ति रस में संतों की महिमा तथा सगति का भी बडे अनुराग के साथ वर्णन किया है। सत ही वेद पुराण हैं। वे ही महान हैं। इनकी महिमा आनंदघन के रस से सदा भीगी रहती है। ये गुरु की कृपा के कारण आनंद रस से भरे रहते हैं। संसार से विरक्त होकर ये विवेक के देश में निवास करते हैं। खानपान परिधान आदि व्यवहार में अनासक्त रहते हैं। शुभ अशुभ तथा साधारण का भेद भाव इन्हें नहीं रहता। अमल अनूप विदेह रूप धारण कर अपनी गति से विचरते हैं। इनके चरण रज में समस्त लोक-कल्याण निवास करते हैं। कृष्णरसासव के नशे में झूमते रहते हैं। तत्व बोध की झलक से हृदय का आनदरहस्य सदा प्रकट रहता है।[1] ऐसे संतों की संगति की महिमा यह है कि 'जिन्होंने साधु जन संगति साध ली है उन्होंने सब कुछ साध लिया। मनरूपी वस्त्र की वासना को धोकर रागरुचि में रंग दिया है। आनदघन के रस स्पर्श का प्रसाद पा लिया है और अपने प्रेम के प्रण को पूरा निबाहा है।[2]

शात भक्ति का थोड़ा बहुत स्वरूप सभी भक्तो की रचनाओं में प्राप्त होता है पर आनदघन के इस भाव की विशेषता यह है कि उन्होंने ज्ञान-संयुक्त वैराग्य का प्रेम से अच्छा योग किया है। दूसरे भक्तों की रचनाओं में शात भक्ति के भावों में ज्ञान और वैराग्य का अश तो बढता जाता है पर प्रेम का माधुर्य क्षीण होता जाता है। आनद घन मूलतः प्रेमी थे। अतः प्रेम की मात्रा यहाँ भी पूर्ण हैं। वास्तव में 'शात भक्ति' तो यही है। प्रेम हीन वैराग्य तो ज्ञान मार्ग का अग बन जाता है।

दास्य भक्ति

दास्य भाव में भगवान और भक्त का जो सबंध होता है यह दिखाया

शिव विधि मुनि नारदादि रहत सदा सरन
मोद पयोद रस निवास प्यास हरन ॥ वही ३४

१—जिनके मन सुविचार परे
गुरु पद परम पुनीत प्रसादहि पाव प्रेम आनद भरे,
तत्व बोध की बलक झलक बस ढकी गास ब्यौरनि ब्वरे। इत्यादि वही १२१

२—तिन सब कुछ साध्यौ हो जिन साधी साधु जननि सगति
पतित पावन पुरुषोत्तम पदवी पावन की परम गति
धोइ धोइ मन बसन बासन रच्यौ है रागरुचि रगति
आनदघन रस परम प्रासादहि पाइ पल्यौ पन पगति वही ५८५

जा चुका है। श्री रूप गोस्वामी ने 'हरि भक्ति रसामृत सिंधु' में इसके दो विभाग किए हैं।[1]

१—अपने स्वभाविक तथा शुभ कर्मों को भगवदर्पित करना।

२—भगवान को स्वामी समझ कर उनकी सेवकाई करना[1]

कर्मार्पण की व्याख्या वल्लभाचार्य जी के 'अंत. करण प्रबोध' में मिलती है। उन्होंने लिखा है कि कर्म की फल प्राप्ति न होने पर दास भक्तों को पश्चाताप का अवसर नहीं आता। वह तो सेवक ही है अन्य कुछ नहीं। लौकिक स्वामियों की तरह श्री कृष्ण को नहीं देखना चाहिए। सेवक का तो यही धर्म है स्वामी अपना धर्म स्वय निबाहेगा।[2] मुख्यता इस में भक्त के दैन्य और आराध्य के महत्त्व की होती है। ये गुण भक्त के अपने दोष प्रख्यापन, विनय, याचना, दैन्यनिवेदन, आत्म समर्पण आदि तथा भगवान की शक्ति में विश्वास आदि के द्वारा प्रकट होते हैं। घनानदजी ने ससार का पर्याप्त अनुभव किया था। विलासी जीवन का रहस्य पहचाना था। जिन के लिये वह प्राण देने को तैयार थे उसने उसकी बात भी नहीं पूछी। ऐसे व्यक्ति को संसार से निर्वेद और परमेश्वर की दयालुता में अटल विश्वास सच्चा होता है। इस लिये इनकी दास्य भक्ति में हृदय की सहज मार्मिकता और सरल प्रेम स्पष्ट हुए हैं। वे कहते हैं 'हे प्रभु मेरे मन को अपने चरणों में स्थान दो। यह संसार मे भटक भटक कर फिर आया है। यह भूला हुआ फिरता रहा। मुझे आपका बड़ा भरोसा है। मेरा मन बड़ा विजाति, मोह-ग्रस्त और चपल है। अब भी छल नहीं छोड़ता। अब इसे अपने प्रेम सिंधु के तट पर स्थान देकर अपनी लीलाओं मे निमग्न कर दीजिए।[3]

१—दास्य कर्मार्पणम् तस्य कैंकर्यमपि सर्वथा . ह० र० वि० पू० ल० २ श्लो० ३३

२—पश्चाताप कथ तत्र सेवकोऽहं न चान्यथा।
लौकिक प्रभुवत्कृष्णो न दृष्टव्य कदाचन।
सेवकस्य तु धर्मोय स्वामी स्वस्य करिष्यति
अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६०१ पर से उद्धृत

३—लै राखौ अपने पायनि तर,
यह मन भटकि आयौ जग कृस्न कमल लोचन करुनाकर।
+ + +
मरम भरयौ मँडरात निरतर निहचै रचै न एक घरी घर।
भूल्यौ फिरत भरोसोभारी तुम से नाथ न ऐसे खलवर॥
महा विजाती विरल मोहमय थक्यौ चपल छाड़त नाहिन छर
प्रेम सिन्धु के कूल वास दै लीला मग्न करौ निसवासर॥ आ० प० ४७१

इस प्रकार के निश्छल हृदय में स्वाभाविक रूप से सर्वात्मना आत्म समर्पण की भावना विद्यमान रहती है। आनंदघनजी कहते हैं—"हे हरि मैं कुछ नहीं जानता। जो भली बुरी आपको रुचे आप ही करिए। मैं तो इन अभिलाषाओं पर टिका हूँ कि तुम अपना जान कर जीवित करोगे। आप मेरे हृदय की जानते हो। अपने आप ही आप कृपा करो।[१]"

इस अनन्य विश्वास का कारण भक्त की निजी दीनता और भगवान की शक्तिमत्ता है। दैन्यभाव की अनुभूति घनानद जी की यह है—'अपने को दीन, बलहीन तथा क्षीण समझ कर आप की शरण में आया हूँ। हे आनद के घन? दीन पपीहों के आप ही प्राणाधार हो।[२] आप शरणागत के स्वामी, सर्व दयालु तथा अतर्यामी भी हो। जहाँ जहाँ आप का स्मरण हुआ है वहीं वहीं आप शीघ्र दौड़ कर पहुँचे हो। मेरे जैसा कपटी, कुटिल, प्रसिद्ध कामी कोई दूसरा कौन होगा? हे आनदघन! वेद इसके साक्षी हैं कि आप अनेक पापों के बहाने वाले हो।[3]

भगवान की शक्तिमत्ता में इन्हें पूर्ण विश्वास है। उनकी आस्था है कि 'हे भगवान? तुम्हारे चरण सब फल देने वाले हैं। वे रस-विलास और समग्र सम्पत्तियों के स्वामी, आनद के घन रसकी मूर्ति तथा शरणागत के भय को दूर करने वाले हैं।[४]

हृदय ही नहीं कवि की बुद्धि भी भगवान के समक्ष अपनी अकिंचनता और लघुता का अनुभव करती है। इसका कारण यह है कि भगवान के गुण इतने अपरिमेय है कि उनको गा गा कर प्रभु को रिझाना किसी के लिये संभव नहीं। भक्त थोडा बहुत जो कुछ कह पाते हैं वह सब परमेश्वर की ही कृपा से।[५] गंधर्व गण, ब्रह्मा, गणेश तथा अन्य विद्वान भगवान के गुण गागा कर थक जाते हैं। शेष, महेश और अशेष निगम भी बेचारे उनकी

१—वही ४८३

२—दीन हीन बलहीन जानि कै लागौ लालगुहार।
दीन पपीहनि के आनदघन जीवन प्रान अधार — आ० प० २५५

३—वही आ० प० ३७८

४—चरन तुम्हारे सुफलदायक।
रमन भूमि ब्रजमटन सुनहु सावरे गोकुलनायक।
रस विलास सपदा स्वामी सुखनिधान सुमिरिवै सुलायक।
आनदघन अमोघ रस मूरति सरनागत भयहरन सहायक। — अ० प० ३२२

५—वही ३६७,

यथार्थता को नहीं जान पाते।[1] भक्त के हृदय की लघुता का कारण आत्मनिरीक्षण है। 'भगवान सच्ची रति से प्रसन्न होते हैं। पर सच्ची रति पहाड़ के बराबर है। आनदघनजी कहते हैं कि मेरा हृदय तो स्वय झूठा है। झूठे स्वादों में अनुरक्त हो गया है। सच्चा रस-सार इसने छोड दिया है।[2]

अपने प्रति लघुता की अनुभूति का फल उद्बोधन भी होता है, जिसे कवि कभी अपनी बुद्धि को और कभी अपने हृदय को देता है। यह भी दैन्य निवेदन का एक अग है। इसे भक्ति क्षेत्र में दास्य भावना के अतर्गत ही गिना जाता है। घनानदजी ने अनेक स्थलों पर उद्बोधन के पद लिखे हैं। एक पद में मन को समझाते हुए वे कहते हैं कि 'हे मन तू हरिचरणों से परिचय प्राप्त कर। तू मेरा कहना मान। इस सुख सम्पत्ति से अपना घर भर ले। जो ब्रज भूमि के भूषण और ब्रजरमणियों के प्रिय हैं उन्हीं से प्रेम कर। उस आनदघन का पपीहा तथा उसी अरविंद का भ्रमर बन।[3]

इस उद्बोधन में दार्शनिक ज्ञान का पुट भी यत्र तत्र मिलता है। ससार की असारता को लेकर मनको चेतावनी दी गई है कि 'हे मन यह समस्त ससार धोखा है। सारभूत परमेश्वर का तू स्मरण कर। क्षण क्षण में आयु यों ही बीती जाती है। तू सावधान हो। ससार में कौन किसका बन्धु और कैसा परिवार? आनदघन के रसामृत का पान कर अमर बन।[4]

वात्सल्य भक्ति

वात्सल्य रति प्रेम के समान मानव प्रकृति का सहज तथा व्यापक भाव है। कठोर से कठोर हृदय शैशव के भोले चेष्टा-व्यापारों पर मुग्ध हो जाता

१—गन गधर्व गुनी गिरापति गुरु गनेस गुन गरुए गावत तिहारे।
गाइ गाइ छकि छकि जकि थकि जीतत हैं जनम कहि हारे।
सेस महेस निगम अमेस गति पावन नहि विचारि विचारे।
ब्रज मोहन आनद घन ह्वौ चित चातक पन रखवारे। आ० प० ३५३

२—तुम्है को रिझाइ सकै हो बड़े रिझवार।
रमी साच सौं रीझि रहत ह्वौ सो मोहि भयौ वै पहार।
झूठे स्वाद छिल्यौ हिय तजि साचौ रसभार।
अब आनदघन उमड़ि घुमड़ि कै करौ कृपा आसार। आ० प० ३४६

३—आ० प० ४४६।

४—वही ८५६।

है। सृष्टि का यह सप्रयोजन भाव है। निर्बल निरुपकारी बालक के पालन पोषण की विशालता के लिये माता पिता के जिस त्याग तपस्या की अपेक्षा होती है उसकी प्रेरणा इसी भाव में निहित होती है। शिशुओं का पालन करते समय मा।। अपने कष्टों को सौभाग्य समझती है। अपने कर्मों का फल लेने की भावना कभी उसके हृय 'का स्पर्श नहीं करती। मानों परमेश्वर यही उससे कराना चाहता है। परमेश्वर प्राणियों के हृदय देश में बैठ कर उन्हें इस प्रकार प्रेरित करता है मानों वे यन्त्रारूढ हों।[1] वात्सल्य रति इसका ज्वलंत उदाहरण है कि परमेश्वर हमारे भावों और विचारों द्वारा सृष्टि का संचालन अपने अनुसार कराता है। बच्चे के लिये स्तनों में दूध आने से पूर्व माता के हृदय मे वात्सल्य भाव का उदय होता है। अन्य प्रकार के भावों से इसकी यही विशेषता है कि यह नि.स्वार्थ होता है। बदले की कामना वात्सल्य के आश्रय में नहीं होती। शृगार में आलंबनाश्रित प्रेम न हो तो वह पुष्ट नहीं होता। सख्य भी बिना विनिमय के तिरोहित हो जाता है। पर वात्सल्य मे किसी प्रकार का विनिमय अपेक्षित नहीं होता।[2] प्रत्येक प्रकार की रति को "कामजा" रति मानने वाले पाश्चात्य विचारक विशेष कर फ्राइड के अनुवर्ती भले ही वात्सल्य में भी काम वासना का प्रच्छन्न रूप देखें पर भारतीय विचार पद्धति से तो यह मानवीय प्रेम का ही कोमल रूप है।

अनुग्रह की भावना से मिश्रित विशुद्ध रति 'वात्सल्य' कहलाती है। इसीलिए इसके आलम्बन में प्रभविष्णुता की अनुभूति आश्रय को नहीं होनी चाहिए।[3] आलम्बन को प्रभावशाली समझने वाला हृदय उसके प्रति वत्सलरति का अनुभव नहीं कर सकता।

इसका उदय पितृ हृदय में उतना नहीं जितना मातृ हृदय मे होता है। वैष्णव भक्तों में कृष्ण के प्रति वात्सल्य का प्रसार जितना यशोदा के हृदय में दिखाया है उतना नद के हृदय में नहीं। इस सार्वजनीन अनुभूति

१—ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया। गीता।

२—अप्रतीतौ हरि रते. प्रीतस्य स्यादपुष्टता।
प्रेयसस्तु तिरोभावो वत्सलस्यास्य नद्गति। ह० र० पश्चि वि० ल० ४, २८।

३—प्रभावानास्पद तथा वेधस्यात्र विभावना। वही श्लोक ४।

को सस्कृत के काव्याचार्यों ने श्रृंगार के अतर्गत माना है। पर कृष्ण के बालचरित्र वैचित्र्य पूर्ण होने से अद्भुतरति तथा वात्सल्यरति के विशेष रूप से हेतु बने। और उसके अनुसार साहित्य की सृष्टि हुई। फलतः इस रस की रचनाए इतनी अधिक हो गई कि साहित्य शास्त्रियों ने इसको पृथक् रस मान लिया। भक्ति सिद्धात में तो पृथक् रस पहले माना ही जा चुका था। भक्ति के ग्रथों में 'वात्सल्यरति' रति के पाच भेदों में से एक स्वतत्र भेद है। कृष्ण के प्रति जिनकी वत्सल भावना थी वे तथा श्रीकृष्ण इसके आलबन माने गए। 'नारद भक्ति सूत्र' मे भी प्रेम रूपाभक्ति की ग्यारह आसक्तियों में एक वात्सल्य नाम की आसक्ति भी मानी गई है।[1] श्री रूप गोस्वामीजी ने 'वात्सल्य भक्ति रस' का विस्तार से प्रतिपादन किया है। इसमें आलबन श्रीकृष्ण का यह स्वरूप मान्य है। 'स्यामाग, शिशु, रुचिर, सब शुभ लक्षणों से युक्त, कोमल प्रिय वाक् सरल लज्जाशील, विनयी बड़ों के आदरकर्ता आदि।[2] संभ्रम रहित वात्सल्य इसका स्थायी है। श्री कृष्ण की यौवनारम्भ काल की चेष्टायें भी भक्तों ने वात्सल्य रस में ली है। इसका कारण यही है कि वात्सल्य रति के प्रभाव से बालक बड़ा होने पर भी माता पिता की दृष्टि मे छोटा ही रहता है। सूरदासजी की यशोदा श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने तथा वहा राजा बन जाने पर भी जो उनकी माखन रोटी की चिता से व्याकुल रहती है उसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या यही है।

घनानद जी मुख्य रूप से मधुरा भक्ति के भक्त तथा स्वच्छंद प्रेम के कवि हैं। इनकी रचनाओं मे वात्सल्यभाव के दर्शन अल्प मात्रा में तथा अपरिपुष्ट रूप में होते हैं। वर्णन साधारण रूप का है। कृष्ण के बाल-चेष्टितों से व्रज की सौभाग्य सराहना करते हुए वे कहते हैं कि 'वह व्रज का आगन धन्य है जहा बालक श्री कृष्ण घुटनों डोलते हैं। यशोदा धन्य है जिन से कृष्ण तोतली बोली मे बोलते हैं। यह आनदघन प्रसन्न होकर उनकी गोद में सोते हैं।[3] श्री कृष्ण गोचारण के बाद घर लौटते हैं तो यशोदा उनकी आरती उतारती हैं। अपने आप को उनपर न्यौछावर करती हैं। बड़ी लालसा से उनका मुख देखती हैं। उनकी बलैया लेती हैं। अचल

१—कृष्ण तस्य गुरुश्चात्र प्राहुरालवनान् बुधाः। ह० र० प० विभाग लहरी ४,२।

२—ह० र० प० विभाग लहरी ४ श्लोक २३।

३—आनदघन पदावली ३३५

से मुँह पोंछती हैं। पुचकारों से उन पर प्रेम की वर्षा करती हैं।[1] 'श्रीकृष्ण सिसकते भी जाते हैं और दूध पीते जाते हैं। जिय के आधार उन्हें देख कर मोह की प्रबल तरंगों से माता के स्तनों में दूध की धार द्रवित हो जाती है। वे श्याम को अंचल से ढाप लेती हैं। निधड़क देख भी नहीं सकतीं।[2]

इसके साथ साथ बधाई के पद घनानद जी ने बहुत लिखे हैं। यह प्रथा निम्बार्क सम्प्रदाय के सभी भक्तों में है। उन पदों में भी वात्सल्य भाव की झलक मिलती है। उसी प्रकार के कुछ पद राधा की बधाई तथा सोहिलों पर लिखे गए हैं। राधा की झाकी पुजाने के भी कुछ पद हैं। जिनमें वात्सल्य भाव व्यक्त किया गया है। माता कीर्ति राधा की लाड़ के साथ झाकी पुजाती हैं। चदन रोली से पूजा करती हैं। फूल माला पहनाती हैं। मधु मेवा का भोग लगाती हैं। राधा की सहेलियो को घर घर से बुला कर उन्हें ओली देती है।[3]

'गिरि पूजन' में भी कृष्ण के शैशव का थोड़ा वर्णन मिलता है। 'स्यामराम की जोड़ी गिरि पूजन को जाने वाली व्रजागनाओं के साथ है। ग्वाल वाल क्रीड़ा करते जाते हैं। रोहिणी तथा यशोदा जहा पर हैं कृष्ण दौड़ कर वहीं जाते हैं। अपनी गोद मिष्टान्न से भरवा लेते हैं और साथियों में बाँट देते हैं। मधु मंगल ले लेकर भी नाटता जाता है। श्री कृष्ण गोद से उतर कर पायनि पायनि चलते हैं।[4]

१—जसोमति आरती उतारै उमगि आपनों ज्यौं वारै)
चित चढ़ि रही ललन की वन तैं गोधन लै घर आवनि।
अति आरति सौं वदन निहारै।
लै वलाय आँचर मुख पोंछति प्रेम पुचकरनि वरसति प्यारै।
आ० घ० पदावली ८७३

२—सुसकत पियत जियत अरु ज्यावत जननी जिय आधार
प्रवल मोह की उमगतरगनि द्रवति दूध की धार।
झापि लेत आचर सौं स्यामैं निधरक सकति न चाहि। वही ८०८

३—आनद घन पदावली १५९।

४—स्याम राम की जोट सुहाई। सब के मन नैननि सुखदाई।
रगन करत ग्वालगन सग। व्रज मोहन सब को सब अग।

सख्य भक्ति

भगवान श्री कृष्ण के जीवन मे सखा भाव का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहा था। शैशव में उन्होने अपनी प्रभुता को भूल कर आभीर बाल-बालिकाओं के साथ अकृत्रिम जीवन का स्वर्गीय सुख स्वयं लिया और दूसरों को बाँटा था। गोचारण, माखन चोरी, दान लीला तथा अन्य खेल कूदों मे समान भाव से सबके साथ वे खेले थे। उनका समस्त शैशव सख्य भाव के मधुर वातावरण में ही समाप्त हुआ। प्रौढावस्था में भी अर्जुन सुदामा आदि के प्रति मैत्री का उच्च आदर्श निभाकर अपने को सच्चा सखा बनाया। भागवतकार ने इसी भाव को लेकर ब्रह्मा के मुख से कृष्ण स्तुति में कहलाया है कि 'नद गोप तथा अन्य ब्रजवासियों को धन्य है कि जिन का मित्र परमानद 'पूर्ण सनातन ब्रह्म है।[1] भक्त लोगों ने भागवतकार की भावना को लेकर सख्य को भगवद् अनुराग का एक भेद मान लिया और अपने को कृष्ण सखाओं में रख कर धन्य माना। अष्ट छाप के प्रसिद्ध आठ भक्त अपने को श्रीकृष्ण भगवान के आठ सखा मानते थे। सूरदास तथा परमानद दास ने भगवान की उन लीलाओं का बडे विस्तार तथा तन्मयता के साथ वर्णन किया है जो सख्य भक्ति रस की अनुभूति देती हैं।[2]

इसका स्थायी भाव ऐसा प्रगाढ विश्वास है जिस में किसी प्रकार के दबाव की भावना न हो।[3] भगवान और उनके सखा समभाव से आपस में क्रीडाए करते हैं। श्री चैतन्य सप्रदाय वालो का मत है कि परमेश्वर ऐसे भक्तों पर शीघ्र प्रसन्न नहीं होता जो उसके अलौकिक महत्व को सदा स्मरण करते हुए अपने दैन्य का निवेदन करते रहते हैं, अर्थात् दास्य भाव की भक्ति करते हैं। दास्य भक्ति के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि भगवदनुराग में माहात्म्य ज्ञान जो श्री वल्लभ आचार्यजी को समत है वह भी अत

रोहिनि जसुमति को समाज जहाँ। दौर जात हैं कान्ह कुँवर तहा।
गोद भराय फिरत कुछ नाटत। मधु मगल लै लै फिर नाटत।
गिरधर पायनि पायनि पायन। उतरि चलत भरि गोधनमायन ॥ गिरि पूजा

१—अहो भाग्यमहोभाग्य नन्दगोप ब्रजौकसाम्।
यन्मित्र परमानद पूर्ण ब्रह्म सनातनम्। भागवत १०, १४, ३२

२—देखिए अष्ट छाप और वल्लभ सम्प्रदाय पृ० ६१२

३—ह० र० प० विभाग लहरी ३ श्लोक ६,

में छुट जाता है। सख्य भाव स्वभाव से ऐसा है कि इसमें भगवान का माहात्म्य विस्मृत हो जाता है। भक्ति साधना में इसका फिर बड़ा महत्व हो जाता है।

भगवान के सखा चार प्रकार के माने गए हैं।

१—सुहृद।
२—सखा।
३—प्रिय सखा।
४—प्रिय नर्मवयस्य।

उनमें सुहृद वे हैं जो आयु में श्रीकृष्णजी से कुछ बडे थे। इनकी मैत्री में वात्सल्य की भी गध रहती है। बलभद्र ऐसे ही थे। सखा आयु में छोटे होते हैं। इनकी मैत्री में प्रीति का योग होता है। जो आयु मे समान तथा केवल मैत्री का भाव रखते हैं वे प्रिय सखा होते हैं जैसे श्रीदामा आदि। प्रियनर्मवयस्य वे हैं जो श्रीकृष्ण की रहस्य लीलाओं में उनके साथ रहते तथा उन्हें सहायता देते हैं। प्रायः शृगार चेष्टाओं में जैसे दान लीला, रासलीला आदि में इनका सान्निध्य रहता है श्री कृष्ण के समान राधा की भी सखिया होती हैं पर उनका आकलन सख्य प्रीति में नहीं होता। वे मधुरा भक्ति में आती हैं। साप्रदायिक रूप से भी सखी सप्रदाय वालों में कृष्ण के सखा होने की भावना नही होती। वे अपने को केवल राधा की ही सखी मानते हैं।

घनानद जी सखी सप्रदाय के थे। अतः उनकी रचनाओं में सख्य भाव के दर्शन नहीं के बराबर हैं। सखी भाव प्राचुर्येण प्राप्त होता है। इसका विस्तार पूर्वक वर्णन पृथक् किया जायगा।[1] यहा सूक्ष्मत. उनके सख्य भाव की रचनाओं का विवेचन करते हैं।

जितना कुछ वर्णन इस भाव का इनकी रचनाओं मे मिलता है वह प्रियनर्मवयस्य सखाओं का है। 'व्रज व्यवहार' में, दानलीला के प्रसग में सखाओं का वर्णन किया गया है। गोपिया दधि लेकर जगल से निकलती हैं। गायों को देखने के लिए श्रीकृष्ण पर्वत पर चढते हैं। मनमें दानलीला का चाव है। सुबल, सुबाहु, तोप, और मधु मगल जो उज्वल प्रेम में चतुर हैं

१—देखिए सप्रदाय का विवेचन।

तथा अन्य सखा श्रीकृष्ण के साथ हैं। ये सब व्रजमोहन के साथ साथ घूमते हैं। आपस में प्रीति कथाए कहते हैं। व्रज देविया देवी पूजन के लिए गिरि घाटियों से नित्य निकलती हैं। श्रीकृष्ण के सकेतों को वे समझ जाते हैं और उससे प्रसन्न होते हैं। व्रजागनाओं की पादध्वनि को सुन कर गिरि घाटियों में लकुटो की वेड़ी लगाकर बैठ जाते हैं। श्रीकृष्ण को आज्ञा से घाटियों को घेर लिया गया। रस भरी बातें करने, प्रसन्न होकर गाने तथा गाल बजाने लगे। एक ओर श्रीकृष्ण खडे हो गए। वे व्रज तरुणियों को चपल नेत्रों से देखते हैं और दानकेलि के चाव से मन ही मन प्रसन्न होते हैं। गोरस के बहाने से झटकते झगड़ते हुए हँस हँस कर क्रोध के वचन बोलते हैं। श्रीकृष्ण गहन कुजो तथा पर्वत कदराओं में विहार करते हैं। दान केलि में कोलाहल मचता है और सब ग्वाल दधि लूटते हुए मिलकर नाचते हैं।[१]

घनानदजी ने जिन चार सखाओं का नाम दिया है उनमें से सुबल का नाम श्री रूपगोस्वामी ने हरि भक्ति रसामृत सिंधु में भी दिया है। यह प्रियनर्मवयस्यों में श्रेष्ठ वयस्य है।[२] 'दान घटा' में ललिता मधु मगल को संबोधित करती हुई कहती है कि दान मांगने से ऐंठ कर चलने से काम नहीं चल सकता। यदि राधा के गुन गा गा कर रिझादो तो उनकी न्यौछावर करके दधि तुम्हें दिया जा सकता है।[३] 'गिरि पूजन' में श्री कृष्ण गोद भर कर कुछ बाटते फिरते हैं पर मधु मगल लेकर भी नट जाता है।[४] ये ही महाशय छाक खाते समय दिखाई पड़ते हैं। यशोदा ने श्री कृष्ण के लिए छाक भेजी है। मधुमगल भूख के मारे बडे चाव से ताक लगाये बैठा है। छकिहारी छाक लाई तो सब ग्वाल बाल ढाक के पत्तों पर हिल मिल कर खाते हैं।[५]

इतनी अधिक रचनाओं में सख्य भाव का प्राप्त होना तो स्वाभाविक ही है। पर कवि का अनुराग इस भाव के साथ नहीं दिखाई देता। वह तो मधुर भाव या शात भाव के ही साथ है।

१—व्रज व्यौहार ६८,११२।

२—ह० र० पश्चिम विभाग लहरी ३ श्लोक २१।

३—दान घटा ६।

४—गिरि पूजन २१।

५—आनदघन पदावली ६०८।

मधुरा भक्ति

'रस सवाद रसिया ही जानै
बिनु रस भये कौन अनुमानै'

यह पहले बताया जा चुका है कि भक्ति प्रवृत्ति मार्ग का साधन है। प्रवृत्ति का उत्तेजक तत्व राग होता है। अत. भक्ति मार्ग में राग का प्राधान्य रहता है। रागतत्व की जितनी प्रधानता शृगार में रहती है उतनी अन्य किसी भाव में नहीं। शृगार विशुद्ध राग ही है। अन्य भावों में इसका कुछ कुछ अश विद्यमान रहता है। फलतः रागमूलक शृगार का भक्ति में बड़ा महत्व माना जाता है। वहा इसे मधुर भाव कहते हैं। भक्ति के पाच भेदो मे मधुरा भक्ति सर्वश्रेष्ठ है। भक्त लोगों ने इसे 'भक्ति रसराज' तथा 'रसनिर्यास' कहा है।[1] राम कृष्ण का श्याम वर्ण जो भक्ति संप्रदाय में माना गया है और उसके साथ ही शृंगार का भी श्याम वर्ण साहित्य के आचार्यों ने सिद्धातित किया है, इस से शृगार का भक्ति में प्राधान्य ध्वनित होता है।

लोक दृष्टि से अवश्य यह शकनीय है। सामाजिक मर्यादाओ का भंग होने से यह दंभ जैसा प्रतीत होता है। इसलिए आचार्यों ने मधुरा भक्ति के पात्र उच्च कोटि के भक्त माने हैं। उन्होंने इस भक्ति भेद को रहस्य और दुरूह बताया है। वास्तव में लोक में सबसे अधिक मादक और आध्यात्मिक अभ्युदय का बाधक भाव शृंगार होता है। इसका दमन मानसिक ग्रथियाँ उत्पन्न कर व्यक्तित्व को दाम्भिक बना देता है। यदि इसका स्थानातरण विषयों से हटा कर भगवान में कर दिया जाय तो इसके समस्त दोष गुण बन जाते हैं। भक्त लोग उस आसक्ति की कामना करते हैं। जो कामी को अपनी पत्नी के प्रति होती है।[2] इसकी मादकता भक्ति में इस प्रकार समाप्त हो जाती है जिस प्रकार प्रसाद मे प्राप्त की हुई माला की। भागवतकार ने बताया है कि जिन भक्तों की बुद्धि भगवान मे

१—पृथगेव भक्ति रसराज स विस्तरेण उच्यते मधुरः। उज्वलनीलमणि पृ० ४ श्लोक० २
कृष्णरसनिर्यासम्यादार्थभवतारिथि। वही श्लोक १८

२—कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तस रघुवीर निरतर प्रिय लागहु मोहि राम। तुलसी।

सलग्न होती है उनके लिए काम शृंगार, उसी प्रकार मादक नहीं रहता जिस प्रकार भुने या उबले धान उगने योग्य नहीं रहते।[1]

मधुर रस और घनआनंद

घन आनदजी ने मधुर रस या श्री कृष्ण के सबध से गोपियों को मिलने वाले आनद की महत्ता बडे अभिनिवेश से प्रतिपादित की है। उनके अनुसार गोपियों का प्रेम मधुर रस है। यह परम अगम्य और दुर्बोध है। भक्त के हृदय में भगवान की महिमा का जब तक ध्यान बना रहेगा तब तक इस रस का आस्वादन नहीं हो सकता। ब्रह्मा, शिव, शुक तथा उद्धव जैसे ज्ञानी भक्त महिमा के वशीभूत होकर आश्चर्य रस में पड़ जाते हैं। वे मधुर रस में अवगाहन नहीं कर सकते। रस परमेश्वर का नाम है। जब तक व्यक्ति रसस्वरूप नहीं हो जाता तब तक इस रस का आस्वादन उसे नहीं मिलता और वह रस अमिल है। उस को तो श्रुति भी नेति नेति कह कर पुकारती है।

'रस सवाद रसिया ही जानै
बिन रस भये कौन अनुमानै
सो रस अमिल मिलै धौं काहि
निगम नेति करि बरनत जाहि'

प्रेम पद्धति १४, १५

जिनको इस रस का थोड़ा बहुत अनुभव होता है वह श्री कृष्ण की ललित लीलाओं में अवगाहन करने लगता है। वह अत्यन्त लघु होकर व्रज रज की आराधना करता है और गोपी मार्ग सखीभाव पर चलने लगता है। व्रजरज की कृपा से यह रस प्राप्त हो सकता है। व्रजरज का अधिकारी भक्त तभी होगा जब भगवान स्वय उस पर कृपा करें।

रस ही रस अपने रस ढरै
तब व्रज रज अधिकारी करै[1]

१—प्रेम पद्धति २१

न मय्यावेशित धिया काम कामाय कल्पते
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते। भागवत १०, २२, २६।

इस रस का आस्वादन करने वाला 'एक रस हो जाता है। उसे अत्यंत अमोघ सुख की प्राप्ति होती है।

'या रस विवस एक रस रहै
अति अमोघ सुख संपति लहै'[1]

इसकी समता करने के लिए कोई भाव नहीं है। यह सबसे ऊँचा और सबसे पृथक है। उसकी प्राप्ति का एक मात्र साधन गोपीमार्ग का आश्रयण है। घनानंद जी कहते हैं कि 'मैं इसलिए गोपियों के गुण गाता हूँ और उनके अनुराग से अपना मन अनुरक्त करता हूँ कि इस रस की अनुभूति प्राप्त कर सकूं।'

तातें गोपिन के गुन गाऊ,
इनकी रचनि मनै परचाऊ[2]

इसका यथार्थ पात्र गोपिकाएँ हैं। उन्होंने इसका आस्वादन किया है—

यह सवाद गोपिन ही लह्यौ,
नेति नेति निगमन हू कह्यौ[3]

आचार्य श्री रूपगोस्वामी ने उज्वलनील मणि ग्रंथ में इसका विस्तार के साथ प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार साहित्य के रसो में विभाव, अनुभाव, सचारी भाव आदि अगभूत होते हैं उसी प्रकार उन्होंने मधुर रस मे सब कल्पित किए हैं। लौकिक रस की शैली से भक्ति के रस का प्रतिपादन सर्व प्रथम इन्होंने ही किया है। इस से मधुर भाव का रसत्व अवश्य सागोपाग स्थापित होगया पर भक्ति मार्ग को इस से क्षति ही पहुँची। लौकिक रसो की विश्लेषण पद्धति के कारण भक्ति भाव भी लौकिकायमान होगया। इसका फल यह हुआ कि भक्ति भाव शृंगार रस मे परिणत हो गया। रीति काल में जो राधाकृष्ण नायक नायिका बन गए उसका दोष इस परपरा को भी देना चाहिए। अस्तु.

लक्षण—

लोक में स्त्री पुरुष के प्रीति के जिस विकासित रूप को शृगार कहते हैं वही परमेश्वर के आलबन से जब अपने चरम उत्कर्ष को प्राप्त करता है तो वह मधुर रस कहलाता है।

१—वही प्रेम पद्धति ४८
२—प्रेम पद्धति पृष्ठ ४८
३—वही पृष्ठ ५६

स्थायी भाव—

इसका स्थायी भाव मधुरा रति है। कुछ भक्तों ने अपने को पुरुष तथा परमेश्वर को स्त्री या प्रिय रूप में मान कर प्रेम किया है। दूसरो ने अपने को स्त्री तथा भगवान को पति या उपपति मान कर प्रेम किया है। वैष्णव सम्प्रदाय में गोपी भाव तथा सखी भाव ऐसा ही है। यह सब रति के प्रयोग भेद हैं। रति भाव सर्वत्र एक ही है।

स्थायी भाव के भेद—

मधुरा रति तीन प्रकार की मानी गई है। साधारणी, समजसा और समर्था। स्वार्थ बुद्धि तथा स्थायिता की दृष्टि से इन में उत्तरोत्तर उत्कर्ष है।

साधारण रति

साधारण रति हरि के दर्शन से उत्पन्न होती है। यह अधिक सान्द्र नहीं होती। संभोग की इच्छा इसका निदान होती है। भावुक भक्ति की दृष्टि भगवान के शरीर ससर्ग पर रहती है इसलिए प्रेम की अपेक्षा सभोग कामना अधिक प्रबल होती है। रति का पर्यवसान सभोग मे ही होता है जैसे कुब्जा की रति का।

आनदघन के प्रेम का पर्यवसान शरीर सयोग में नहीं होता इसलिए साधारणी रति के दृष्टात इनके काव्य में नहीं मिलते।

समंजसा

समजसा रति मे पत्नीत्व की भावना रहती है। यह लोक मर्यादा का भाव है। श्रीकृष्ण के गुणादि का श्रवण, चित्रदर्शन आदि से इसका जन्म होता है। स्वभावतः यह सम होती है। इसमें कभी सभोग की इच्छा प्रबल हो जाती है और कभी प्रेम की भावना। इसके दर्शन स्वकीया भाव की रचनाओं में मिलते हैं। आनदघन जी की पदावली मे कहीं कहीं स्वकीया भाव दिखाई पड़ता है। कोई प्रेयसी श्री कृष्ण को सम्बोधन करके कहती है—

'हे बालम हृदय बड़ा व्याकुल हो गया है शीघ्र मेरा स्मरण करिये। अब विलम्ब न कीजिए। अनुकूल होकर दुखों को दूर कीजिए। नहीं तो ये मुझे दौड़ कर घेर लेंगे। यदि तुम नहीं समझते हो तो मैं क्या करूँ। आप

ने मुझे अपनी बना कर भुला दिया है। पहले आनन्द की वृष्टि की और अब वियोग की अग्नि लगा दी[१]।

समर्था रति

पूर्वोक्त दोनों भेदों से श्रेष्ठ यह भेद माना गया है। इस मे प्रेमी भक्त को भगवान से किसी प्रकार की तृप्ति का सुख नहीं मिलता। इसके विपरीत प्रिय भगवान की तृप्ति की ही कामना की जाती है। सभोग की इच्छा रति मे ही लीन होकर तदात्म हो जाती है। इसका जन्म या तो स्वतः ही होता है या प्रिय के अचल सबंध से। इसका थोड़ा सा अश भी अन्य भावों को विस्मृत करा देता है। इच्छा में ही इतना चमत्कार और विलास रहता है कि सभोग की इच्छा का उदय ही नहीं होता। यही अपने पूर्ण विकास से महाभाव कहलाती है। जिसका आश्रय केवल राधा ही मानी गई है। गोपियों में भी यह विद्यमान रहती है।

घनानंद ने अपनी रचनाओं में समर्था रति के ही चित्रण किये हैं। कवित्त सवैयों में पदों में और वर्णनात्मक निबंधों में रति का रूप मानसिक भावना ही मिलता है। यह शारीरिक वासना से सर्वथा भिन्न है।

श्रीकृष्ण की प्रेमिका कहती है—'उनका रूप देखकर मेरा मन पारे के कूप के समान उमड़ता है। जितना इसे स्थिर करती हूँ उतना ही चचल होता है। यह श्रीकृष्ण के गुणों की गाड़ में जाकर गिर जाता है। मै कामदेव के शूल सहती हूँ। उनके चेटक के धुआ में मेरे प्राण घुटते हैं। मैं अपनी दशा किससे कहूँ। अब तो हृदय मे यही है कि व्रज के छैल की छाया के समान उन्हीं के साथ सदा रहूँ।

१—सुरति सवेरी लेहु बिसासी वालम जियरा अति अकुलाय,
अब न विरम करिये ढरिये हरिये दुख हाहा मतरुआइ हैं धाय,
कहा कहौं जो तुम्हहि न समझी अपनी करि ज्यौ दई भुलाय।
आनद घन रस वरसि सरसि तब तव अब लाई यह लाय।

आनद घन पदावली ५५३

२—मन पारद कूप लों रूप चहैं उमहै सुरहै नहिं जैनोगहौ
गुन गाडनि जाय परै अकुलाय मनोज के ओजनि सूल सहौं :
घनआनद चेटक धूम में प्रान छुटें न घुटें गति कासौं कहौं .
उर आवत यों छवि छाँह ज्यों ही ब्रजछैल की गैल सदाई रहौं :

आनद घन सुजानहित ११

रस सागर नागर स्याम को देख कर मैं अभिलाषाओं की धार में बह जाती हूँ। धैर्य का तीर दिखाई नहीं पड़ता। हार कर लज्जा की सिवार पकड़ती हूँ। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि उनके गुण हाथ में लेकर भी डूबती हूँ। अब तो यही मनमें आता है कि व्रज के छैल की छवि की छाँह के समान उन्हीं के साथ में सदा रहूँ।"[1]

जिस प्रकार ईख का पर्व विकसित होकर पूरा गन्ना, रस, गुड़, खाँड़, मिश्री तथा कद उत्तरोत्तर बनती जाती है उसी प्रकार यह समर्था रति अपनी विकसित अवस्था में प्रेम, स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव, और अत में महाभाव बनती है। इस प्रकार इसके विकास की आठ कक्षाएँ हैं। भक्ति सिद्धात के अनुसार रति (अभिलाष) जो परमेश्वर का ही चैतन्याश जीव मे विद्यमान रहता है, वही विकसित होकर महाभाव में परिणत होता है। महा भाव राधा का स्वरूप है। राधा और कृष्ण परस्पर में अभिन्न हैं। इस तरह समर्था रति या प्रेम अपने मूल रूप में परमेश्वर का अश है। और विकसित होकर भी भगवत्स्वरूप हो जाती। भगवान के चेतन्याश का ही विकास होकर स्वरूप में पर्यवसान होता है।

घनानद ने इस भाव को इतनी प्रचुरता के साथ वर्णन किया है कि उसमें सरलता से इसके समस्त भेद आ गए हैं। इससे यह सिद्ध करना कि कवि भक्ति के उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन से परिचित था, कठिन होगा। इस विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। उनका काव्य साधारणतया प्रेम परक है। शास्त्रीय भेदों का इसमें कोई सकेत नहीं। पर ये सखी भाव के उपासक होने के कारण मधुरा भक्ति के सिद्धातों से परिचित रहे होंगे—यह अनुमान करने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अस्तु।

उपर्युक्त भेदों के लक्षण सहित उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

प्रेम

प्रेम प्रेमी और प्रिय का पारस्परिक भाव-बधन है जो विरोधी कारणों से कभी नहीं टूटता।[2] जैसे प्रेमी भक्त अनुभव करता है कि :—

देखने मात्र से ही घन आनद ने मेरा हृदय गुणों से बाँध लिया। इससे

१—वही १३।

२—सर्वथाध्वसारहित सत्यपिध्वस कारणे।
यद्भाव बधन यूनो स प्रेमापरिकीर्तित उ० नी० मणि पृ० ४१८

अपना खेल किया। फलस्वरूप यह उलझ गया। अब यह प्रीति के फंदों में फँस कर कस गया है। छल कपट से इसका सुलझाना नहीं हो सकता। सुजान अब भूल कर भी सुध नहीं लेते उनके हृदय का छिपा रहस्य जाना नहीं जाता। अब इसी परेखे से दुःख जाल में पड़ा हुआ मन मुरझाता है।"[1]

ध्वसायोग्यता

"दुःख धूम की धूँधरि में गिर कर यदि मेरा प्राण घुट जाएगा तब भी मित्र सुजान से नाता नहीं टूट सकता।"

स्नेह

प्रेम की विकसित दशा का नाम स्नेह है। स्नेह अपने तेज से प्रेमी के हृदय को द्रवीभूत तथा अंतश्चेतना के दीपक को और अधिक प्रदीप्त कर देता है। भावों की लपटों में पड़ कर यह घृत का कार्य करता है। इसके उदय हो जाने से प्रिय के दर्शन स्पर्शन से कभी तृप्ति नहीं होती है।[2] इसमे हृदय के द्रवीभाव और अतृप्ति के निम्नलिखित उदाहरण हैं।

हृदय का द्रवीभाव

'तुम्हारी निकाई पर मेरी रीझ ही बिक चुकी है। देखते देखते देखना ही बंद हो गया है। यौवन—घूमरे नेत्रों को देख कर बुद्धि बौरा गई है। उसने अपनी ममता न्यौछावर कर दी है। तुम्हारी वाणी में मेरी वाणी विलीन हो गई है। तुम्हारे न देखने को देखने से जीवित रह रहा हूँ। इससे अधिक और क्या होगा ?'

'रीझ बिकाई निकाई पै रीझि थकी गति हेरत हेरन की गति।
जोवन-घूघरे नैन लखैं मति बौरी भई गति वारि कै मोमति।
बानी बिलानी सुबालनि पै अन-चाहनि चाह जिवावति है हति।
जान के जी की न जानि परै घन आनद या हू ते होत कहा अति।

सुहि० ३४

अतृप्ति

प्रिय के दर्शन स्पर्शन होने पर भी तृप्ति का न होना दो कारणों से हो जाता है। एक तो संयोग काल में हर्ष विभोर होकर प्रेमी की चेतना लुप्त हो जाती है। दूसरे अभिलाषाओं की बाढ आ जाने से संयोग का सुख अभिलाष के दुखों मे दब जाता है। प्रत्येक के उदाहरण जैसेः—

१—सुहि० २२ ३ सुहि ३

२—उज्वल नीलमणि पृ० ४२४-४२५—कारिका ७०-७१

हर्ष-विभोर की चेतना का लोप

'हे प्रिय तुम्हें चाहे कुछ भी अच्छा लगे पर मेरा मन तो तुम्हारा वर्णन करना चाहता है। लेकिन बुद्धि की प्रगति थक जाती है। हे माधुरी निधान! तुम्हारे थोडे साक्षात्कार से ही सुधि अपनापन भूल जाती है। अंतःकरण लालसाओं से भींग जाता है। फिर आनद घन? सयोग का सुख कैसे प्राप्त हो।

'तो हि जैसी भाँति लसै, बरनिबो मन बसै,
वानी गुन गसै, मति गति विथकै तहीं।
जान प्यारी सुधि हूँ अपुनपौ विसरि जाय,
माधुरी निधान तेरी नैसिक मुहाचही।
क्योंकरि आनदघन लहियै सजोग सुख,
लालसानि भीजि रीजि बातैं न परैं कहीं।'[1]

सुहि० २००

अभिलाषाधिक्य

'हे प्रिय तुम्हारे मुख की ओर देखने की इच्छाओं से उमाह का झड लगा ही रहता है। और बिना सयोग बने वियोग का दुःख टरे कैसे? कभी यदि स्वप्न की तरह तुम्हें देख पाती हूँ तो मनोरथों की भीड़ लग जाती है। फलस्वरूप मिल कर भी मिलाप नहीं मिलता।

'मुख चाहनि चाह उमाहन को घन आनंद लाग्यौ रहेई झरै।
मन भावन मीत सुजान सजोग बनैबिन कैसे वियोग टरै।
कवहूँ जौ दई गति सौं सपनोसौ लखौं तो मनोरथ भीर भरै।
मिलिहू न मिलाप मिलै तनको उर की गति क्यौं करि न्यौरिपरै।

सुहि० ७२

मान

स्नेह में उत्कृष्टता आजाने से नवीन प्रकार का माधुर्य अनुभूत होने लगता है। आत्मीयता बढने पर ऊपरी छद्म कौटिल्य जो धारण किया जाता है वह मान है।[2] जैजे

१—सुहि० २००।

२—स्नेह स्तूत्कृष्टता वाप्त्या माधुर्य मानयन्नवम्
योधारयत्यदा चिण्य नमान इति कीर्तित

उ० नी० मणि का० ८७ पृ० ४३२

'हे राधे सुजान ! इधर ध्यान दो। प्रेम मे मान मरोड कहाँ की जाती है ? तुम्हारा तो मन मक्खन से भी अधिक कोमल है। फिर यह कठोरता की बान कहाँ से पड़ गई ? स्याम से मिल कर तुम कैसी शोभायमान होती हो—यह कहा नहीं जाता। वह आनद का धन होकर भी तुम्हारा पपीहा है, अजचद होकर भी तुम्हारा चकोर है।

'राधे सुजान इतै चित दे हित में कितकीजति मान मरोर है।
माखन तें मन कोंवरो है यह बान न जानति कैसे कठोर है।
सावरे सौं मिलि सोहति जैसी कहा कहियै कहिबा को न जोर है।
तेरो पपीहा जु है घन आनद है ब्रजचन्द सो तेरो चकोर है।[1]

प्रणय

मान में पारस्परिक विश्वास की वृद्धि हो जाने से प्रणय कोटि आ जाती है। इसमें प्रेमी तथा प्रिय के प्राण मन बुद्धि तथा देह एकमेक हो जाते हैं।[2] प्रत्येक का उदाहरण जैसे :—

हृदय की एकता

'मीत सुजान के मिलने का महासुख अगो को वेसुध किए हुए है। रस रग में पगे हुए सब स्वाद जाग गये हैं। इस सुख को प्रेमी ही जानते हैं। इनके दो हृदय मिलकर एक हो गये हैं। घन आनद का शुद्ध सामीप्य मिल गया है।'

मीत सुजान मिले को महा सुख अंगनि भोय समोय रह्यौ है।
स्वाद जगे रस रग पगे अति जानत वेई न जात कह्यौ है।
द्वै उर एक भये घुरि कैं घन आनद शुद्ध समीप लह्यौ है।[3]

सर्वात्म ऐक्य

'मैं तुम्हें देख कर जीवित रहती हूँ। तुम्हारे रूपामृत का पान करती हूँ। पानी में रंग की भाति मैं तुममें मिल जाऊं। पर तुम मिलते नहीं हो।

१—सुहि० ३७२
२—उ० नील मणि कारिका ९८ पृ० ४३७
३—सुहि २२६ घ० ग्र० पृष्ठ ७७

'तुम्हैं देखि जियौं पियौं रूप अमी घनआनद प्यारे सदा सौं कहौं।
मिलि जाउँ तुम्हैं रग नीर लौं पाय, पै हाथ मिलौ नहिं तासौं कहौ।'[१]

'प्रेम चन्द्रमा को चकोर तथा चकोर को चद्रमा बना देता है। इस मिलाप में कामनायें लुप्त हो जाती हैं। भले ही प्रेमी और प्रिय देखने में दो हों पर यथार्थ में वे एक ही होते हैं।

'चदहि चकोर करै सोऊ ससि देह धरै
मनसा हू ररै एक देखिबे कौं रहैं द्वै।[२]

शरीर की एकता

मेरे अग-अग उन्हीं के साथ रँगरगे हो गये हैं। मन सिंहासन पर भी उन्हीं का ध्यान विराजमान है।

'अग अग मेरे उनहीं के सग रँग रगे।[3]

राग

प्रणय में उत्कर्ष आजाने से वियोग का दुख भी जब सुख जैसा लगता है तो राग दशा कहलाती है। जिस प्रकार रग वस्त्र को अपने स्वरूप में रगकर उसके रूप का अनहृव कर देता है उसी प्रकार प्रेमाधिक्य प्रेमी की प्रवृत्तियों को प्रियमय बना देता है।[४] जैसे :—

'हमारे भाग में स्मृति आई है तुम्हारे में भूल। तुम्हें कैसे उलाहना दिया जाय। अब तो हमने सब सिर चढा ली है। आपको जो अच्छा लगे वही कीजिए। मैं तो तुम्हारी बातों से ही जीवित रहती हूँ। तुम्हें तो क्या उत्कठा होगी। पर सदा प्रसन्न रहो यह हमारा आशीर्वाद लीजिए।'

'इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनो दीजिए जू।
अब तौ सब सीस चढ़ाय लई जु कछु मन भाई सु कीजिए जू।
घनआनंद जीवन प्रान सुजान तिहारियै बातनि जीजिएजू।
नित नीके रहो तुम्है चाड़ कहा पै असीस हमारियौ लीजिएजू।
सुहि० २५७

१—वही ४६५ पृ० १४०

२—वही ७६६ पृ० ६५

३—वही १०१ पृ० ३३

४—उ० नी० मणि पृ० ४३८ कारिका ६६;

प्रियमय वृत्ति

'हे प्रिय तुम मेरी दृष्टि के आगे आगे घूमते हो। पर बोलते नहीं। मेरा क्या बस है। मुझे तो वियोग में भी निकट ही दिखाई देते हो।

दीठि आगे डोलौ जौ न बोलौ कहा बस लागै।
मोहि तो वियोग हु में दीसत समीप हो।

सुहि० ०९४, घ० ग्र० पृ० ३१

अनुराग

जब राग ही नवीन-नवीन रूप धारण कर पूर्वानुभूत प्रिय वस्तु को नवीन रूप से दर्शाता है तब अनुराग दशा होती है।[1] जैसे.—

'आप के रूप की यह नई रीति है कि जितना देखें उतना ही नया नया लगता है।

'रावरे रूप की रीति अनूप नयौ नयौ लागत ज्यौं ज्यौं निहारिये।'

'उधर जैसे जैसे मुखपर आभा बढती है इधर वैसे ही चाह बढती जाती है।

'ज्यौं ज्यौं उत आनन पे आँनद सुओप औरे
त्यौं त्यौं इत चाहन मै चाह बरसति है

प्रकीर्णक १३ घ० ग्र० पृ० ५८८

भाव

अनुराग की वह उत्कृष्टावस्था भाव कहलाती है जिसमें बुद्धि का स्थान गौण तथा हृदय या भाव का स्थान प्रधान हो। प्रेम स्वसंवेद्य हो, बुद्धि द्वारा पर-संवेद्य न हो।

घनानद जी ने प्रेमी-हृदय की इस दशा का जिसमे मन अवचेतन हो जाता है, अनेकत्र वर्णन की है। इन्होंने काव्य रचना करते समय अपने हृदय की दशा भी ऐसी ही बताई है।

लोग पै लागि कवित्त बनावत मोहि तौ मेरे कवित्त बनावत

१—सदानुभूतमपि यः कुर्यान्नवनवं प्रियम्।
रागो भवन्नवनव. मो नुराग इतीर्यते उ० नी० म० कारिका १३४ पृ० ४५८।

इस दशा में ज्ञान के साधन आँख, कान आदि अपना कार्य करना बन्द कर देते हैं। प्रेम की मोहनी शक्ति जागरूक हो जाती है। विरक्त प्रेमियों की 'रहनि' के वर्णन में कवि ने इस भाव को व्यक्त किया है। जैसे,—

'हे श्याम आप का रुचिर रूप देख कर मेरा मन बावला हो गया है। वह कोई शिक्षा नहीं सुनता। बुद्धि अत्यधिक तृप्त हो गई है। वह रति-रस में भींग गई है अत उसकी गति थक गई। रीझ को उडेलता हुआ प्रेम का आनदघन उमड़ रहा है। नेत्र वाणी चित्त मेरे बस में नहीं हैं। मै आप के गुणों की रस्सी पकड कर भी प्रेम रस मे डूब रही हूँ।'

'निरखि सुजान प्यारे रावरो रुचिर रूप,
बावरो भयौ है मन मेरो न सिखै सुनै।
मति अति छाकी, गति थाकी रति रस भीजि,
रीझि की उझिल घनआनंद रह्यौ उनै।
नैन, बैन चित चैन है न मेरे बस, मेरी
दसा अचरज देखौ बूढति गहैं गुनै।

(सुहि २५ घना० ग्र० पृ० १०)

'रूप के सेनापति को सजा हुआ देख कर धैर्य रूपी दुर्ग रक्षक दुर्ग छोड़ कर भाग गया है। प्रेम के हृदय नगर में प्रवेश करते ही नेत्र उस से जा मिले। लज्जा लूट ली गई। उसका कुछ भी न बचा। प्रेम की दुहाई सारे नगर में फिर गई। कुल नियमरूपी लड़ाकू बाध लिए गए। चतुर रीझ पटरानी बन गई और बुद्धि बेचारी दासी बन कर बच सकी।

'रूप चमूप सज्यो दल देखि भज्यौ तजि देसहि धीर मवासी।
नैन मिले उर के पुर पैठत लाज लुटी न छुटी तिनकासी।
प्रेम दुहाई फिरी घनआनद बाँधि लिए कुल नेम गुढासी।
रीझि सुजान सची पटरानी बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।

(सुहि० ४८, पृ० १६)

महाभाव

जो अपने आस्वाद में अमृत तुल्य हो तथा जो मन बुद्धि आदि ज्ञान साधनों को अपने स्वरुप में विलीन करले वह प्रेमानुभूति महाभाव कहलाता है। इसका अनुभव भक्ति परपरा के अनुसार केवल व्रज-देवियों का ही होता

है[1]। लौकिक प्रेम की अनुभूति में यह दशा नहीं होती। अधिदेव प्रेम अर्थात् भक्ति मे ही इसके दर्शन होते हैं। आत्म विभोर होकर किए गए राम या कृष्ण के विरहानुभव में प्रायः इस भाव स्थिति का दर्शन होता। है यह अनिर्वचनीय है।

ब्रज को विरह बरने कौन।
टरत विचार विचारि हियतें गहति बानी मौन।
स्याम बिछुरे कहाँ कैसे है रह्यो सब स्याम।
बिछुरि मिलि मिलि बिछुरिजीवत मौन टेरत नाम।
यह सँजोग वियोग व्यापनि बचन क्यौंऽब समाय।
मन कहा या रस परसकों सुनत जड़ है जाय।
ते लहैं द्वंद्वं तेई सोई सहैं यह धूम।
हाय ब्रज व्यौहार गति अति मतिहि वितुनति धूम।
लाल ब्रज मोहन छबीलो रैनि दिन दग सग।
घमडि घुरि घुरि उघरि बरसत चोप चेटक रग।
रमन ब्रज बन गिरि जमुन तट मचि रह्यौ यह खेल।
सब भाव, सर बढ़वार आनदघन महारस रेल।[2]

आलंबन

मधुराभक्ति के आलबन श्री कृष्ण तथा उनकी वल्लभाएं हैं जो ब्रज सुदरिया मानी गई हैं। श्री कृष्ण का 'रसिक' रुप ही इस मे ग्राह्य है। श्री कृष्ण को भक्तों ने 'मधुर रस सर्वस्व' तथा शृगार रस के लिए अवतरित माना है। गोपिकाओं को भी प्रेम का अवतारा मग्ना है। भागवतकार के अनुसार मुक्तिदाता भगवान से जो सुख गोपियों ने लिया है वह ब्रह्म शिव तथा शरीर वानिनी लक्ष्मी भी नहीं ले सकती। वे आनंद रस से सदा प्रति-भावित रहती है तथा भगवान ही की कला हैं। सर्वात्मभूत वह आदि

१—ब्रज देव्यैक सर्वंधी महाभावस्ययोच्यने
वरामृत स्वरुप श्री स्व स्वरूप मनानयेत
उ० नी० म० करिका १४५ पृ० ४६३

२—आनंदघन पदा० ६८१

पुरुष इनके साथ गोलोकमें नित्य निवास करता है। घनानदजीने गोपियों तथा राधाकी प्रशसामें सैकड़ों पद लिखे हैं। जैसे—

प्रेम तो गोपिन ही को भाग

जिन के नंद सूनुसों सांचयौ रच्यौ राग अनुराग।
कहियै कहा निकाई मन की जो कछु लागी लाग।
सर्वसु बिसरि बिसरि सुधि साधी महा मोह की जाग।
ब्रज मोहन की महा मोहनी अनुपम अचल सुहाग।
आनद घन रस झेलि झालरी नव वृन्दावन बाग[1]

× × × ×

गोपिन की पदवी अगम निगम निहारत जाहि
पद रज विधि से जांच ही कौन लहै फिर ताहि।[2]

राधा इस मणि माला का श्रेष्ठ रत्न है। 'प्रिय का स्पर्श तथा रस इन्हीं को मिला है। वह अनुराग की मजरी राधा के नख शिख पर फैलती फूलती है। उनका मुख प्रिय रस के सुख का सदन है। वह आनद का घन राधा के आस पास घुमड़ता रहता है।

पिय को परस रसतें ही पायौ।
सुनि राधे अनुराग मजरी उरजनि बीच दुरायौ।
इनकी फूल फंउ परी नखसिख डहडहौ मुख सुख सदन सुहायौ
ब्रज मोहन आनंद घन रीझनि घमडि घमडि रमडि रमडि सरसायौ[3]

मधुरस के प्रसग में राधा के १६ गुण माने जाते हैं। माधुर्य, नववय, उज्वलस्मित, सौभाग्य, गन्धाढ्यता, सगीतविज्ञता, रमड़ीय तथा नर्महास्य में प्रवीणता, विनय, करुणा, वैदग्ध्य, पाटव, लज्जा, मर्यादा, धैर्य, गभीरता, विलास, महाभाव, गोकुल प्रेम, सखी प्रणय, आदि।

आनद घन पदावली में प्राय' इन सभी के दर्शन होते हैं। जैसे—

१—आ० घ० पदा० १६२

२—प्रेमपद्धति १७।

३—आ० घ० पदा० ५३४।

माधुर्य

'तेरे री मुख की ज्योति आगे कोटिक सरद चंद मंद लागे।
लसत हसनि दसननि की मयूखनि दमकि नंदकिसोर
चकोर नैना नव चैन पियूषनि पागै[1]

लज्जा

सकुचनि सोहै निहारि न सकियै।
लालन सनमुख है बड़भागिनि गुरजन डाँट निसकियै
ओट भएँ मुरझानि होत सब अंग सिथिल ह्वै थकियै।
आनंदघन रसपान करन कौं प्रान पपीहनि लगियै टक जकियै।[2]

मर्यादा

ब्रज मोहन प्यारे की मुरलिया बाजि रही।
सोवन देति न सोवति बैरिनि ऐमी टेक गही।
घर के घेर परी तरसति हौं आनि बनी सु सही[3]

धैर्य

बरजत बरजत अँखियनि ब्रजमोहन मुख चाह्यौ
धीरज धन दे हाथ परायें बिरहा बिपहि बिसाह्यौ[4]

विलास

हँसि हँसि करैं बातें रंगीले दोऊ मदमाते
गौर स्याम अभिराम अंग अँग हिय उमग बाढ़ी गाढ़ी
अति सरस परस ललचाते।
नई तरुनई की ओप भई मुख सुख समोह पुलकाते
रीझि चौप आनदघन बरसत मिलत हार करि हाते[5]

१—वही ६६७।
२—प्रा० प० १०८
३—वही २१६
४—वही ३३०
५—वही ३६८

महाभाव

भावती बतियनि लगि लगि छतियनि लाग निपट रस बसे रसाल ।
जोवन रूप अनग रग राते मदमाते करत रंगीले ख्याल ।
छैल छबीले राधा मोहन प्रेम पगे जगमगे लाल ।
आनद घन रस भीजे रीझे विलसत हुलसत बाढति चौंप विसाल ।[1]

नवयव

जोबन मौर्‍यौ बसत फूल्यौ सरस गुराई शोभा निकसी ।
अग अंग नवरग जग मगे मुख सुख सदन चद्रिका विकसी ।
रसिया मधुप लट्टू भयौ डोलै बन बोलै सो लै सुनि पिक सी ।[2]

उज्वलस्मित

ललित हसनि दसननि की मयूखनि दमकि नदकिसोर ।
चकोर नैना नव चैन पियूषनि सौं पागै ।[3]

सौभाग्य

देखौ राधा को सुहाग याके सरोवर पर अनुराग ।
कान्ह कंत बसत मूरति नित याके बस बड भाग ।
विहारन कौं वृंदावन बाग ।
याकी रूप निकाई विधना याहि बनाई याके गुन ।
मुरली मैं गावत पूरत विविध रागिनी राग ।
याहि परसि सरसत आनंद घन पगे परम पग पाग ।[4]

गंधाढ्यता

अति सुगध मलयज घनसार ।
मिलाइ कुसम जल सौं छिरकाय उसीर सदन बैठे मदन ।
मोहन सग लै राधा प्राननि प्यारी रति रगनि ।[5]

१—वही २०६
२—वही
३—वही ६६७
४—वही ६७२
५—वही ७६४

संगीत विज्ञता

सकल कला प्रवीन वृषभान नदिनी रस रास नाचै ।
गडल मधि लटकि कटकि नाचत पिय प्यारी ।
चौंप चुहल मचि सचि सुकरि अलाप चारी ।
विरल राग रूप रचत स्रवन मोदकारी ।[1]

सखी प्रणय

जैमन करिया कान देख सेई करिवो प्रान सखी विसाखा
विनती मनै धरिबा
वसी की धुनि सुनि सुनि आछे विकार मदन अनल जाला अतरझार
स्यामे रम रम कथा वूजिते ना पारी आनदघन व्रजमोहन विहारी ।
(आ० प० ६५०)

इस प्रकार श्री कृष्ण और गोपिकाएँ, जिनमें विशेष रूप से राधा है, मधुर रस का आलंबन है । ये ही आश्रय भी हैं ।

व्रजागनाओं को मधुर रस के प्रसंग से हरि वल्लभा भी कहा जाता है । इनके भेदो के स्वरूप भी आनद घन की रचनाओं मे मिलते हैं ।

हरि वल्लभाओं के भेद

हरिवल्लभायें प्रथमतः दो प्रकार की हैं । स्वकीया तथा परकीया । 'रुक्मिणी सत्यभामा आदि द्वारिकाकी पाणि-गृहीत पत्नियाँ तथा श्री कृष्ण में पति भावना रखने वाली कुछ व्रजागनायें स्वकोया है । लौकिक स्वोकीया-नायिकाओं की तरह इनमें प्रेम शैथिल्य नहीं रहता। परकीया की अपेक्षा न्यून अवश्य होता है । शेष व्रजागनाएँ परकीया हैं । इनमें भी तीन भेद हैं ।—

१—साधन परा
२—देवी
३—नित्य प्रिया

साधन परा व्रजागनाओं में यौथिकी अयौथिकी दो भेद हैं । जो कृष्ण को सामूहिक रूप से भजती हैं वे यौथिकी हैं ।

गोपी वल्लभी पद्म पुराण के अनुसार मुनियों तथा उपनिषदों के अवतार हैं । ये मिल कर ही भगवान के मधुर रस का आस्वादन करती हैं ।

१—वही ६६५, ४०६,

अतः यौथिकी हैं। अयौथिकी एकाकिनी होकर रस। स्वाद लेती हैं। घनानद जी ने व्रजबालाओं में ही यौथिकी अयौथिकी दोनों प्रकार की दिखाई हैं। रास होरी दान लीला आदि में यौथिकी हैं। अन्यत्र पनघट गोदोहन आदि मे अयौथिकी।

यौथिकी

मची चुहल चाचरि की नद महर के द्वारे।
आई उमहि व्रजवधू चोंपनि चतुर खिलारैं।
सुमिल सुगीतनि गावैं निपट रसीली भासनि।
मोहन मनहि घुमावैं प्रेम लपेटी गासनि।
झूमर झमक रमक सों भंवरि भरन लगी है।
खुलनि झुलनि अलकनि की मिलि मुख ज्योतिजगी है॥
आनद घन पदा० ५३०

अयौथिकी

गोकुल गा के ग्वार डगर बताइ रे हौं भूली।
बिछुरि परी सहचरिन सग तें डोलत बन बिलकाय रे॥
साझ निकट घर दूरि सावरे हियरा सोच सताइ रे।
सुनत ही झूमि आए आनद घन दीनी गैल बताइ रे॥
आ० घ० पदा० ८६४

लई कन्हैया ने हौं घेरि
खोरि साकरो माझ सझोखें आइ गयो कितहूँ तें हेरि
कौरी भरि उर धरी औचकां अकली काहि सुनाऊ टेरि
आनंद घनघुरि सरावोर ढरि पठई घर लौं निपट लयेरि
आ० घ० पदा० १६७

नित्य प्रिया

राधा चद्रावली आदि प्रमुख व्रजागनाएँ जिनमें कृष्ण के समान ही नित्य सौंदर्य, नित्य वैदग्ध्य आदि गुण विद्यमान हैं, नित्य प्रिया कहलाती हैं! इन में राधा सर्व श्रेष्ठ हैं! राधा के प्रेम, सौंदर्य सुहाग, विलास, रास, होली आदि के सैकड़ों पद कवित्त सवैये दोहे घनानंदजी ने लिखे हैं। वे राधा के

ी उपासक थे। सुजान का प्रयोग उन्होंने उत्तर काल मे राधा के लिए किया है। जैसे :—

राधा पिय प्यासनि भरी आनंदघन रसरासि।
स्याम रगमयी सगमगी राधा रही प्रकासि॥
प्रिया प्रसाद ८७

राधा के प्रेमानंद को या तो श्रीकृष्ण जान सकते हैं या स्वयं राधा।

राधा के आनद को मन मोहन मन साखि।
राधा की अभिलाप जो राधा पिय अभिलाप॥
वही ७७

देवियां

भगवान के अंश, उसी की तुष्टि के लिए जो वृज मे अवतरे वे देविया बनी। ये गोप कन्याए बन कर अंशिनी राधा की प्रिय सखिया बन गई।

इनकी सख्या तो अपरिमेय है पर मुख्य आठ ही मानी जाती हैं। सखी सप्रदाय के भावुक भक्त इन देवियों की भावना अपने में रख कर भगवान के निकट पहुँचना चाहते हैं। सखिया राधा कृष्ण के युगल रूप से तथा पृथक्-पृथक् रूप से काम जन्य रति हृदय में रखती हैं। पर अपने व्यक्तिगत सयोग की कामना नहीं करती।[1]

समझ समय रस भेद की वतियानि सुनाऊं।
भीतर की कैसे कहौं उठि वाहिर आऊं[2]॥

राधा के सुख में ही अपना सुख मानती है।

राधा रीझ अटपटी अति है
सोई मो मति की गति अति है[3]

१—उ० नी० म० पृ० २१७।
२—मनोरथ मजरी १०।
३—वृषभानपुर सुषमा वर्णन १७।

'राधा को सुख मेरो सुख है'[1]

इन में भी ललिता और विशाखा श्रेष्ठ हैं। राधा की रहस्य केलि में इनकी सेवा रहती है। सखी सम्प्रदाय के भक्त राधा-कृष्ण को प्राप्त करने के लिए इन सखियों की आराधना राधा के ही समान करते हैं। घनानदजी ने बहुगुनी को भी ललिता और विशाखा की कृपापात्री माना है। बहुगुनी कवि का सखी भाव का नाम है।

ललिता सखी मोहि अति मानै। राधा को हित लै पहचानै।
प्रीति विसेख विसाखा करै। बिहँसि बोलि माथे कर धरै॥[2]

अब इन सखियों के उन कार्यों का उल्लेख किया जाता है जो राधा कृष्ण के प्रीति सवर्धन के लिए वे करती हैं।

१ कृष्ण के राधा को तथा राधा के कृष्ण को गुण वर्णन करना।

कृष्ण गुण प्रख्यापन राधा से

सावरे छैल की आछी अगौट पै काम करोरिक वारियै जेहि कै।
नैसिक हेरियै मेरियै सोहैं सुएरी सुजान यों चोरियै मोहिकैं॥

राधागुण प्रख्यापन कृष्ण से

देखि जियौ न छियौ घन आनद, कौबरे अंग सुजान बधू के।
चोली चुनावट चीन्हें चुमें, चापि होत उजागर दाग उतू के।

सुहि० १४६

२—राधा कृष्ण की परस्पर आसक्ति कराना

लाल बिहारिनि कौं तहाँ रस रीतिनि ल्याऊँ।
सुखद भावती तरूप को अभिलाष पुजाऊँ

× × ×

समझि समय रस भेद की बतियानि सुनाऊँ

× × ×

परम चतुर रस रीति मैं हौं हितू कहाऊं

मनोरथ मजरी ८, १०, १९

१—प्रियाप्रसाद ४८,४९।

२—वृषभानपुर सुषमा वर्णन २६,२७।

३. अभिसार के लिए प्रेरित करना

अंजन दै री राधे न करि गहर है हा हा।
निझनक वार टरी जाति मन भावन ब्रज मोहन मिलन उमाहा

(आ० घ० पदा० ४६२)

चलि राधे वृन्दावन विहरन औसर वन्यौ है मनोरथ पुरवा।
आनद घन पिय वैन वजावत अति आरति सौं ताहि
बुलावत, लै रीझनि भीजै सुरवा।

(वही ६०१)

४. सखी का कृष्ण को समर्पण करना

ल्याइहौं मनाय करि करि •मनुहारि।
अव तुम लेहु निहोरि रसिकवर समुझ सँभारि।
जाके अग संग सुख चहियै ताकी सहियै रारि गारि।
आनंद घन तुम सुघरराय रस गखियै विचारि।

(आ० घ० पदा० ५१२)

५. मधुर परिहास

उकति जुकति रस भरी टठाऊँ। भाग भरी को हरप वढ़ाऊँ॥
चंद कवित्तनि रटौं चटक सौं। कहीं प्रेम रस रंग अटक सौं।

(वृपभानपुर सुपमा वर्णन १८, १९)

६. वेप भूपा वनाना

पुहुप पुज वीनत रंगभीनी। माला रचति गास गहि झीनी॥
सुहृद सखी सिंगारनि सजै। अधिक प्रान से राधे भजै॥

(भावनाप्रकाश ७०, ७१)

७. दोनों के हृदय रहस्यों को चतुराई से प्रकट करना

रीझनि विवस होत जव जानौं। तव वहुगुनी·कला उर आनौं॥
दुरी वात हू उघरि परै जव। सो सुख कह्यौ परतन कछू तव।

(वृप० सु० वर्णन २१, २२)

८. श्री कृष्ण अथवा राधा के रहस्यों पर पर्दा डालना

विसाखा कृष्ण को गोपी वेष में झुलाने लाई है। इस गुप्त रहस्य की ओर व्यग्य करता हुई सखी से राधा कहती हैं।

को है जू विसाखा यह पाहुनी तिहारी।
सावरे बरन मन हरति लजौंही बानि ऐसी लगति कहूँ कबहूँ निहारी
मेरे मन भावति है झूले तो झुलाऊँ याहि हौं तो याकी ऊठ की परख-
पचिहारी (आ० घ० ७१९)

९. शिक्षण देना

राधे सुजान इतै चित दै हित मैं कित कीजति मान मरोर है।
माखन तें मन कोंवरो है यह बानि न जानति कैसे कठोर है।
सावरे सौं मिलि सोहत जैसी कहा कहियै कहिबे को न जोर है।
तेरो पपीहा जु है घन आनंद है ब्रजचद सु तेरो चकोर है॥
(सुहि० ३७२)

१०. व्यजनादि की सेवा करना

राधा मदन गुपाल की हौं सेज बनाऊ।
दूध फेन फीको करै वर वसन बिछाऊ।
बासती नव कुसुम रुचि रुचिहि रचाऊं।
नव पराग भरि भाव सों तिन पर बगराऊ।
(मनोरथमंजरी १, ३)

राधा पिय पे बिजना ढोरों। स्रमजल सुखऊं मनरस बोरों।
(प्रि० प्रसाद १९)

११. प्रेम सदेशा पहुँचाना

कहियै कहा हरि हिय की आरति जु कछू बढ़ी राधे तकि तोहि।
रूप नवेली निहारि लेहि नैंक जिन अखियनि आई ठनहिं जोहि॥
आनद घन अभिलाष सजल दृग हा हा कहि पठई टोहि
(आ० पदा० ६२०)

इस प्रकार मधुर रस में भगवान श्री कृष्ण, राधा, व्रजागनाए तथा सखियाँ आलम्बन और आश्रय बनते हैं। चैतन्य सम्प्रदाय के अनुयायी

इस रस का सर्वोत्कृष्ट परिपाक उपपतिरति में ही मानते हैं। साहित्यिकों ने भी शृंगार रस की उत्कृष्टता उपपति भाव में ही मानी है।

उद्दीपन विभाव

इस रस के पाच प्रकार के उद्दीपन विभाव होते हैं।

१ गुण—मानस जैसे शील। वाचिक जैसे मधुर सरस भाषण। कायिक जैसे वय, रूप, लावण्य, सौन्दर्य, माधुर्य, मार्दव आदि।

२ चरित—रास, वेणुवादन, गोदोहन, पर्वतोद्धार आदि

३ मडन—वेष-भूषा, वस्त्रालकार आदि।

४ संनिहित—मोरपिच्छ, गुजा, लकुट, वेणु, गोवर्धन, यमुना आदि

५ तटस्थ—चद्रिका, मेघ, शरद, वसंत, आदि

घनानद जी ने सभी उद्दीपन विभावो का अनेक वार चित्रण किया है। रूप का आनदघन पदावली २०६ में, लावण्य का वही २३६ मे, माधुर्य का सुजानहित २८ में, मार्दव का आ० पदावली ८६८ में वर्णन है। वेष भूषा के लिए आ० पदावली २०१, ५७१, ७५०, देखने चाहिएँ। सनिहित पदार्थ जैसे मयूर पिच्छ आ० पदावली १२६ में, गौ—आ० पदा० ७४०, ७५३ मे, वेणु पदा० ५०६ आदि में, गोवर्धन वही ८५३ मे, यमुना वही १३८, ८२३, आदि में वर्णित है। तटस्थ में चन्द्रिका पावस, शरद, वसंत फाग, हिडोल, आदि पर अनेको पद हैं जो विषय विभाजन के वर्णन में दिखा दिए गए हैं।

अनुभाव और व्यभिचारी भाव शृंगार के ही इसमे मान्य हैं। व्यभिचारियों में उग्रता तथा आलस्य का ग्रहण नहीं है। घनानद जी ने आलंबन तथा उद्दीपन विभाव और स्थायीभाव का ही विस्तार के साथ वर्णन किया है। उसमे भी स्थायी भाव के अनेकानेक भेद अनुभूति के आधार पर दिखाना उनकी विशेषता है।

मधुर रस का सयोग—

आनंदघन जी ने भक्ति रस के प्रसंग से संयोग और वियोग दोनों का ही समान रूप से वर्णन किया है। इतना अंतर कवि ने अवश्य रक्खा है कि कवित्त-सवैयो मे सयोग नहीं के बराबर है। वहा विरह ही अधिक है।

गीतों और निबंधों में दोनों का समान रूप से वर्णन किया है। वियोग का स्वरूप उभयत्र समान ही है अतः यहाँ केवल सयोग का परिचय देना उचित है। प्रियाप्रिय-समागम, रति, वनविहार, जल केलि, फाग, गोदोहन, पनघट आदि लीलाओं में सयोग पक्ष का वर्णन हुआ है। सखी भाव की उपासना के कारण सयोग का खुलकर वर्णन किया गया है। 'प्यारी के घर प्रिय आने वाले हैं। इस समय सयोगिनी अत्यधिक प्रसन्न है। सौन्दर्य के रग अग में नहीं समाते। प्रिय के साथ अनेक प्रकार से रास किया है। श्रम में डूबे दोनों एक दूसरे को हित प्रदर्शन करते हैं। आनद के बादल घमडे रहते हैं और प्रीति अधिक से अधिक सरस होती जाती है।[१]

राधा माधव वन में विहार करते हैं। दोनो मन मे फूले फूले यमुना की हरी भरी कछारों में घूमते हैं। शरीर मे नवीन तारुण्य है और काम-केलि के रस में पगे हैं।[२]

राधा अपनी सखी से कहती हैं :—

हे सखि, प्रिय स्वय जागता है और मुझे भी जगाए रखता है। इसके हृदय की बात जानी नहीं जाती। टकटकी लगा कर देखता है। मैं लज्जित हो जाती हूँ। इसी प्रकार प्रभात हो जाता है। आनद की यह अवस्था कही नहीं जाती। सुख के घनों का आना जाना बना ही रहता है।[३]

इनके सयोग की यह विशेषता है कि उसमें भोग का परिणाम अवसाद कहीं नही दिखाया गया। आलस्य सचारी भाव मधुर रस में स्वीकारा ही नहीं गया। प्रिय मिलन में प्रेम की तृष्णा और अधिक उद्दीप्त होती रहती है। इसलिए कभी सतोप नहीं होता। सयोग में वियोग की लालसा बनी ही रहती है।

घन आनद मीत सुजान मिलें बसि वीच तऊ मति मोहतु है।
यह कैसो सजोग न सूझि परै जु वियोग न क्यों हूँ विछोहतु है।[४]

१—आ० पदा० २८
२—वही
३—वही ११०
४—सुहि० १०४

दूसरी ओर वियोग में भी राधा की दृष्टि श्री कृष्णमय हो जाने से सर्वत्र सयोग रहता है।

> ब्रज मोहन में ह्वै रह्यौ, देखत विरहीं लोग।
> याते कछु कहत न बनै, अचिरज विरह सजोग।[१]

राधा को तो भावना के बल से ऐसा अनुभव होता है कि वह सदा श्रीकृष्ण के ही घर है। पर लोग बाहर ही समझते हैं। प्रेम की रीति विपरीति होती है। इस प्रकार घनानंद जी द्वारा वर्णन किए गए प्रेम में सयोग वियोग का समिश्रण सदा बना रहता है।

ब्रज में प्रेम के बादल सदा बिजली की लपटो के साथ ही वर्षा करते हैं।

> मिलैं चटपटी विरह की बिछुरे मिलन विनोद।
> लपट लपेट्यौ बरसई ब्रज में प्रेम पयोद॥[२]

लीलाओ में फाग का वर्णन सबसे अधिक पदो में किया गया है। दान-लीला के लिए 'दान घटा' नाम का एक छोटा प्रबंध ही सवैयों में लिखा है।

सखी राधा को समति देती है कि मन के समस्त सकोचों को निकाल कर बेधड़क श्रीकृष्ण से होली खेलो। आँखो मे उनके अजन लगाओ, मुँह पर रोली मलो, हँस कर गल-बाही डालो। बिलब करने का यह समय नहीं है। हे राधे! श्रीकृष्ण तमाल वृक्ष के समान हैं और तू सुहाग की वल्लरी है। प्रिय को रिझा कर भिजाओ और रस लो।[३]

'गोकुल विनोद' प्रबध में जल विहार का चित्रण विस्तार और सरसता के साथ किया है। कमल खडों मे श्री कृष्ण नौका ले जाते हैं। जल में दोनों एक दूसरे पर जल छिड़कते हैं। आखो में पानी मारते हैं। राधा के भीने वस्त्र शरीर से लिपट जाते हैं। श्री कृष्ण कभी डुबकी लगा कर दूर तक निकल जाते हैं। किनारे आकर खडे होते हैं तो उनका निखरा रूप मन को मोहित करता है।[४]

१—व्रज विलास ३८

२—वही ५०

३—आ० पदा० ९७९

४—गोकुल विनोद ४२, ५०

स्वकीया रति

यह दो टूक निर्णय करना कि घनानद जी ने राधाकृष्ण के प्रेम में स्वकीयारति का वर्णन किया है या परकीया का, कठिन है। फिर भी कुछ विशेषण राधा के या नायिका के ऐसे मिलते हैं जिनके सहारे प्रस्तुत विषय पर कुछ कहा जा सकता है। पहले स्वकीया भाव के पोषक विशेषण देखें। हेमन्त ऋतु का सेवन करते हुए राधाकृष्ण को एक पद में दपति (जाया पति) अर्थात् पति पत्नी कहा है। पर उसी पद्य मे रस केलि का जिस ढंग से वर्णन किया है वह परकीया रति ही लगती है। हेमन्त-विलास का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि वे दम्पति सकेत द्वारा निश्चित किए हुए स्थान पर पर्व कदराओं में मदिर बनाते हैं जो कि पत्तों के कारण मखतूल तथा रुई से भी अधिक कोमल हो गया है। रसिकराय श्रीकृष्ण ने राधा के लिए शय्या बनाई है। पीत वस्त्र विछाकर उस पर प्राण प्रिया को विठाया है इत्यादि।[1] पति पत्नी का प्रेम पारिवारिक होता है उसका क्षेत्र गृह है पर्वत कदराओं में परकीया रति की ही अनुकूलता हो सकती है।

दूसरे एक पद्य में श्रीकृष्ण को 'दुलहा' और 'बना' तथा राधा को 'बनी' (वरणी) कहा है।

नवल बना री नवेली बनी राधा को।
ब्रजमोहन नीको नाव रसीलो भागभरे दुलहा को।
जमुना तीर स घन.... ....[2]

पर इसी पद में आगे कहा गया है कि वे जमुना के तीर पर पुष्पमडित मंडप में नित्य भाँवरे फिरते हैं।

जमुना तीर सघन वृन्दावन मंडित मडप सुमन सदा को'
'आनद घनहित घमडि भाँवरे करत रहत धनि धनि सुहाग याको'

इस से स्पष्ट है कि 'दुलहा' बनी आदि विशेपण विवाह समय के परस्पर के प्रेमातिशय तथा शोभातिशय की व्यजना के लिए प्रयुक्त हैं। वे पति पत्नी भाव के प्रदर्शन लिए नहीं।

१—हिमरितु दंपति अति सुखदाई
गिरिकदरनि रचावत मदिर लखि निज सकेत ठौर ठहराई
नवमखतूल तूल तें कोमल दल कल कल अनुकूल महाई।
रमिकराय रसनिधि राधा हित रचि पचि सुन्दर सेज बनाई। पदावली ४७२

२—आ० प० ५७७

तीसरे एक और पद्य में राधा कृष्ण के लिए कंत और कामिनी विशेषणों का प्रयोग हुआ है। 'कंत और कामिनी राधा कृष्ण के लिए नित्य वसंत बना रहता है[1]।' दूसरे एक पद में वियोगिनी नायिका अपने पति को 'बालम' कह कर सम्बोधित करती है।[2] 'सरस बसंत' निबंध में राधा माधव को 'कामिनिकेत' कहा है।[3]

ये विशेषण साधारण व्यवहार में 'पति पत्नियों' के लिए ही प्रयुक्त होते हैं। अतः अनुमित्सा होती है कि स्यात घनआनंद जी का तात्पर्य भी स्वकीया रति का रहा होगा। पर दूसरे प्रमाणों से उपर्युक्त अनुमान ठीक नहीं बैठता।

परकीया रति

परकीया भाव के पोषक अनेकों प्रमाण मिलते हैं। 'प्रेम पद्धति' निबंध की एक पंक्ति में राधा को 'गोपी नट गुपाल की प्रिया'[4] बताया है। 'नाम माधुरी' में 'कमनीय कुमारी'[5] कहा है। उसी की दूसरी एक पंक्ति में 'अभिसार प्रपन्ना'[6] विशेषण आया है। कृष्ण कौमुदी' में श्रीकृष्ण को 'राधा सखा[7]' कहा गया है।

इसके अतिरिक्त राधा का अभिसार, वन विहार, प्रच्छन्न रति आदि अनेकत्र वर्णित हैं। इनसे उनके परकीयात्व का ही अनुमान होता है। अभिसार, जैसे—

> अंजन दे री राधे न करि गहर हे हाहा।
> निझनक बार टरी जाति मन भावन ब्रज मोहन मिलन उमाहा।
> चलि राधे वृन्दावन विहरन औसर बन्यौ है मनोरथ पुरवा।
> आनदघन पिय बैन बजावत अति आरति सौं तोहि बुलावत
> लै रीझनि भीजे सुरवा।[8]

१—आ० घ० पदा० ५३१

२—सुरति सँवरी लेहु बिसामी बालम जियरा अति अकुलाय, आ० प० ५५३

३—राधा माधव कामिन कंत——सरस बसंत २१

४—प्रे० प० २३

५—कमनीय कुमारी श्री राधा, नाम माधुरी ३६

६—अभिसार प्रपन्ना श्री राधा, वही ४१

७—राधा को विपुल धन राधासखा सरूप——कृ० कौ० २०

८—आनंदघन पदावली ६७१

परकीया चित्रण बार बार पदों, और कवित्त-सवैयों में किया गया है। प्रेम की सयोग तथा वियोग काल की 'चोंप', वियोग की व्याकुलता उपालभ तथा प्रिय की अनेकों से स्नेह कर किसी को न निभाने की कठोरता आदि भाव परकीया रति की ओर ही सकेत करते हैं। किसी गोपी का प्रणय क्रोध है कि मुझे अकेले में कृष्ण ने घेर लिया। वह मेरे घर में आ गया और मनमानी करके ही छोड़ा। दूसरी कोई दधि वेचती हुई कृष्ण का अभिप्राय समझकर उन्हें लज्जित करना चाहती है।

१ लई कन्हैया ने हौं घेरि
खोरि साँकरी माझ सझोखे आइ गयौ कितहू तें हेरि।
कौरी भरी डर धरी औचका अकेली काहि सुनाऊं टेरि।
आनदघन धुरि सराबोर जरि पठई घर लौं निपट लथेरि।

(आ० पद्या० १६७)

× × ×

२ गो रस जो चाहौ तो दीजिए जो रस चाहे सो व
दियौ क्यों जाइ :
देखि विरानी धरोहरि पै मन ललचावैं ऐसो ढीठ न
काहू सकाय

(वही ८१६)

× × ×

वास्तव में हरिदासी सम्प्रदाय श्री चैतन्य मत से प्रभावित है। आनदघन जी ने चैतन्य महाप्रभु की स्तुति में भी एक पद लिखा है। ये उनके मत से प्रभावित हुए हों—यह बहुत सभव है। कीर्तन के पद तथा प्रबध लिखना भी इसी ओर सकेत करता है। चैतन्य सप्रदाय में परकीया भाव की ही उपासना होती है। अतः घनानद जी का यही अभिप्रेत रहा होगा।

पति पत्नी भाव के सूचक विशेषण—प्रेमातिशय के व्यजक मात्र ही समझने चाहिए स्वकीया के अभिप्राय से प्रयुक्त नहीं प्रतीत होते। अतः भक्ति में घनानन्द जी ने परकीया भाव माना है—यही प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है।

भगवत्कृपा

भगवत्कृपा का भक्ति संप्रदाय में बड़ा महत्त्व है। ऐसा कोई संप्रदाय नहीं जिसमे इसके बिना भगवत्प्राप्ति सभव हो। वल्लभ सप्रदाय का तो यह मुख्य आधार है। वहाँ इसका नाम 'पुष्टि' है। मधुरा भक्ति के भक्तो के लिए भी यह तत्व उतना ही आवश्यक मान्य है जितना अन्य भक्तो का। सखी सप्रदाय के प्रवर्तक स्वामी हरिदास जी कहते हैं—'हे विहारिणी जी ? किसी का वश नहीं चलता। तुम्हारी कृपा से कुछ बनता है।'[१] श्री ललित किशोरीजी की आस्था इससे भी बढ कर है। वे कहते हैं "हरि हमारे सदा सहायक रहते हैं। हमें जो जो अच्छा लगता है वही वही वे करते हैं। हर्ष और उत्साह बढाकर जीवन सुखदाई बनाते हैं। वे हँस हँस कर कठ लगाते हैं।[२]

घनानद जी ने कृपा विषय को लेकर पूरे एक निबध 'कृपा कद निबध' की रचना की है। कवि की धारणा है कि भगवत्कृपा हो तो और सब साधन व्यर्थ है। धर्म कर्म सब दूर रहें। हानि लाभ का भी कोई डर नहीं। लोक परलोक को हम छूना भी नहीं चाहते। क्षीर सिंधु मे स्नान करनेवाले को तलैया क्या अच्छी लगेगी ? भक्त को तो कृपा के आनदघन ही सदा फिरते रहे। कार्याभिमानी भले ही सोच में सूख जाय पर कृपा की ओर देखने वाला किसी दूसरी ओर नहीं देखता।[3]

इसके बिना भगवान का अनुकूल होना असंभव है। उन मूर्खों का हठ व्यर्थ है, वे यों ही मन तरसाते हैं जो अन्य साधनो की खोज मे रहते हैं।

१—काहू की बस नाहि तुम्हारी कृपा ते सब होय बिहारिनि

हरिदास—निम्बार्क माधुरी पृ० २०२

२—हमारे हरि हैं सदा सहाई, जोइ जोइ रुचै करैं पुनि सोई पोषन मन भाई।
हरष हरष अनुराग बढावन जीवनि अति सुखदाई।
श्री हरिदासी ललित किशोरी हँसि हँसि कठ लगाई।

ललित किशोरी—निम्बार्क मा० पृ० ३३६

३—कृपाकद—पद २

उनके (अन्य साधनों के) पैर छूने से स्याम सुजान वश में नहीं होते हैं। उस आनद की कृपा बरसी कि ऊसर भी सर बन जाता है।[1]

भगवत्कृपा इतनी गुर्वी है कि प्राणी उसको सम्हाल भी नहीं पाता। घनानद जी अनुभव करते हैं कि चित्त रूपी चातक की चोंच में कृपा के आनदघन समा नहीं सकते। बुद्धि के टूटे फटे वस्त्र में यह रत्नाकर का दान कैसे समा सकता है। पर धारण करने की सामर्थ कृपा ही देगी यह विश्वास है। नदी का प्रवाह बढता है तो वह अपने किनारे स्वय बढा लेता है।[2] कृपा में कृपालु परमेश्वर विराजमान रहते हैं। अतः कृपा की प्राप्ति का अर्थ भगवान की प्राप्ति है।[3] कृपा के अतिरिक्त भगवान के अन्य कोई गुण भक्त के काम नहीं आते। केवल कृपा ही उसका हित करने को सदा उद्यत रहती है। भगवान् का दानीपन मागने पर अनुकूल होता है। दीनबधुता दीन बनने से काम आती है।[4] पर कृपा सर्वदा सबको प्राप्त रहती है। जल थल सब जगह वह मिलती है। उसके भरोसे विषम भी सम दिखाई देता है। गुणी हो चाहे निर्गुण वह सबके लिए समान है।[5]

भक्ति क्षेत्र में ही नहीं दैनिक जीवन में भी भगवत्कृपा के बिना काम नहीं चल सकता। जो श्वास बाहर आता है वह फिर भीतर वापिस जायगा इसका विश्वास भगवत्कृपा के बल पर ही है। बरुनी खुल कर फिर बद हो

१—क्यौं हठ कै सठ साधन सोधत होत कहा मन यौं तरसैं ते।
हाथ चढै जिहि स्याम सुजान कहू तिहि पाइन रे परसैं ते।
नीरस मानस है रसरासि विराजत नैभिक जा सरसैं ते।
ऊसर हु सर होत लखै घन आनद रूप कृपा बरसैं ते।

कृ० क० १०

\+ \+ \+

२—चातिक चित्त कृपा घन आनद चौंच की खौंच सु क्यौं करि धारौं।
त्यौं रत्नाकर दान समै बुधि जीरन चीर कहा लै पसारौं।
पै गुन ताके अनेक लखौ निहचै उर आनि कै एक बिचारौं।
कूल बढाय प्रवाह बढै यौं कृपा बल पाय कृपाहि सम्हारौं

आ० कृ० कद १७

३—कृपा चद्रिका में नद नंदन मयक है, वही १८।
४—वही १९ कृपा कद।
५—वही २२।

जायगी यह कौन जाने ? सारा जीवन एक अवसर मात्र है। प्रयत्न सब व्यर्थ हैं। सिद्धि भगवत्कृपा के बिना नहीं होती।[१]

कृपा प्राप्ति के लिए भक्त मे दो गुणों की अपेक्षा होती है। दैन्य की अनुभूति और कृपा पर भरोसा। घनानंद जी में दोनों गुण प्राप्त होते हैं। इन्होंने अपने जीवन में प्रयत्नो की घुड़ दौड़ पर्याप्त की थी। जब किसी से काम नहीं बना तो भगवान के द्वार पर पहुँचे। अत दैन्य का भाव कवि का स्वानुभूति है, इसलिए बड़ा मार्मिक और निश्छल है। वे स्पष्ट कहते हैं।

दौर दौरि थाक्यौ पे थके न जद्द दौरनि ते।
गति भूले मन की न दुरी कछु तो तेरे।

अत. अंतिम उपाय यह किया —

द्वारे न जाइ हौ जू जन के जगदीश विहारियै पौरि परयौ हौं।
आस की पास ही काटि कृपा बल पूरन पंज भरोसे भरयौ हौं॥

कृपा की सरक्षकता में इनका विश्वास भी बड़ा अटिग है। वे कहते हैं कि हे भगवान् जहा तहा भाग भाग कर भक्तो का भला युगो मे करते रहे हो, भक्तो को अपनाने के अपने प्रण को प्राणो के समान पालते रहे हो।[२]

भक्ति सम्प्रदाय में भगवत्कृपा का फल भगवत्प्रेम की प्राप्ति द्वारा भगवत्प्राप्ति होता है। घनानंद जी ने पदो मे कृपा का यह रूप स्पष्ट किया है। वह भगवान से ही भगवान को प्राप्त कर सकते हैं। उनकी कृपा न होगी तो बुद्धि की लीला का पार नहीं मिल सकता। कृपा ही भक्त का हाथ पकड़ कर भगवान के चरणो मे डालती है।

प्रान अधार सदा के सगी तुमही ते तुमको पाइहौ।

१—चलि जात उसास जो ऊरध कों अब आवन आस विसास नहीं।
गति आँसुन की अति ढीमि परी बरुनी जुलि फेरि मिलै कि नहीं।
यहि बीच विचारियै जीवन लौं मरियै तिहि साधन सोच नहीं।
घन आनद बात ठगी बन है अब यौं नवही करतूति नहीं।
कृपा कंद २८

२—आ० कृपा कन्द ५५।

तथा—

लीला कौ मरम न जान्यौ जाइ।
कैसे कै करियै उपासना समुझत मति बौराइ॥
एक कृपाई गुन उर आएँ रचक ठिक ठहराइ।
वे आनद घन की सुधि आवै सहजै दरसै आइ॥[1]

जीवन मुक्त भक्त की अनुभूतियां—

घनानद जी ने भक्ति की उस दशा का चित्र दिया है जब वह परमेश्वर की पूर्ण अनुभूति कर लेता हैं। अपने भावनालोक में विचरता हुआ ही वह अपना अधिक समय व्यतीत करता है और ससार से सर्वथा उदासीन बन जाता है। दार्शनिकों ने इस स्थिति को "जीवन्मुक्त" अवस्था माना है। ज्ञान मार्ग की चरम दशा का आभास गीता में दिया गया है कि ब्रह्म के साक्षात्कार हो जाने पर हृदय की सब ग्रथियाँ खुल जाती हैं। समस्त सशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और कर्मों के सस्कार भी क्षीण हो जाते हैं।[2] भक्ति का मार्ग स्नेहार्द्र होने से इससे भिन्न होता है। उसमें प्रिय की अनुभूति का आनद हृदय को विभोर किए रहता है। सशयादि का उधर कोई प्रश्न नहीं उठता।

घनानद जी ने कहीं तो उस स्थिति तक पहुँचने का अभिलाष व्यक्त किया है और कहीं उसकी अनुभूति व्यक्त की है। इस भेद को या तो काल क्रम से माना जा सकता है, या भक्त के सौजन्य की झलक इसमें है कि वह उसका अनुभव करता हुआ भी उसकी आशा करता है। दोनों भाव दशाएँ कवि की स्वानुभूति हैं। घनानद जी के विषय में किवदन्ती प्रसिद्ध है कि—वे वृन्दावन की गलियों तथा यमुना के किनारों पर उन्मत्त की तरह घूमा करते थे। उनकी यह अवस्था हो गई थी कि हृदय कृष्ण के वियोग-सयोग से भरा रहता था। नेत्रों से आसुओं की धारा ज्यों ज्यों बहती थी त्यों त्यों नवीन आह्लाद ज्योति का उदय होता था। प्रेमोपालभों से

१—आनद घन पदावली ४६१-४८४।

२—भिद्यते हृदयग्रन्थि श्छिद्यन्ते सर्व सशया।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।

हृदय घी जैसा बन जाता था।[1] जब उन्हें परमेश्वर का दर्शन हुआ तो शरीर और हृदय में शीतलता बढ गई। जन्म जन्म के दुख मिट गए। जगमोहन व्रजमोहन होकर मिले।[2] ऐसी अवस्था मे घनानद जी किसी प्रकार की बाधा का अनुभव नहीं करते। सब सिद्धियाँ उन्हें मिल चुकी हैं। रोम रोम मे हर्ष छा गया है। इस सम्पत्ति का कैसे वर्णन किया जाय।[3]

ज्ञान और प्रेम की अतिम दशा एक सी होती है। प्रेमानुभूति मे भी अज्ञानान्धकार का विनाश हो जाता है। आनदानुभूति इधर विशेष होती है। घनानद जी ने निम्नलिखित दोहे में इसी अवस्था का आभास दिया है—

प्रकटी अनुभवचद्रिका भ्रम तम गयौ विलाय
घन मदन की कृपा से रह्यौ मोद घन छाय।

अनुभव चद्रिका ५४

प्रेम के उद्‌गार, उन्माद और आत्म विस्मृति का स्थान स्थान पर सकेत मिलता है। 'यमुना यश' मे कवि ने लिखा है कि—"मै यमुना के किनारे फूला फूला फिरता हू। उसकी तरगों को देख देख कर मुग्ध होता हूँ।[4] 'भावना प्रकाश' मे लिखा है कि जब गुरु के प्रसाद से हृदय में प्रेम का आवेश उमडता है तो यमुना रज का स्पर्श करने से लीला स्वरूप के साक्षात्कार होने

१—को पावै ये भेद जो गावै मेरो वैरागी जियरा
व्रजमोहन के वियोग सयोग भरौ है हियरा
असुवनि जल सौं अधिक जगति जोति परे व्रनि होत सनौ घियरा।
आ० घ० पदावली ३८१

२—मोहि मेरे अतरजामी भेटे
तन मन सुख शीतला बाढी जन्म जन्म दुख मेटे।
जग मोहन पै व्रज मोहन है कृपा कद परि फेंटे। पदावली ३७६

३—अब कछु बाधा नाहि रही
मदन गुपाल मिले सुखदायक साधा सबै लही
रोम रोम अति हरष भयौ है जीवन सफल सही
आनदघन या रस की सम्पति कैसे परत कही
आ० घ० पदावली ८६,

४—यमुना यश २७

लगते हैं। चारों ओर चकित होकर देखता हूँ और राधा कृष्ण का हृदय में ध्यान करता हूँ तो राधाकृष्ण प्रकट रुप में दिखाई देते हैं। सुधि भूलकर उन्मत्त की भाँति घूमता फिरता हूँ। मन श्री कृष्ण के प्रेमावर्त में घूमता रहता है। ऐसी दशा मेरी हो गई है।'[1] क्षण क्षण में उनके हृदय में भाव तरगें उठती हैं। महामधुर रस के पान से तृप्त रहते हैं। विह्वल दशा में शरीर रोमाञ्चित हो जाता है। घूमते हुए वन वीथियों में डोलते हैं। मौन धारण किए मन ही मन कुछ बोलते हैं। प्रेम के रग से मुख पर एक विलक्षण आभा चमकने लगती है। हृदय में हलकी सी स्नेह पीड़ा कसकती रहती है। अन्य सब ओर से उदासीनता छा जाती है। प्रभात-सध्या का भी भान उन्हें नहीं रहता। 'हे कृष्ण' 'हे राधे' की पुकार लगाते रहते हैं। व्रज वन के स्थान स्थान को देखकर हृदय मुग्ध होता है। तरु वेलों में राधा कृष्ण के दर्शन करते हैं। यमुना के किनारे मुँह धोते हुए कभी हँसते हैं कभी रोते हैं। इस प्रकार उन्मत्त से बन कर वनों में घूमते फिरते हैं।[2]

घनानद जी के विषय में किंवदती है कि यवनो ने जब उन्हें तलवार से काटा तो ज्यौं ज्यौं तलवार शरीर पर घाव करती थी त्यौं ही त्यौं यह यमुना रज में लोटते जाते थे। स्वाभाविक स्थिति में व्रज रज में लेट लेट कर विह्वल होने की अपनी इस दशा का स्वय उन्होंने उल्लेख किया है।

बूझें मुख बोलो न आइहै। रोम रोम अभिलाष छाइहै।
व्रज रज लोटि विकल है जैहौं। बड़ी बेर तन की सुधि पइयौ।[3]

इसी प्रकार की भावना जगत की अनुभूति उन्होंने अपने वहुगुनी रूप से की है। वे अनुभव करते हैं कि श्री राधा स्वय उनसे महावर लगवाती हैं। पैर दबवाती हैं। जब वे सो जाती हैं तो बहुगुनी अपना सिर उनके पैर से स्पर्श कर लेती है। वह राधा के अन्तरग परिग्रह में है। उनके केलि मदिर में सब प्रकार के विस्रभ कार्य वह करती हैं।

१—भावना प्रकाश १८६, २०७
२—वही २०६, २१२
३—भावना प्रकाश ६८, १०४

इस विवरण से घनानद जी की भावुकता की कक्षा का परिचय भली भाँति हो जाता है। वे साधना की किस कोटि में थे यह भी स्पष्ट हो जाता है।

× × ×

घनानंद का भक्ति दर्शन

१—भगवत्प्राप्ति विना भगवान की कृपा के नहीं होती कितना ही कोई नियम, धर्म, व्रत-उपव्रत का पालन करे। भगवत्कृपा भगवान का ही रूप है। इसकी प्राप्ति प्रेम द्वारा होती है। कृपा भक्त में पात्रता का निर्माण भी स्वय कर लेती है जैसे जलाशय वढता हुआ अपने किनारो का निर्माण कर लेता है। भगवान बडे कृपालु हैं। भक्तों पर सदा कृपा बनाये रहते हैं।[1]

२—भगवान श्री कृष्ण सदा कौतुक रूप हैं। ये आनद की मूर्ति और रसिकविहारी हैं।[2] परमेश्वर सर्वत्र व्यापक है। फूल, पत्ते, लता, कुज, नदी, नद सब ही में उसका रूप झलकता है, पर भक्त उसका दर्शन जिस रूप मे करना चाहता है वह नहीं होता। इसलिए भक्त व्याकुल रहता है।

३—परमेश्वर सुख स्वरूप है अत. वह प्राणियो को सुख देता है पर उनके दुःख का अनुभव नहीं करता।[3]

४—वृदावन स्नेह का देश है, भगवान का विग्रह है। इसके प्रेम के विना भगवत्प्रेम दुर्लभ है। वृंदावन राधाकृष्ण के दर्शन के लिए आदर्श है। "राधिका दरस कौं सुदेश आदरस याहि—कहत वनै न स्याम नेन पहचानहीं[4]" इसके यथार्थ रूप को श्री कृष्ण ही जानते हैं।

> वृंदावन पाइवे की गैल को गहै न जौलौं,
> पाइहू गएतें रस पारस क्यों पाइये।

× × ×

१—आ० घ० कृपाकन्द निवध

२—प्रीति पावस प्रेम पत्रिका—ढिग है यों दुख देत दूरि ने दूरि से

प्रेम पत्रिका ११०

३—सदा सुखी सुख देत रहौ दुख पावन नाहीं : वही २१

४—प्रेम पत्रिका ३०

निगम विसूर थाके पदई परम दूरि
आनद के अंबुद को थकि थकि धाइये ।'[1]

× × ×

यह मही मडल से पृथक है । यहाँ आनद के घन सदा छाये रहते हैं—

'अद्भुत अभूत मही मडल, परे तैं परे,
जीवन को लाहौ हा हा क्यौ न ताहि लहिरे ।
आनद को घन छायो रहत निरंतर ही,
सरस सुदेस सौं पपीहापन वहिरे[2] ।'

× × ×

व्रज की धूलि में प्रेम का सार समोय कर रक्खा हुआ है ।
'प्रेम सार धर्‍यो है समोय ब्रज धूरि में'[3]

× × ×

भगवान श्री कृष्ण स्वयं जब कृपा करते हैं तभी व्रज की माधुरी का अनुभव होता है ।

कृपा करैं ब्रज नाथ जौ, व्रज दर्शन के नैन ।
या व्रज वन की माधुरी, तौ परसै उरऐन ।[4]

व्रज में भगवान का निवास है—

ब्रजमोहन ब्रज में बसै नित ब्रजमंगल रूप ।
घर बाहर व्यापक सदा मंगल चरित अनूप ।[5]

परमेश्वर रसस्वरूप है इसका अनुभव साक्षात्कार या सामीप्यलाभ प्रेमानुभूति के द्वारा ही हो सकता है । प्रेम ज्ञान का फल है। अतः उससे प्रशस्यतर है ।प्रेमोदय हो जाने से उसके प्रकाश से सारा अधकार नष्ट हो जाता है ।

१—वही ३५
२—वही ५१
३—वही ५८
४—ब्रजविलास ७
५—वही १५

भक्ति मार्ग मे गुरु कृपा का महत्वपूर्ण स्थान है। हृदय में प्रेम का आवेश गुरु कृपा से ही उत्पन्न होता है।

श्री गुरुवर प्रसाद के लेस, हिये बढ़े आवेश असेस।[1]

वृंदावन महिमा—

परमानद रूप ब्रज वन है जहाँ प्रवेश करत नहीं मन है।
परमतत्व को सार समोय, ब्रज वन रज लै राखो मोय।
ब्रज वन थिर चर को आभास, निरवधि रमनिरजासविलास।
(धामचमत्कार: ९, १०—११)

ब्रज के प्रेम को घनानद ने 'ब्रजरस' कहा है उसे भी श्रीकृष्ण प्रेम के समकक्ष माना है।

सब ते अगम अगोचर ब्रजरस, रसना कहि सकति न याको जस
(धाम च० १८)

भगवान ने इसे अपने दर्शन का दर्पण बना रक्खा है, उनका साक्षात्कार यहीं पर होता है।

ब्रज वन निज दरपन है कियौ। निरखत स्याम सिरावत हियौ॥
(धा० च० ४१)

वृंदावन श्री राधा-कृष्ण के शरीर का ही रूप है। फूल पत्तो से वह रोमाचित है। उसकी पराग की गध उनकी शरीर गध है। राधा और कृष्ण के जो विविध रंग हैं वे ही इसके दल, फल फूलों के रंग हैं। इस प्रकार धाम धामी दोनों अभिन्न हैं।

रोमाचित श्री वपु लौं रहै। पवन गमन परिमल महमहै।
जुगल अंग जे रङ्ग विराजै। तेवन दल फल फूलनि भ्राजै।
रस मय सुख मय धामी धाम (वृन्दावनमुद्रा २५, २६, २८)

हृदय के अदर परमेश्वर विराजमान है, ऐसा अनुभव भक्त करता है। उसे वह आँखो से देखना चाहता है। आनद घन पादा० २५१।

१—भावना प्रकाश ६८।

परमेश्वर सदा भक्त के साथ रहता है। भक्त परमेश्वर से अभिन्न भी है। केवल माया के कारण, जो इसी का रूप है, परमेश्वर का यथार्थ रूप आँखों से तिरोहित हो जाता है। भक्ति द्वारा उसी का साक्षात्कार किया जाता है।

अब तुम तब तुम जब तुम तुम ही तुम बिन कब हौं हौं तुम हीं।
यह दुरि ढघरनि कही कहाँ ते सीखे तुम्हैं तुम्हारी सौं।
आप बीच परि नाँव और धरि करत अटपटी बातनि कौं।
(आनद घन पदावली ६५)

———

नवाँ परिच्छेद

(दर्शन और संप्रदाय)

नवाँ परिच्छेद

दर्शन और सम्प्रदाय

१. पृष्ठ भूमि

आनदघन जी का सम्प्रदाय तथा दार्शनिक विचार पहचानने के लिए पहले हमें उन बडे बडे चार वैष्णव सम्प्रदायों का सूक्ष्म रूप जान लेना चाहिए जो वैष्णव भक्तों की विचार पद्धति को प्रभावित करते हैं। वैष्णव धर्म के विभिन्न सम्प्रदायो में आपस में अनेक रूपो में समानता होती है। अत. संत लोगों की वाणियो में थोड़ा बहुत सभी सम्प्रदायों का सत्य आ जाता है, क्योंकि ये लोग सम्प्रदाय के आचार्य न हो कर सात्विक हृदय के उपासक होते हैं। किसी विशेष विचार धारा के अत्यन्त आग्रही नहीं होते। आनदघन जी भी इसके अपवाद नहीं हैं। अतः यहा निम्बार्क, माध्व, चैतन्य, तथा वल्लभ चार सम्प्रदायों का सूक्ष्म परिचय देकर आनदघन जी के सम्प्रदाय तथा दार्शनिक विचारों का स्वरूप उपस्थित किया जाएगा।

क. निम्बार्क सम्प्रदाय

प्रवर्तक

इस सम्प्रदाय का नाम सनक सम्प्रदाय अथवा 'हस सम्प्रदाय' है। इसके आदि प्रवर्तक ब्रह्मा के पुत्र सनक माने जाते हैं। आदि आचार्य निम्बार्क हैं जिनका पहला नाम नियमानंद था। इन्होंने अपने चमत्कार से पेड़ पर भगवान विष्णु के चक्र का आवाहन कर उसे सूर्य की तरह दिखा दिया था। तब से ये 'निम्बार्क' कहे जाने लगे। इनका समय सन् ११६२ के आस पास माना जाता है। इनके बनाए हुए ग्रन्थ दो हैं। १ 'वेदान्त पारिजात सौरभ।' यह ब्रह्म सूत्रों पर लिखा भाष्य है। और २ 'दशलोकी' इसमें भक्ति के सिद्धात का सूक्ष्म रूप मे परिचय कराया गया है। 'एक दूसरी २५ श्लोकों की स्तोत्र पुस्तक भी इन्होंने लिखी है जिसका नाम 'सर्वविशेष श्रीकृष्णस्तवराज' है। ये पुस्तकें ही सम्प्रदाय का आदि स्रोत तथा आधार हैं।

मत

इस मत में ब्रह्म तथा जगत का सबंध भेदाभेद का है। जिस प्रकार गुण और गुणी तथा अवयव और अवयवी का परस्पर सबध भेद का भी है और अभेद का भी। उसी प्रकार ब्रह्म से जगत भिन्न भी कहा जा सकता है और अभिन्न भी मकड़ी का जाला तंतु मकड़ी से बाहर भी अवस्थित है और मकड़ी के भीतर भी। जगत की स्थिति ब्रह्म में है तथा ब्रह्म जगत से भिन्न भी है।

सम्प्रदाय के अनुसार मुख्य तत्व तीन हैं ब्रह्म चित् और अचित्।

ब्रह्म सर्व शक्तिमान सर्वज्ञ तथा अच्युत विभववान है। वह जगत का निमित्त तथा उपादान दोनों प्रकार का कारण आप ही है। जैसे मकड़ी अपने शरीर से आप जाला पूरती है इसी प्रकार ब्रह्म अपनी शक्ति का विक्षेप कर जगत के रूप में अपनी आत्मा को परिणत कर देता है। ब्रह्म की शक्ति तीन प्रकार की हैं, परा, जीवाख्या और मायाख्या। जीवाख्या शक्ति से चित् अर्थात् जीव की सृष्टि तथा मायाख्या शक्ति से अचित् अर्थात् जड़ जगत की सृष्टि होती है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं। उनकी पराशक्ति ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों का अधिष्ठान बनती है, ऐश्वर्याधिष्ठित पराशक्ति 'रमा' अथवा लक्ष्मी हैं और माधुर्याधिष्ठित वही शक्ति गोपी तथा राधा है, भगवान मुक्त, गम्य, योगी, ध्येय कृपालम्य तथा स्वतत्र हैं। व्रज धाम में वे नित्य अवस्थित हैं। व्रज के श्रीकृष्ण ही प्रेम और माधुर्य की अधिष्ठात्री शक्ति राधा तथा अन्य आह्लादिनी शक्ति स्वरुप गोपियों से परिवेष्ठित होकर इस सम्प्रदाय के उपास्य बनते हैं।

जीव

चित् तत्व ही जीव है जो अचित् तत्व देहादि जड़ पदार्थों से भिन्न है। वह नित्य, ज्ञाता, अणु, परिमाणु, कर्त्ता तथा नाना है। इसका प्रेरक ईश्वर है, जो अनादि माया से युक्त है। जीव तीन प्रकार के होते हैं। जड़, मुक्त तथा नित्यमुक्त। जिन जीवों का देह अथवा तत्सबधी वस्तुओं में अभिमान रहता है और जो अनादि कर्मरूपिणी अविद्या से बद्ध हैं वे जड़ जीव हैं। मुक्ति दो प्रकार की हैं—क्रममुक्ति तथा सद्योमुक्ति। जो जीव विधिपूर्वक अर्चन तथा श्रौत स्मार्त कर्मानुष्ठानों द्वारा स्वर्गादि लोकों का अनुभव कर प्रलय काल मे ब्रह्म का सायुज्यलाभ करते हैं वे क्रममुक्ति को प्राप्त करने वाले मुक्त हैं। श्रवणादि साधनों से जिनका ससार वधन टूट जाता है वे सद्योमुक्ति के उपभोक्ता मुक्तजीव हैं। सप्रदाय में यह दूसरे प्रकार की मुक्ति ही काम्य

है। क्रममुक्ति वाले जीवों को सत्नलोक मे भगवान के ऐश्वर्यादि रूप का लाभ होता है। सद्योमुक्ति में सेवानद प्रधान है। नित्यमुक्त जीव नित्यसिद्ध भी कहलाते हैं। वे सदा ससार दुख से मुक्त श्रवणादि साधनों मे तत्पर और सदा भगवदनुभावित रहते हैं।

अचित्—

अचित् तत्त्व के तीन भेद होते हैं। प्राकृत अप्राकृत और काल। प्राकृत तत्व साख्य दर्शन की प्रकृति के समकक्ष है। यह सत्व, रज, तमस् तीन गुणों का आश्रय है, इसका कारणरूप नित्य तथा कार्यरूप अनित्य है। यही प्रकृति देह, मन, इन्द्रिय, बुद्धि आदि रूप में परिणत होकर जीव का बधन बनती है। मोक्ष का यह अंतराय है। वेदातियो की माया और अविद्या के समान इसीका दूसरा भेद अप्राकृत है। यह विशुद्ध सत्वप्रधान है। प्राकृत और काल से परे हैं। यही विष्णुपद परमपद ब्रह्मलोक आदि रूपों से भगवदाश्रित मुक्त जीवों के आनदभोग के उपकरण तथा निवासादि के रूप में परिणत होती है। काल प्राकृत पदार्थों का नियामक है। उसीके कारण समस्त परिवर्तन होते हैं। वह भगवदाधीन है, नित्य तथा विभु है।

भक्ति सिद्धांत—

जिनकी शिव ब्रह्मादि वंदना करते हैं वे श्रीकृष्ण चरण ही जीव के एकमात्र शरण हैं। भक्त जिस भाव से भगवान को भजता है भगवान उसी भाव से मिलते हैं। भगवान दयालु तथा कृपालु हैं। इस सप्रदाय में उपास्य केवल राधायुक्त श्रीकृष्ण हैं। भक्ति की प्राप्ति मे भगवत्कृपा से ही भक्त में दैन्यादि भाव आते हैं, इस कृपा का फल प्रभु की शरण का लाभ करना है। भक्ति प्राप्ति श्रवण कीर्तन आदि के नौ उपाय हैं। शात, दास्य, सख्य वात्सल्य तथा उज्वल पाच प्रकार की भक्ति होती है। इस सप्रदाय में कृष्ण के समान ही राधा का महत्व माना गया है। निम्बार्काचार्य ने युगलरूप की उपासना के साथ साथ प्रेम तथा माधुर्य की अधिष्ठात्री राधा की उपासना पर विशेष बल दिया है। क्योंकि वे ही भक्त को सिद्धि लाभ करा सकती हैं, भगवान का सर्वोत्कृष्ट प्रेम उन्हींको प्राप्त है।

ख. माध्वसम्प्रदाय

माध्वसम्प्रदाय 'भेदवादी' सम्प्रदाय कहलाता है। इसके आदिप्रवर्तक माध्वाचार्य हैं जिन्हें आनदतीर्थ तथा पूर्णप्रज्ञ भी कहते हैं। आचार्य शकर

ने जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध किया था। उसके खडन में इन्होंने उनका भेद सिद्ध किया है। इनकी मृत्यु १२७६ में हुई थी।

पदार्थ संख्या

माध्वाचार्य ने दस पदार्थ माने हैं। नैयायिक सात मानते हैं। इनके दस हैं—द्दश्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अशी, शक्ति, सादृश्य, तथा अभाव। नैयायिकों के सात पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव माध्वाचार्य का द्दश्य पदार्थ नैयायिकों का द्रव्य ही है। इन्होंने समवाय नहीं माना और विशिष्ट, अशी, शक्ति तथा सादृश्य ये चार पदार्थ अधिक माने हैं। शेष में नैयायिकों की सरणि का ही आश्रयण हैं। अतिरिक्त माने गए चार पदार्थों में विशिष्ट तथा अशीद्दश्य ही हैं। शक्ति और सादृश्य नैयायिकों के गुणों के अतर्गत किए जा सकते हैं।

पदार्थ भेद

इनमें से द्दश्य २० प्रकार के हैं—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्व, अहकार, बुद्धि, मन, इद्रिय, तन्मात्रा, 'पच' भूत, पाच ब्रह्माण्ड, अविधा, वर्ण, अधकार, वासना, काल, प्रतिविंब। कर्म तीन प्रकार के हैं—विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। सामान्य दो प्रकार के हैं जाति तथा उपाधि। विशेष भेद के गुण का नाम है तथा विशिष्ट विशेष गुण युक्त का। शक्ति के चार भेद हैं। अचिंत्य शक्ति, आधेय शक्ति, सहज शक्ति और पद शक्ति

पदार्थ विवरण

परमात्मा एक है, अनत गुण-पूर्ण हैं। आनद आदि गुणों का आश्रय, स्वतत्र, नित्य तथा अद्वितीय है। सृष्टि, स्थिति, सहार, नियम, आवरण, बोधन, बधन और मोक्ष इन आठ कार्यों पर परमात्मा का ही आधिपत्य है। जीव परतन्त्र है। उसके सुख, दुख, विद्या अविद्या, बधन, मोक्ष सब परमात्मा की इच्छा के आधीन हैं।

जीव-मुक्ति योग्य, नित्य ससारी तथा तमोमय तीन प्रकार के जीव होते है। उनकी सख्या अनत है। देवता तथा उत्तम मनुष्य मुक्ति योग्य हैं। दैत्य, राक्षस आदि तमोयोग्य है। शेष ससारी।

प्रकृति-प्रकृति जड़ है। वह सत्व, रज, तमस् तीन गुणों का अधिष्ठान है। इसकी अधिष्ठात्री लक्ष्मी है। भगवान लक्ष्मी द्वारा ही सृष्टि करते हैं।

परमात्मा के अतिरिक्त सब पदार्थ जड़ तथा चेतन दो प्रकार के हैं। इनमें चेतन केवल जीव है। जड़, जीव तथा परमात्मा का भेद सदा बना रहता है। यह भेद पाँच प्रकार का है। १-परमात्मा और जीव का भेद २-परमात्मा तथा जड़ का भेद ३-जीव तथा जड का भेद ४-जीव और जीव का भेद ५-जड़ और जड़ का भेद। यह भेद जीव के मुक्त हो जाने पर भी बना रहता है।

मोक्ष के भेद तथा उपाय—

मोक्ष चार प्रकार का है कर्मक्षय, उत्क्रान्तिलय, अर्चिरादिमार्ग तथा भोग। सचित तथा प्रारब्ध कर्मों के क्षय के बाद कर्मक्षय तथा मोक्ष प्राप्त होता है। कर्मक्षय के उपरात जीव सुषुम्ना द्वारा उत्क्रमण करता है। हृदयस्थ विष्णु ब्रह्मद्वार से बाहर आकर उसे विष्णु लोक में ले जाता है। यह उत्क्रमण मोक्ष है। ज्ञानी जीव का भगवत्स्मृति से सुषुम्ना की पार्श्ववर्तिनी नाड़ी द्वारा जो अर्चिरादि लोकों को ऊर्ध्वगमन होता है वह अर्चिरादि भक्ति है। गुणोपासक ज्ञानी जीव प्रारब्ध कर्म के अवसान के बाद जो विविध भोग करते हैं वह भोग मुक्ति है। इसके अतिरिक्त सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य तथा सायुज्य चार भेद मुक्ति के भोगों के हैं। भगवान के लोक में पहुँच कर इच्छानुकूल भोग सालोक्य में होते हैं। भगवान का सामीप्य लाभ सामीप्य में होता है। सारुप्य में मुक्त जीव भगवान के समान ही रुप और गुण प्राप्त कर लेता है। सायुज्य में वह भगवान के देह में ही प्रविष्ट हो जाता है। मोक्ष का उपाय भगवद् अनुग्रह ही है। अनुग्रह के उत्तम मध्यम तथा अधम होने से जीव को उत्तम मध्यम और अधम लोकों के सुख भोग प्राप्त होते हैं।

ग. चैतन्य सम्प्रदाय

प्रवर्तक और तत्त्व विवेचन—

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभु हैं। तात्विक सिद्धात की दृष्टि से इसे 'अचिन्त्य भेदाभेद वादी' सम्प्रदाय कहते हैं। इसके अनुसार परम तत्त्व एक ही है जो सच्चिदानंद स्वरूप, अनत शक्तिसंपन्न तथा अनादि है। यही तत्त्व उपाधि भेद से परमात्मा, ब्रह्म और भगवान कहा जाता है। परमतत्व श्रीकृष्ण हैं। इनकी अनंत शक्तियाँ प्रकट हों तो भगवान, अप्रकट हों तो ब्रह्म

तथा कुछ प्रकट और कुछ अप्रकट हों तो परमात्मा भेदों का जन्म होता है। ब्रह्म ज्ञानगम्य है, परमात्मा योगगम्य तथा भगवान भक्तिगम्य होता है। श्रीकृष्ण की तुलना मे ब्रह्म की स्थिति ऐसी है जैसे सूर्य की तुलना में उसके प्रकाश की। परब्रह्म के तीन रूप हैं। स्वयरूप, तदेकात्मरूप तथा आवेशरूप। परब्रह्म का स्वयरूप श्रीकृष्ण हैं जो अपने पूर्णरूप से द्वारिका मे, पूर्णतर रूप से मथुरा में और पूर्णतम रूप से वृदावन में विराजते थे। वही जब किसी लीला विशेष के लिए या अपने किसी अश के लिए प्रकट होते हैं तो तदेकात्म रूप कहलाते हैं जैसे नारायण और मत्स्यादि अवतार। जब वह ज्ञान शक्ति आदि की क्रियाओं से महान जाव में प्रकट होता है तो वह आवेश-रूप कहलाता है। भगवान के तीन प्रकार के अवतार होते हैं। पुरुपावतार, लीलावतार, तथा गुणावतार। वासुदेव पहले हैं, सनकादि दूसरे, तथा ब्रह्मा विष्णु, महेश तीसरे अवतार हैं।

भगवान की तीन प्रकार की शक्तियाँ होती हैं। अतरग, बहिरग और तटस्थ। अतरग शक्ति ही उनके स्वरूप की शक्ति है। इसके सत्‌ चित्‌ और आनद तीन भेद हैं भगवान सत से विद्यमान, चित से स्वय प्रकाशवान तथा जगत के प्रकाशयिता होते हैं। आनद से आनदमग्न रहते हैं। इसी को आह्लादिनी शक्ति कहा जाता है। राधा इसी का स्वरूप है। बहिरगा शक्ति माया है जो जगत का उपादान कारण है। तटस्थ शक्ति सपन्न जीव है जो एक ओर अतरग से तथा दूसरी ओर बहिरंग से सबधित रहता है।

मोक्ष तथा उसके उपाय

भक्ति उपाय का एकमात्र साधन श्रीकृष्ण की कृपा है। भक्ति दो प्रकार की है। वैधी तथा रागानुगा। इसका भेदादि विवरण भक्ति प्रकरण में विवे-चित हुआ है। अन्य सप्रदायों की तरह इसमें भी सत्सग, लीला कीर्तन, वृदावनवास, कृष्णमूर्ति की पूजा आदि को भक्ति का साधन कर उनकी उपादेयता बताई है। इस सप्रदाय में वर्णाश्रम मर्यादा का पालन नहीं है। भगवद्भक्ति में चाडाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी का समान अधिकार है।

घ. वल्लभ संप्रदाय

इसके आदि प्रवर्तक वल्लभाचार्य हैं। इसे पुष्टि मार्ग कहते हैं। पुष्टि-का अर्थ भगवदनुग्रह है। भगवदनुग्रह वैसे तो सभी भक्ति सप्रदायों में मान्य है पर पुष्टि मार्ग में उस पर विशेष बल दिया गया है। इसलिए

संप्रदाय का नामकरण ही इससे हुआ है। ईश्वर स्वरूप की मान्यता की दृष्टि से यह शुद्धाद्वैतवादी संप्रदाय है और शंकराचार्य के अद्वैतवाद का खंडन इसमें होता है। शंकर के सिद्धांत में ब्रह्म को एक और अद्वितीय तो माना जाता है पर उसके दो भेद करने पड़ते हैं—निरुपाधिक ब्रह्म तथा सोपाधिक ब्रह्म। निरुपाधिक ब्रह्म नामरूप की उपाधियों से रहित, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त तथा कामनातीत होता है। यही ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप है। पर यह ब्रह्म कर्ता, भोक्ता तथा निर्विकार होने के कारण सृष्टि का कारण नहीं बन सकता। सृष्टि के लिए दो कारणों की अनिवार्य अपेक्षा होती है—उपादान तथा निमित्त कारण की। उपादान कारण तो विकारी वस्तु ही हो सकती है और निमित्त कोई कर्त्ता हो सकता है। शंकर के अनुसार विकार और कर्तृत्व दोनों धर्मों का निरुपाधिक ब्रह्म में अभाव माना है इसलिए वह सृष्टि का कारण नहीं बन सकता। फलतः उसका दूसरा भेद सोपाधिक ब्रह्म मानना पड़ता है।

उपाधि माया है जो अग्नि की दाह शक्ति के समान उसी की अपृथगभूत शक्ति है। इसके दो कार्य होते हैं—आवरण और विक्षेप। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध रूप को आवृत्त कर लेती है और विक्षेप शक्ति उसी में आकाश आदि प्रपंच की उत्पत्ति कर देती है। इस उपाधि से संयुक्त ब्रह्म जगत का निमित्त और उपादान दोनों कारण बन जाता है। उपासना तथा साधारण व्यवहार में इसी ब्रह्म का उपयोग होता है। जीव ब्रह्म से पृथक नहीं, अभिन्न है। वह भी नित्य, चैतन्य, स्वयंसिद्ध तथा ज्ञान-स्वरूप है। अंतर केवल माया के आवरण का है।

इस तरह सृष्टि की सिद्धि के लिए जो वेदांतियों ने ब्रह्म के मायामूलक दो भेद किये थे वल्लभ मत में उसका खंडन किया गया। वहाँ माया नाम की कोई वस्तु नहीं मानी गई और ब्रह्म शुद्ध सर्वधर्माविशिष्ट माना गया है। ब्रह्म में जो विरोधी धर्मों का भान होता है जैसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' वह इनके अनुसार मायोपाधिक न होकर उनका सहज धर्म ही है।

इस मत में ब्रह्म के तीन भेद हैं—परब्रह्म, अक्षरब्रह्म और क्षरब्रह्म। क्षरब्रह्म वेदांतियों की माया है जिसमें सब प्रकार के विकार-परिणाम होते हैं। अक्षर ब्रह्म क्षर ब्रह्म से तो प्रशस्यतर है क्योंकि इसमें चैतन्य गुण रहता है, क्षर ब्रह्म में तो केवल सत्व रहता है चैतन्य नहीं। पर अक्षर ब्रह्म में आनंद तत्व का अभाव रहता है। इसलिए वह परब्रह्म से निकृष्ट है। कर्त्ता भोक्ता या सृष्टि का निमित्त कारण यही ब्रह्म होता है। सबसे श्रेष्ठ इसका

परब्रह्म या पुरुषोत्तम रूप है जिसमें सत्त्व, चैतन्य और आनद तीनों वृत्तियाँ विद्यमान रहती हैं। जीव, जगत, ब्रह्म के ही स्फुलिंग हैं अतएव वे नित्य हैं।

जगत के विषय में वल्लभाचार्यजी ने 'अविकृत परिणामवाद' माना है—अर्थात् ब्रह्म विना किसी विकार को प्राप्त हुए जगत रूप में परिवर्तित हो जाता है। जिस प्रकार कुडल, वलय आदि रूप में परिणत होने पर भी सुवर्ण में कोई अतर नहीं आता, इसी प्रकार ब्रह्म जगत रूप में परिणत होकर भी अविकृत ही रहता है। जगत् के विषय में उत्पत्ति-विनाश ये नहीं मानते। आविर्भाव तिरोभाव मानते हैं। इसका अर्थ यह है कि अक्षर ब्रह्म में तीन शक्तियाँ होती हैं—सधिर्नी, सवित् और आह्लादिनी। उनमें से सधिनी शक्ति द्वारा सत स्वरूपका, सवित शक्ति द्वारा चैतन्य का, तथा आह्लादिनी शक्ति द्वारा अपने आनदस्वरूप का आविर्भाव-तिरोभाव वह करता रहता है।

जड़ प्रकृति अर्थात् क्षर ब्रह्म में केवल सधिनी शक्ति अर्थात् सत्व आविर्भूत रहता है। अक्षर ब्रह्म में सधिनी और सवित अर्थात् सत्व और चैतन्य अनावृत रहते हैं। परब्रह्म में तीनों शक्तियों द्वारा सत्व चेतन्य तथा आनद सदा आविर्भूत रहते हैं। इस तरह ब्रह्म के भेद जो शकर-सिद्धात में माया द्वारा होते हैं वे इस मत से उसके सहज धर्म बन गए। उनके केवल आविर्भाव तिरोभाव माने गए।

इस व्यवस्था के अनुसार न तो ब्रह्म को ग्रस्त करने वाली इससे अन्य कोई दूसरी वस्तु माया है और न जीवात्मा को ही ग्रस्त करने वाली। यह अवस्था भी मायावृत्त नहीं, भगवान की इच्छा से की हुई है। कृष्ण के स्वरूप में विलास और लीला का प्राधान्य इसी धारणा के फल स्वरूप हुआ है। श्रीकृष्ण परब्रह्म या पुरुषोत्तम के अवतार हैं। ब्रह्म के तीनों रूपों की उपासना भी भिन्न भिन्न मार्गों में होती है। ये मार्ग भी तीन हैं—

१—प्रवाह मार्ग या धर्म मार्ग २—मर्यादा मार्ग या ज्ञान मार्ग तथा ३—पुष्टि मार्ग या भक्ति मार्ग। सासारिक सुखों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना प्रवाह मार्ग है। वेद विहित मर्यादाओं का अनुसरण करना मर्यादा मार्ग है और भगवान के अनुग्रह के वशीभूत होकर उन्हें आत्मसमर्पण करना पुष्टि मार्ग है। पुष्टि मार्ग में लोक और वेद दोनों की मर्यादाओं का त्याग हो जाता है। यही मार्ग सर्वश्रेष्ठ है। मर्यादा मार्ग में तो ज्ञानी को केवल अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है। पुष्टि मार्ग द्वारा भक्त परब्रह्म के अति-रोहित सच्चिदानद स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। मर्यादा मार्ग भगवान की वाणी से निकला है। पुष्टि मार्ग उनके शरीर अथवा आनद अंग से।

ज्ञान मार्ग का लक्ष्य सायुज्यमुक्ति है। पुष्टि का प्राप्य रसात्मिका प्रीति द्वारा भगवान के अधरामृत का पान करना है।

आनंदघन का सम्प्रदाय

घनानंद जी के जीवन मे इतना बड़ा परिवर्तन हुआ था कि उन्मुक्त मानवीय प्रेम के उपासक वे बाद मे सत बन गए। सत भी नियमित रूप से दीक्षा लिए हुए जान पड़ते हैं। ये निम्बार्क सम्प्रदाय के अतर्गत सखी भाव के उपासक थे। इनके पूर्व के प्रेमी जीवन का मधुर भक्ति मे परिणत होना स्वाभाविक था। किशनगढ के महाराज सावत सिंह जी जो भक्त बन कर नागरीदास कहलाए इनके परम मित्र थे। नागर समुच्चय में इनका अनेक स्थलो पर प्रसग आया है।

१—आनंदघन हरिदास आदि सौ सत सभामधि, ना० स० पृ० २१ पद सख्या ४२।

२—आनंदघन हरिदास आदि संतन वच सुनि सुनि, वही पृ० १५।

३—आनदघन को सगकरन तन मन कौ वारयौ। वही पृ० २५ प० ५२

४—एक बार नागरीदास जी भक्त मडली के साथ गोवर्धन गए। आनदघन जी उनके साथ थे।

आये चलि तिहिंठा रसिक झु ढ, जहँ राधा कुड अरु कृष्ण कुड।
उतते सुनि उमगे रसिक वृंद, उठि चले सामुहे वढि अनद।
(आनद=आनदघन)
तहँ रुपे सूर सनमुख सम्हारि, चहि चले परसपर प्रेम वारि।
तहँ बद्रिदास अरु मुरलीदास, मनु महारथी ये प्रेम रास।
ना० स० व्रज वर्णन पृ० ८७, ८८ पद ५,

अपनी पुस्तक मनोरथ मजरी मे नागरीदास जी ने अपने एक परम मित्र संत का उल्लेख किया है—

युगलरूप आसव छके परे रीझ के पानि
ऐसे सतन की कृपा मोपै दंपति जान
परम मित्र आग्या दई मेरे हू हित वास
नवल मनोरथ मजरी करी नागरीदास

यहाँ परममित्र आनदघन ही प्रतीत होते हैं 'रीझ के पानि' वाक्यांश उन्हीं का है। उन्हींकी ओर सकेत करता है।

पर ये 'हरिदास' सखी सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य नहीं है। आनदघन जी के समयकालीन इन्हीं के साथ के कोई दूसरे महात्मा हैं। उनका उल्लेख नागरीदास जी ने भी किया है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि सखी भाव या सखा भाव केवल उपासना के भेद हैं, मूलतः सम्प्रदाय तो निम्बार्क ही है। अतः आनदघन जी ने गुरु परपरा मे निम्बार्क सम्प्रदाय की गद्दी के गुरुओं का नाम स्मरण किया है।

इनकी सखी सम्प्रदाय की उपासना के अन्त.साक्ष्य तो अनेको मिलते हैं। जैसे—

१. सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री हरिदास जी की रसिक छाप थी।

(क) आसधीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदास की[२]

(ख) रसिक अनन्य हरिदास जू गायौ नित्य विहार[३]

(ग) ऐसो रसिक भयौ नहि है भूमडल आकाश[४]

(घ) सो पथ श्री हरिदास लह्यो रस रीति की प्रीति चलाय निशाको निशननि वाजत गाजत गोंविद रसिक अनन्य को पथ बाको[५]

× × × ×

इस सप्रदाय के अनुयायी अन्य लोगों ने भी 'रसिक' शब्द का अपनी रचनाओं में प्राचुर्येण प्रयोग किया है। भगवत रसिक जी ने अपने नाम में ही इसको जोड़ लिया था। ललित किशोरी जी की रचनाओं में कुछ ही ऐसी मिलेगी जिनमें 'रसिक' या रस शब्द न आया हो। इस से पता चलता है कि सखीसम्प्रदाय में रस रसिक या तत्समानार्थक शब्दों का प्रयोग साम्प्रदायिक परपरा में आ गया था। श्री कृष्ण और राधा का स्वरूप भी शृगार रस का विहार करने वाला है। इस दृष्टि से आनंदघन जी की समस्त रचनाओं की परीक्षा की गई है। उनमें रस तथा रसविशेष्य एव रस विशेषण समस्त शब्द ११८९ बार प्रयुक्त हुए हैं। इनमें ८६९ बार रस विशेष्य शब्द जैसे महारस रसराज और 'एक रस' आए हैं, और ३२० बार रस

१—आनदघन हरिदास आदि सतन वच सुनि सुनि। नागर समुच्चय पृ० २३

२—भक्त मात्र भक्तिसुधा स्वाद रुपकला० पृ० ६०७

३—भक्तनामावली श्री ध्रुवदास कृत।

४—श्री हरिराम व्यास जी निम्बार्क माधुरी पृ० १६४

५—श्री हरिगोविंद स्वामी वही पृ० १६३

विशेषण समस्त शब्द जैसे रसिक 'रसिया' रसाल 'रसलोभी' आदि। इसी प्रकार रसिक शब्द १२२ बार प्रयुक्त हुआ है। श्री कृष्ण के लिए 'रसिक 'रसीले 'रसाल 'रसनायक' 'रसमय' आदि और राधा के लिए 'रसिकिनी' 'रसदायिनी' 'रसलैनी' आदि विशेषताओं का उल्लेख स्थान-स्थान पर कवि ने किया है। कवि का रस और रसिक भाव पर इतना आग्रह उन्हें रसिक सप्रदाय का प्रमाणित करता है।

२—इनकी रचनाओं में या तो व्रजप्रेम का वर्णन है या फिर श्री कृष्ण और राधा के मधुर रस का। थोड़े पद ऐसे हैं जिनमे शिव, प्रह्लाद, चैतन्य, नारद, गगा, राम, सूर्य, और वामन की स्तुति की गई है।[1]

इससे सप्रदाय दृष्टि की उदारता का पता तो चलता है पर रस-केलि का भूयोभूय वर्णन उन्हें सखी सप्रदाय का ही प्रमाणित करता है। इनकी रति मादन भाव की है जो मधुरा भक्ति मे ही मान्य है। श्रीकृष्ण को 'अनेक कामदेवों को लज्जित करने वाले' 'विलासनिधान'[2] 'केलिकला पडित', 'रसमंडित'[3]। 'केलिरसिक'[4]। 'मदन केलि सुखपगे'।[5] 'रसिक सिरोमनि' 'रसलोभी' 'रसिक छैल'।[6] 'सुरति रस पगे'।[7] 'रतिरसऔंडे'।[8] 'रसिकराधारमन'।[9] 'राधिका-नव-उरग-राग-रंजित'।[10] आदि विशेषण से युक्त कहा है जो सखी संप्रदाय की 'रस-केलि' का द्योतक है।

३—गोपियो के प्रेम की स्थान-स्थान पर सराहना की है। गोपियाँ श्री कृष्ण और राधा की सखियाँ हैं। इसमे सखि भाव की उपासना का अनुमान होता है। उन्होंने यह अनेकों स्थानों पर कहा है कि श्री कृष्ण की प्राप्ति गोपी प्रेम के द्वारा ही हो सकती है। एक उदाहरण :—

१—ब्यौरेवार विवरण रचनाओं के प्रकरण देखिए।
२—विचार सार।
३—भावना प्रकारा ४३।
४—वही ५७।
५—पदावली १८८।
६—वही।
७—वही १२६।
८—पदावली १२२।
९—वही ६०।
१०—वही।

सरवोपरि गोपिन की प्रेम, जिनसों नद सूनु को नेम।
निरिनि रहत ब्रज नंदन जिनके, हरि हित सहित मनोरथ इनके॥
इनकों गुन मुरलीधर गावत, परम प्रेम रस पुज बढ़ावत।
इनकी प्रेम सगाई जैसी, देखी सुनी न कितहीं ऐसी॥[1]

प्रेम तो गोपिन हीं के भाग।
जिनके नद सूनु सों साची रच्यौ राग अनुराग।
कहियै कहा निकाई मन की जो कछु लागी लाग।
सर्वसु बिसरि बिसरि सुधि साधी महामोह की जाग।
ब्रज मोहन की महामोहनी अनुपम अचल सुहाग।
आनद घन रस झेलि झालरी नव वृदावन बाग।

आ० घ० पदा० १६२।

४—बधाई के पद लिखने की प्रथा निम्बार्क सप्रदाय के अनुयायी संतो में होती है। आनद घनजी ने श्री कृष्ण राधा और श्रीराम की बधाई में लगभग २५ पद लिखे हैं। इसके अतिरिक्त "रंग बधाई" निबध की स्वतत्र रचना ही इसके लिए की है।

आनद को घन रस जस बरसौ, हित हरियारी नित ही सरसौं।
ब्रज जन चातिक रह रस पियौ, ब्रज जीवन रस पीवत जियौ॥

रंग बधाई ४७, ४८।

५—'वृषभानपुर सुषमावर्णन' और 'मनोरथ मजरी' में कवि ने अपने को सखी भावना में रखकर राधा कृष्ण की रहः केलि में सेवा करते दिखाया है। सखी भाव की साधना की यही चरमकोटि होती है कि वे राधाकृष्ण की रहस्य केलियो को भी देखें और स्वय उसकी अभिलाषा न करते हुए युगल-हित को ही अपना हित माने। ललिता और विशाखा दो सखिया राधा के अतरग परिसर में रहती हैं। अन्य सखियों को उनकी कृपा लेनी पडती है तभी राधा का प्रसाद मिल पाता है।

आनद घनजी भी अनुभव करते हैं कि 'ललिता सखी मुझे बहुत मानती है। राधा की हित की दृष्टि से मेरा भाव पहचान जाती है। विसाखा भी विशेष प्रेम करती है। हँसकर बोलती है और माथे पर हाथ रखती है।[2]

१—ब्रजव्यौहार।
२—वृषभानपुरसुषमावर्णन २६।

साधना की इस कक्षा में पहुँचे हुए संत अपना साधनागत नाम भी बदल लेते हैं। ये नाम सखियों में से ही कोई एक होता है। निंबार्क सम्प्रदाय के सभी आचार्यों का कुछ न कुछ साधनागत नाम है। आनंदघनजी ने 'परम हंस वंशावली' में परशुरामाचार्यजी का 'परमा' नाम दिया है।

तिनके पार विराज के परमानिधि श्री मान।
पदवी की पदवी दई मुनिवर कृपानिधान।

'भोजनादि धुनि के पद में इनका व्यावहारिक नाम आया है—

परसुराम सुखधाम महाप्रभु। श्री हरिवंस हंस ईश्वर विभु।

आचार्यों के साधना नाम इस प्रकार हैं।

श्री हरिव्यास देव	हरि प्रिया सखी
श्री परसुराम देव	परम सहेली
श्री हरिवंशदेव	हित अलबेली
श्री नारायण देव	नित्यनवेली
श्री वृंदावन देव	मनमंजरी[1]

सखी भाव की सेवा का वितरण अष्टछाप के कवियों में भी हुआ था[2]। पर उसकी साधना अधिक न होने से पूरा पूरा चित्रण नहीं मिलता। गौडीय सम्प्रदाय में इसको बहुत महत्व दिया जाता है। ब्रज की प्रसिद्ध आठ सखियों[2] में से तीन विशाखा ललिता और चंपकलता तथा पांच अन्य चित्रा, इंदुलेखा, रंगा देवी, तुंगविद्या और सुदेवी को लेकर अष्ट सखियाँ सम्प्रदाय में प्रयुक्त होती हैं। आचार्यों का सेवा वितरण इस प्रकार से है:—

१—रूप गोस्वामी	विसाखा
२—रायरामानंद	ललिता
३—वनमाली कविराज	चित्रा
४—कृष्णदास ब्रह्मचारी	इंदुलेखा
५—राघव गोस्वामी	चंपकलता
६—गदाधर भट्ट	रंगदेवी

१—आचार्य श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र—घा० प० ग्रंथावली भूमिका ७८।

२—ब्रज की प्रसिद्ध आठ सखियाँ ये हैं—विशाखा, चंपकलता, चंद्रभागा, ललिता, भामा, पद्मा, विमला, सुभगा।

७—प्रबोधानंद — तुंग विद्या
८—अनत आचार्य गोस्वामी — सुदेवी

इस प्रकार मधुरभाव की भक्ति में भक्तो द्वारा साधना नाम ग्रहण करने की जो परपरा सप्रदाय में है वह आनद घन जी मे भी पाई जाती है। इसका नाम बहुगुनी था।

राधा की हौं चौकस चेरी, सदा रहति घर बाहिर नेरी।
नीको नाव बहुगुनी मेरो, बरसाने को सु दर खेरो।
राधा नाव बहुगुनी राख्यौ, सोई अधर हियें अभिलाख्यौ।
राधा धरयौ बहुगुनी नाऊ, टरि लगि रहौं बुलाए जाऊं।
प्रिया प्र० २५।

सखी भाव से जो सेवा आनदघन जी ने इष्ट मानी है उसका विवरण प्रिया प्रसाद में इस प्रकार है।

'मैं राधा को गीत सुनाती हूँ। मीनी बातों से उसे हँसाती हूँ। जब वे गृह या वन में विहार करती है, तो मैं पीछे लगी रहती हूँ। अत्यत रसीली कथा राधा से कहती हूँ। उनके चरण दबाते हुए कुछ नीचे झुक जाती हूँ तो राधा के पैर मेरे सिर से छू जाते हैं। जब उनके पैर हिलने पर जागती हूँ तो फिर ऊबकर पैरों से लग जाती हूँ। जब राधा के पास श्याम को देखती हूँ तो समयोचित सुख-सेवा करती हूँ। उनके प्रिय पर पखा ढुलाती हूँ, उनके श्रम के स्वेद को सुखा देती हूँ।

'राधा भी अपने मन की बात मुझसे कहती हैं। वह अपनी रुचि ही से अपनी गुप्त गास खोलने लगती हैं। उनके पैरों मे झवाँ और महावर देती हूँ। अडे दाव पर जब काम पड़ता है तो बहुगुनी के बिना कौन सवाँर सकता है।[1] वृषभानपुर सुषमावर्णन "में भी यह प्रसंग विस्तार से दिया हुआ है?"

"राधा ने मुझे सब प्रकार की शिक्षा दी है। अपने पैरों में झवाँ करा कर मेरा मान बढा दिया है। उनके शृगार की सब सामग्री सजाना जानती हूँ। अनेक प्रकार से सिर गूँथना जानती हूँ। उत्तम २ गानों से उन्हें प्रसन्न करती हूँ। चटक के साथ रसीले छद और कवित्त पढती हूँ तो प्रेम रस का रग

१—प्रिया प्रसाद-२५, २८, ३०, ४१—४५।

बँध जाता है। जब वे रीझ के वशीभूत होते हैं तो मैं अपनी बहुगुनी कला का प्रदर्शन करती हूँ। उनके स्वर में स्वर मिलाकर इस प्रकार प्रेम लपेटी गाँठें खोलती हूँ कि उनकी गुप्त बातें भी प्रकट हो जाती हैं इस समय का सुख अकथनीय है।'[1]

'मनोरथ मजरी' मे मन्मथ केलि के समय ऐसी ही सेवा की भावना की गई है।

'मैं राधा के लिए दूध के फेन जैसा शुभ्र पलग बिछाती हूँ। मणि की चौकी पर मधुपान के भाजन भर देती हूँ। वहाँ पर रसरीति से लाल बिहारिणी को लाती हूँ और उनमे सुरत का अभिलाष उत्पन्न कर अवसर पर बाहर आ जाती हूँ। वे जो आपस मे वार्तालाप करते हैं उनका कनसुआ लेकर प्रसन्न होती हूँ। पर आगे का उनका रस व्यापार किस प्रकार कहा जाय? प्रिया मेरा आँचल पकड़कर अपने पास बिठाना चाहती है। पर मैं अप्रसन्न होकर बाहर आ जाती हूँ। बाहर बैठकर मृदुल वीणा बजाती रहती हूँ। राधा को अपने सगीत से ही जगाती हूँ।[2]"

६—प्रेम पद्धति मे स्पष्टरूप से वे अपने को गोपियो के मार्ग का अनुयायी बताते हैं.—

"गोपी चरन रैन मेरे धन, गोपिन के पनसों पान्यौ पन"[3]

आनंदघन जी ने जिस कोटि की भावना उक्त तीनों निबधो मे प्रकट की है उससे अपनी साधना मे सिद्धिप्राप्त सत से प्रतीत होते हैं। राधा के अत्यत निकट के परिसर में पहुँचे हुए हैं। इस प्रकार की सेवा सप्रदाय के बहुत ऊँचे संतो को ही मिली है। वैसे 'नागर समुच्चय' में जो प्रसंग आनद घन जी का आया है उसमे भी इनकी साप्रदायिक महत्ता का ही अनुमान होता है।

अपनी साप्रदायिक साधना मे उच्च कोटि तक पहुँचकर भी आनदघन जी की उदारता मे कमी नहीं आई। शिव, गंगा, नारद, वामन, चैतन्य, राम, प्रह्लाद, सूर्य, बलदेव आदि की स्तुति मे अनेकानेक पद आपने लिखे हैं। राम की तो बधाई भी गाई है। उनकी स्तुति मे हर प्रकार की याचना की गई है। शकर स्तुति मे आनंदघन जी कहते हैं

१—पु० मु० ६-२३।

२—मनोरथ मजरी

३—प्रेमपद्धति १०२

कि 'आपकी कृपा से मैं श्री हरिगाथा गा सकूँ जैसे अन्य सतों ने गाई है। इसी प्रकार गगा स्तुति में "मधुसूदन प्रीति" की प्रार्थना करते हैं।[1]

इस तरह अनेकों बाह्य तथा आभ्यातर प्रमाणों से सिद्ध है कि ये निंबार्क सप्रदाय के अतर्गत सखी भाव के उपासक थे।

आनंदघन के दार्शनिक विचार

आनदघन की रसात्मक शृगार अनुभूतियों में जो रहस्य-भावना की महक आती है वह इनके दार्शनिक दृष्टिकोण के कारण ही है। ये सरुप के उपासक होकर भी अरुप निर्गुण ब्रह्म की भावना से सर्वथा दूर नहीं रहे। सभव है यह भक्ति तथा दर्शन का योग इसलिये हो गया कि ये सखी सप्रदाय के भक्त थे जिस में रहस्य की भावना विद्यमान रहती है। इस विषय में आनदघन दूसरे भक्तों से एक बात मे बहुत अधिक भिन्न हैं। इन्होंने अपने दार्शनिक भाव भी प्रेमभावना में डुबाकर इतने सरस बना दिए हैं कि उनमें दार्शनिक रूक्षता नाम को भी नहीं रही। दूसरे भक्त जब साम्प्रदायिक दर्शन को काव्य-बद्ध करते हैं तो उसमें काव्य की सरसता कम हो जाती है। इन्होने सब कुछ प्रेम की भाषा में कहा है। दार्शनिक विचार देते समय ये फारसी काव्य शैली से तो इसलिये भिन्न हो जाते हैं कि यहाँ दार्शनिक तथ्य स्पष्ट और प्रचुरता में होता है और भक्तों की शैली से इसलिये भिन्न हो जाते हैं कि इसमें प्रेमव्याख्यान की सरस शैली ज्यों की त्यों बनी रहती है। यहाँ भी प्रिय आनदघन ही है। उसी के रुप व्यापारों के आधार पर भाव निवेदन हुआ है। अतः दर्शन तथा भक्ति का सरस योग इनकी काव्य शैली का बड़ा रमणीक गुण बन गया है।

परमेश्वर

परमेश्वर के दो रूप हैं—अरूप तथा सरूप। अरुप में वह निर्गुण निराकार निष्काम तथा व्यापक है और अज्ञेय है। उसके निर्गुण रूप की व्याख्या करते हुए आनदघन कहते हैं कि सब तुमको गाते हैं। वेद तुम्हें एक बताते

---

[1]—तुम्हारी कृपा से निसिदिन गाऊ श्री हरि गाथा जैसे गाइ आए सत पदावली ५२८।

अरी गगा हौं तेरौ गुन गायक अब तू अपनोई गुनकरि री।
मधुसूदन पद्धति बढ़ै नित ऐसी भाँतिन ढरि री—वही ७०६।

है। भक्त जैसी भावना करते हैं उसी रूप में तुम्हें प्राप्त करते हैं। तुम जल-थल व्यापी, अंतर्यामी और उदार हो संसार में तुम्हारा 'जानराय' नाम पड़ा हुआ है। इतने गुण पाकर और जगत पर छा छा कर भी हे आनंद के घन तुम मुझे तो निर्गुण ही दिखाई दिए हो[1]।

श्री कृष्णरूप में वह स्वरूप है वह परम रसिक है। परम आनंद स्वरूप है। संसार रूक्ष तथा नीरस पड़ा था। उसने श्री कृष्ण रूप में अवतार लेकर उसे सरस बना दिया। अपनी आनंदमयता तथा रसिकता का आस्वादन करने के लिए ही परब्रह्म श्रीकृष्ण रूप में अवतरित हुआ है जिसका कोई पार नहीं पा सकते। जिसकी प्राप्ति में ज्ञान का ओज थक जाता है तथा जिसे महिमामंडित सिद्ध और मुनि लोग खोजते हैं वही आनंद का घन श्रीकृष्ण राधा सुजान के रूप का पपीहा होता है[2]।

आनंदघन जी के अनुसार परमेश्वर का स्वरूप नित्य चैतन्य तथा व्यापक है। उसकी सत्ता सब रंगों में है पर स्थिर रूप से कहीं न कहीं वह उमड़ता भी है, बरसता भी है। मरसता भी है और तरसता भी है। सर्वत्र विद्यमान है पर उसका घर कहीं नहीं।[3] उसकी अद्वैतता का प्रतिपादन करते हुए आनंदघन जी जीव और परमेश्वर को अभिन्न बताते हैं। उनकी दृष्टि में परमेश्वर त्रिकाल सत्तावान है। जीव से अभिन्न है। स्थूल दृष्टि से जो जीव और परमेश्वर का भेद प्रतीत होता है वह परमेश्वर की इच्छा से बने मायावरण के कारण हैं। इस माया वरण के ही अनेक नामरूप हो जाते हैं जो भेद का कारण बनते हैं। तत्वत. जीव ब्रह्म का अद्वैत है।

'हमें तुम्हें आजु लौं न अंतर हो जान प्यारे कहां ते दुसी सो वैरी आदे आनि है मनों[4]'

आनंदघन ने परमेश्वर को दुर्लक्ष्य भी बताया है। जिस प्रकार बादलों में से कभी क्षण भर के लिए बिजली की कांप चमकती है जो चमक के कारण दिखाई भी नहीं देती इसी प्रकार उसका आभास कभी क्षण भर के लिए होता है और बुद्धि फिर आश्चर्य में पड़ जाती है। प्राणी को उससे संशय होने लगता है कि वह सत्य है या कोरा संभ्रम ही।[5]

१—सुदि ८५२, २२३

२—सुहि० ४७८

३—सुहि० ४२१

४—आ० ध० पदा० ६५

५—आ० घ० सुदि ३५३

परमेश्वर सगुण हो या निर्गुण वह आनदस्वरूप तथा प्रेम स्वरूप है। समस्त सृष्टि पर उसी की आनद वर्षा होती है। भक्तों के हृदयों में भी जो चाह बरसती है वह भी उसी घन के जलबिंदु हैं।

परमेश्वर का जीवों से सम्बन्ध

व्यापक होने से वह जीवों के हृदय का अन्तर्यामी है। वह जीवों के साथ ही रहता है पर जीव अपनी अल्पज्ञता तथा प्रेमहीनता के कारण उसका दर्शन नहीं कर सकता। देखा जाए तो जीव ही परमेश्वर से दूर है। परमेश्वर तो उसके साथ ही साथ है[१]।

ससार की सब प्रकार की शक्ति प्राणी को परमेश्वर से प्राप्त होती है पर उसे देखने की क्षमता प्राप्त करने के लिए प्राणी को प्रेम साधना करनी पड़ती है। इस विषय में परमेश्वर जीव की मानो परीक्षा लेता है। वह नेत्रों का तारा बनकर जगती के पदार्थ जात को देखने का सामर्थ्य तो दे देता है। पर स्वय दिखाई नहीं पड़ता। इस प्रकार वह रहस्यमय सिद्ध होता है। वह आनद का घन छा छा कर भी उघड़ा हुआ ही रहता है। परमेश्वर की रहस्यरूपता का कारण उसकी अनत शक्तियाँ तथा अनत गुण भी हैं। इन गुण तथा शक्तियों का पार पाने तथा इनका विश्लेषण करने का उद्योग वेद शास्त्रादि करते हैं। पर वे स्वय अगाध और विभिन्न हैं। उनसे बुद्धि को भ्रम ही होता है। साधारण जीव की तो बात ही क्या, शिव, ब्रह्मा, इन्द्र आदि देवता उसे समझने में बावले हो जाते हैं। वाणी उसे गाती और सुनती हुई तथा उसकी अभिलाष करती हुई अधिक से अधिक भ्रम में उलझती जाती है[२]।

आनदघन का विश्वास है कि सर्वत्र छाए हुए भगवान को जो भक्त देख नहीं पाता इसका कारण भगवान की ही कठोर अकरुणा है। 'जो मन परमेश्वर को जान सकता था उसे परमेश्वर ने ही अजान बनाया है[३]।

एक ओर तो परमेश्वर का यह स्वरूप है। दूसरी ओर वह

१—बसि एकहि वास विकास करौ बम नाहि विमासी बनी सु सहैं। हम सग किधौं तुम न्यारे रहा तुम सग बसौ हम न्यारो रहैं। सुहि० ४९३

२—आनदघन प्रकीर्णक ३३

३—किहि ठान ठनौ हौ सुजान मनौ गनि जानि सकै सुअजान कन्यो ।

दीनदयालु, आर्तप्रतिपालक है। सभी को सुख तथा जीवन देता है। भक्तों का पोषक तथा रकों का तोषक है। वह जन सोच-विमोचन, पूर्णकाम तथा प्रण का निर्वाह करने वाला है। अमानियों का मानद, कृपालु तथा प्रीति का रसाल समुद्र है[1]। उनकी कृपालुता तो इतनी है कि भक्त के बिना कहे उसे देखकर ही वे कृपा करते हैं। उनके नेत्रों में कृपा के कान लगे रहते हैं। भक्त का विश्वास है कि सुजान परमेश्वर प्राणियों को जीवित रखना भलीभांति जानता है। वह भक्त का मनभाया कर उसे सुख देता है। अभिलाषा की वेलि को भक्त के हृदय के आलवाल मे रस देकर सफल बनाता है। अपने स्नेह के कारण ही वह तृप्त और अनुकूल होकर अपने आप ही भक्तों पर ढरता है।

इस तरह भगवान के दो पृथक पृथक स्वभाव आनदघन ने अनुभव किए हैं। कृपालु और कोमल तथा कठोर और रहस्यमय। पहले स्वभाव के साथ जिन गुणों का सबध है वे हैं स्नेह, दीनपालकता, प्रणपूरण और अपढर कृपा। दूसरे स्वभाव के सहयोगी गुण हैं दुर्बोधता, विलक्षणता, सभ्रमरूपता व्यापकता और अन्तर्यामिता आदि प्रतीत होता है ये दो परस्पर विरुद्ध गुणावलियां सगुण तथा निर्गुण रूप परमेश्वर के विषय मे अनुभूत हुई हैं। और स्वभावतः कवि का आग्रह सगुणरूप की ओर है। इस भाव की एक सवैया में उन्होने बड़ी स्पष्ट अभिव्यक्ति की है। गोपियाँ कहती हैं कि—"हे प्रिय, तुम सब ठौर मिलते हो पर दूर ही रहते हो। जिस रग मे भी रहते हो भरपूर रहते हो। तुम कहीं तो ऊखिल से हो जाते हो और कहीं छिनू से। हम तो केवल यही चाहती हैं कि क्षणभर तुम मनुष्य रूप में मिलो[2]।" इसका स्पष्ट तात्पर्य यही है कि कवि भगवान् के मानव रूप का उपासक है अर्थात् सगुण रूप का।

भगवत्प्राप्ति के साधन

भगवत्प्राप्ति का एकमात्र साधन जीव के प्रति भगवान की कृपा और भगवान् के प्रति जीव की भक्ति है। भगवत्कृपा भगवान का ही रूप है। यह भक्तों मे सब प्रकार की क्षमता ला देती है। आनंदघन ने स्पष्ट कहा है कि जब भगवान निकट रहकर भी प्राणियों से दूर रहते हैं तो उनकी कृपा ही एकमात्र

१—सुजि० ३५१,
२—सुजि० ३७२

उपाय मिलन का हो सकती है[१] । भगवत् कृपा अज्ञानी भक्त का हाथ पकड़कर भगवान के चरणों में डाल देती है ।

भगवान का सहज रूप

परमेश्वर का रूप सहज है । बोधवान प्राणी भगवान को सहज रूप में ही देखता है[२] । उसकी प्राप्ति का साधन भी सहज प्रेम है । जो स्वाभाविक रूप से परमेश्वर में अनुरक्त होता है वही सफल होता है । दूसरे लोग तो व्यर्थ पच मरते हैं । मिलाप और विरह तथा ससार के सब व्यवहार सहज ही हैं[३] ।

ससार

ससार असार है । पृथ्वी से आकाशपर्यन्त इसका समस्त रूप 'गुनवीता' है । इसकी कोई वस्तु स्थिर नहीं है[४] । यहा 'चलनि' सर्वत्र मढराई रहती है[५] । जिस शरीर से स्नेह किया जाता है वह तो क्षणभर में भस्म बन जाता है । यहा के समस्त नाते यहीं छुट जाते हैं[६] । जिस प्रकार अद्वैतवादी माया को सद्सद् विलक्षण मानते हैं उसी प्रकार आनदघन ने भी ससार को विलक्षण माना है । ससार के तात्विक तथा प्रतिभासिक दो रूप एक दूसरे से विपरीत हैं । ससार ऊपर से सत् प्रतीत होता है पर उसके अदर असत्ता बैठी रहती है । इसमें चलने के लिये ही सब रहठानि बनती हैं । इसका झूठ सत्य सा लगता है । भगवान की जिनपर कृपा होती है वे ही यहाँ नीर क्षीर का विवेक कर सकते हैं । यह संसार तो आश्चर्य की खानि है । इसका लाभ हानि है और उपज विनाश है ।[८] इस ससार की यात्रा ऐसी है कि यहाँ न गाँव का पता न नाम का, कौन कहाँ जाता है, यह भी ज्ञात नहीं ।

१—कृ० क० नि० ४४,

२—सुहि० ४४७

३—वही ४४८,

४—वही ४४७

५—वही ४३५

६—वही ४४५,

७—महाअचरज धाम मोहि ऐसी दीसि परियौ दीसत न काहू बिन दीसै लाल प्यारियौ

८—महा अचरज धाम मोहि ऐसो दीसि परियौ ।,
दीसत न काहू बिन दीसै लाल प्यारियौ ॥ वृ० मु० ५५

वहाँ पर मिलन अर्थात् सुख की आशा करना पवन के महलों में निवास के तुल्य है।[1] इसलिए कर्तव्य यही है कि इधर से रुचि हटाकर भगवान के चरणों की ओर उसे प्रेरित की जाए।

संसार से परमेश्वर का संबंध

यह संसार परमेश्वर का ही 'पसारा है'। वह जो अव्यक्त होकर भी सर्वत्र छाया हुआ है वह इसी पसार को फैला कर। परमेश्वर के संबंध के कारण संसार की सत्ता और असत्ता दोनो ही सत्य हैं।

ब्रज और वृन्दावन

जिस परमतत्व के निकट मन का भी प्रवेश नहीं हो सकता, ब्रज उसी का स्वरूप है। इसकी रज में परमतत्व का सार 'समोय' रक्खा है। यहाँ चर अचर सभी का आभास मिलता है। निरवधि रसनिर्यास अर्थात् मधुर रस के विलास का परिचय भी यहाँ होता है। स्व के आनदमय स्वरूप को देखने के लिए मोहन ने इसे अपना दर्पण बनाया है। श्रीकृष्ण के दर्शन ब्रजरज से अंजी हुई आंखों में ही होते हैं।

कृष्ण ने समस्त संसार को मुग्ध बनाया। राधा ने श्री कृष्ण को मुग्ध बनाया। पर वृंदावन ने राधा और कृष्ण दोनों को मुग्ध बनाया है। यह राधा और कृष्ण का ही स्वरूप है। पवन प्रकंपित, धूलिकण संयुक्त इसका शरीर श्रीकृष्ण के रोमान्चित शरीर के ही प्रतिरूप है। उनके अंग अंग के साथ यह एकमेक हो रहा है। श्याम इसमें निवास करते हैं, यह श्याम में निवास करता है। यह आश्चर्य बात है। राधा कृष्ण के दर्शन किये बिना इसके भी यथार्थरूप के दर्शन नहीं होते।[2] इसके पहचान लेने पर श्याम भी पहचाने जाते हैं। यह श्यामसुदर के स्वभाव की तरह परात्पर तथा रहस्यमय है। अनुरक्ति होने पर ईश्वर से भी इसी के रज की याचना की जाती है।[3]

१—वही ५८

२—महा अचरज धाम नाहि ऐसो दीनि परियौ
दीसतन काहू बिन दीनें लाल प्यारियौ — वृ० मु० ५५

३—याहि दीसैं स्याम दीसैं स्याम मीतैं यह
+ + + +
परेते परै हैं भयौ हरिमय है वृन्दावन
राचै रजजाचै ईस हू तैं दकनीमई — वही ५६,

व्रजरज

व्रज या वृंदावन की भाति व्रजरज को भी बडे महत्व की दृष्टि से आनद-घन ने देखा है। व्रजरज से अँजी आँखों में ही श्रीकृष्ण के रूप के दर्शन होते हैं। इसी से दृष्टि-ज्योति मिलती है। इस पर मोहन के चरण चिह्न दिखाई पड़ते हैं। ब्रह्मादिक भी इसकी याचना करते हैं। रसपुज तथा परमार्थ इसीमें मिला हुआ है। इसके स्पर्श से कृष्णानुराग जागता है। रजकण में वधकर जगत के वधन से प्राणी मुक्त हो जाता है। कवि कहता है कि यह मेरे रोमरोम में रम रहा है। 'रोम रोम रमि रही रज है'। आनघन जी का व्रज से अनन्य प्रेम था। मरते समय कहा जाता है ये व्रजरज में लेटते रहे। यवनों ने जब इनसे धन मागा था तो इन्होंने दो मुट्ठी व्रजरज ही उन पर फेंकी थी।

राधा और गोपिकाएँ

श्री कृष्ण के प्रेम के उच्चातिउच्च उत्कर्ष का अधिष्ठान राधा है जो स्वय आनद का घन है। श्री कृष्ण राधा प्रेम का पपीहा बन जाता है। वे इन्हीं के वश में है। इन्हीं के गीत वे अपनी वशी में गाते हैं। कवि का विश्वास है कि श्रीकृष्ण की भक्ति बिना राधा की कृपा के नहीं हो सकती।

गोपियों को भी वे मधुरा भक्ति का सर्वोत्तम अधिष्ठान मानते हैं। प्रेम इन्हीं के भाग्य में बदा है। इन्हीं का श्रीकृष्ण से सच्चा अनुराग हुआ था। इनके मन की स्वच्छता का क्या वर्णन किया जावे जिसमें सर्वस्व विस्मृत होकर श्रीकृष्ण का मोह जागा था। वृंदावन के वाग में ये ही लताएँ आनद-घन के रस से झालरी होती हैं। कवि अपना तादात्म्य इन्हीं से करते हैं और अपनी भक्ति के साफल्य की भावना करते हैं।

'प्रेम पद्धति' में राधा-कृष्ण और गोपिकाओं के प्रेम का दर्शन कवि ने उपस्थित किया है।

राधा का स्वकीया प्रेम तथा गोपियों का सत्य भाव का प्रेम आनद घनजी ने माना है। 'व्रज विलास' में राधा के मुख से स्पष्ट उन्होंने इसी भाव को व्यक्त किया है। राधा कहती है कि मेरा नाम राधा है उनका व्रजमोहन श्याम। हमारे प्रेम के गीत सब ग्वालिन गायें।

राधा मेरो नाम है वे व्रज मोहन श्याम।
गीत ग्वालिन गाइये सुलग लाग के काम ॥

व्रजविलास २३।

वे सखियों से कहती हैं कि मैं करोड़ों उपाय करती हूँ पर "हित ग्रानि" छिपाए नहीं छिपती। ब्रज मोहन की पहचान रोम-रोम में रम गई है। मैं वैसे तो मोहन के ही घर रहती हूँ पर बाहर मेरा नाम राधा है। मैं अपने सब अंगों में कृष्ण प्रेम से तृप्त हूँ। घूँघट करने पर अटपटी ताक और भी अधिक उघड़ गई है। यह यदुनाथ का दुःसह वियोग न जाने कहाँ से आ लगा। वह विसासी बिछुड़ कर मिलता है। मिलकर बिछुड़ जाता है। यह सब अनमिल की ही कुशल है। श्रीकृष्ण की साँवली मूर्ति दृष्टि के आगे-आगे डोलती है। आँसुओं में श्यामघन दिखाई देते हैं पर जल में आग लगी हुई है। प्राणनाथ ब्रजनाथ से बिछुड़कर कौन जीवित रह सकता है? प्रेम की इस अकथ कथा को केवल मौन ही कुछ बता सकता है।[1] 'प्रेम पद्धति' में कवि ने गोपियों की सराहना तथा दर्शन दिया है। इनके प्रेम में सब प्रकार के नियम बिसर जाते हैं। यद्यपि प्रेम का पथ बाका है पर उन्होंने उसमें सीधे ढंग से ही अवगाहन किया है। प्रेम की अगम गैल का अनुसरण प्राणी तभी कर सकता है जब इनके चरणों को सिर पर रखेगा। शिव, शुक, उद्धव जैसे प्रेमी भक्त इनकी महिमा के वशीभूत होकर इन्हीं के प्रेम में अनुरक्त हो जाते हैं। वे ब्रज परिवार की सराहना करते हैं। इनकी महिमा के विस्मय में डूब जाते हैं। इसके महामर्म को वे भी नहीं समझ पाते। इनके से प्रेम की गति यदि कुछ हृदय में स्फुरित हो जाती है तो दिव्य ज्ञान प्रकट हो जाता है। इन्हें किसी समय भी कोई और रुचि नहीं होती। केवल कृष्ण विषयक काम की "रोर" हृदय में मची रहती है। इन्होंने कृष्णरूपी चद्रमा को भी अपना चकोर बना लिया है। मोहन गुणी ने वंशी में जो कुछ बजाया था उसे इन्होंने ही सुना था। उसे सुनकर इन्होंने और सब कुछ अनसुना कर दिया। धर्म और धैर्य आदि सिर धुन कर इनसे दूर भाग गए।

अपने प्रेमका प्रबल ओज इन्होंने इससे प्रकट कर दिया जब ब्रजमोहन को भी पकड़कर नचा लिया। प्रेम की पद्धति इन्हीं से प्रकट होती है। नहीं तो यह अत्यन्त गुप्त है। बुद्धि तो इसे समझने में कुंठित हो जाती है। ऊर्ध्व रस अर्थात् प्रेमरस की पदवी बड़ी उग्र है। वह ब्रजनाथ के अतिरिक्त अन्य में नहीं दबी है। उस रस को घनश्याम गोपियों के साथ मिलकर ब्रज में बरसाते हैं। जिस स्वाद को शास्त्र 'नेति नेति' कहते हैं उसे इन गोपियों ने ही प्राप्त किया है। वह प्रेम गोपीपद के प्रसाद बिना नहीं मिलता। समस्त

---

[1]—ब्रजविलास।

दसवाँ परिच्छेद

(आदान-प्रदान तथा कवि का हिन्दी साहित्य में स्थान)

दसवाँ परिच्छेद

क—आदान-प्रदान

१—भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र और घनानंद

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र पर घनानंद का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा था। घनानद की भाति वे जो प्रधान रूप से प्रेम के कवि बने उसका भी कारण यही प्रभाव है। भारतेंदुजी ने अपनी रचनाओं में जिस प्रेम का चित्रण किया है उसमें घनानंद की सी तन्मयता, गंभीरता, त्याग, भावनात्मकता और अनुभूति प्रवणता आदि विशेषतायें मिलती हैं। उन्होंने 'सुजान शतक' नाम से घनानदजी का एक लघु सग्रह भी प्रकाशित किया था।

इसके अतिरिक्त अपनी रचनाओ के नामकरण और आदर्श वाक्य उन्होंने अनेकत्र घनानंद के रखे हैं। 'प्रेम सरोवर' 'प्रेम फुलवारी' आदि शीर्षक घनानद के 'प्रेम सरोवर' और 'इश्क चमन' के समानातर है।

'प्रेम सरोवर' की भूमिका में घनानदजी की यह पक्ति उन्होंने उद्धृत की है:—

'सब छांड़ि अहो हम पायो तुम्हें हमें छाड़ि कहौ तुम पायौ कहा'

इसी प्रकार 'प्रेमाश्रु वर्षण' के मुखपृष्ट पर उनका यह सवैयाश उद्धृत किया है :—

'परकाजहिं देह को धारे फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ'। 'प्रेम सरोवर' में प्रेमी महात्माओं का परिगणन करते समय घनानद जी का नाम उन्होंने लिया है :—

> नददास, आनदघन, सूर, नागरी दास।
> कृष्णदास, हरिदास, चैतन्य, गदाधर, व्यास॥

उनके काव्य में भाषा और भावो की जो समता विद्यमान है उसके कुछ उदाहरण ये हैं :—

१ सब कौ जहाँ भोग मिल्यौ तहाँ हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्‌यौ।

भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० १४९। प्रेमाधुरी पद्य सख्या १४।

इत बांट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उराहनौ दीजिएजू ।

घना० सुहि० २५७

तेरे बाटे आयौ है अंगारनि पै लोटिबो सुहि० २२५

२ दीनता की हमरे तुम्हरे निरदैपन हू की चलैंगी कहानियां ।

हरिश्चन्द्र-प्रेम माधुरी पृ० ३२

हेत खेत धूरि चूर चूर ह्वै मिलेगो, तब
चलैंगी कहानी घनआनंद तिहारे की । घना० सुहि २२१

३ जानौ न नेक विथा परकी बलिहारी तऊ हौ सुजान कहावत ।

हरि० प्रेम माधुरी ६८

भूलनि करी है सुधिजान ह्वै अजान भए । घनां० सुहि० २२२

४ दुलही उलही सब अगनतैं दिन ह्वै तैं पियूष निचोरैं लगी ।

हरि० प्रेम माधुरी ८०

रस निचुरत मीठी मृदु मुसक्यानि में । घनानंद प्रकीर्णक १

५ पूरन पियूष प्रेम आसव छकी हौं रोम ।
रोम रस भीन्यौ सुधि भूली गेह गतकी हरि०प्रेम माधुरी ९७

रोम रोम रस भीजि व्याकुल सरीर महा घना० सुहि २०४

६ ऐ रे घनश्याम तेरे रूप की हूँ चातकी । हरि० प्रेम माधुरी ९७
चातक है रावरो अनोखौ मोह आवरो
हाय कब आनंद को घन बरसाय हौ घना० सुहि० २४

७ थाकी गति अगन की मति परि गई मद
बावरी सी बुधि हासी कहू छीन लई है । हरि० प्रेम माधुरी ९७

थकी गति हेरत हैरनि की गति
मति बौरी भई गति बारि कै मोमति घना० सुहि ३४

८ सुख के समाज जिततित लागे दूरि जान हरि० प्रेम माधुरी १०५

घनआनद प्यारे सुजान बिना सब ही सुख साज समाज टरे ।

घना० सुहि० ३६

९ जिन आंखिन में तुव रूप वस्यौ
उन आखिन स्यौ अब देखियै का   हरिश्चन्द्र ग्रंथावली पृ० १५३

आंखे जो न देखें तौ कहा पै कछू देखितिये
घनानंद और आनंदघन पृ० १६४

१० तेरे विछुरे ते प्रान कत कै हिमंत अति
तेरी प्रेम जोगिनी वसंत वनि आई है।   हरि० ग्रन्थावली पृ० १५२

विन घन आनद सुजान अंग पीरे परि
फूलत वसत हमैं होत पतझार है   घना० सुहि० ६०

२ जगन्नाथ प्रसाद 'रत्नाकर' और आनंदघन

कविवर जगन्नाथदास 'रत्नाकर' की काव्य शैली में तीन बातें ऐसी हैं जो घनानंद के प्रभाव का फल प्रतीत होती हैं। वे हैं—चिन्तन में प्रेम की प्रधानता, शैली मे विरोध की प्रवृत्ति और भावात्मकता। व्रज भाषा के व्याकरणसंमत परिनिष्ठित स्वरूप का प्रयोग उनके विहारी और घनानद दोनों के समिलित प्रभाव का प्ररिणाम है। विहारी की भाति घनानंद के काव्य का भी उन्होने संपादन किया था और घनानंद के शब्दों की एक शब्द सूची भी तयार की थी जो नागरी प्रचारिणी सभा के 'रत्नाकर संग्रह' मे हस्तलेख के रूप में सुरक्षित है। दोनो के काव्यो मे प्रयुक्त कुछ समानार्थक वाक्य नीचे दिये जाते हैं.—

१ आपु चितेरनि हाथ विकानी।   रत्ना० शृंगार लहरी ६

रीझ विकाई निकाई पै रीझि।   घना० सुहि० ३२

२ जवते विलोके वाल लाल वन कुजनि मैं
तव ते अनग उमग उमगति हैं।   रत्ना० शृंगार लहरी ७२

रूप निधान सुजान सखी जव तैं इन नैननु नैकु निहारे   घ० सुहि० १

जव ते निहारे आनंदघन सुजान प्यारे
तव ते अनोखी आगि लगि रही चाह की   घ० सुहि० १९१

३ कहै रत्नाकर न जागति न सोवति है
जागत औ सोवत मैं सोवति जगति है।   रत्ना० शृ० ल० ७२

सोयबो न जागिबो न हसिबो न रोइबोहू।

खोय खोय आपहू में चेटक लहनि है। घ० सुहि० ६६

सोयें न सोयबो जागैं न जाग अनैखियै लाग सुआंखिन लागी

वही २३५

४ पीरी परिजात है वियोग आगिहू तो अब
विकल विहाल बाल सीरी परिजात है रत्ना० श्रृ० ल० १०७

सीरी परि सोचनि अचंभे सों जरौं मरौं घ० सुहि० २०९

५ प्यार पगे पिय प्यार सों प्यारी कहा इमि कीजति मान मरोर है।
है रत्नाकर पै निसि बासर तो छवि पानिपकों तरस्यौ करै।
है मन मोहन मोह्यो पै तो पर है घनस्याम पै तेरौ तो मोर है।
है जगनायक चेरौ पै तेरो है है ब्रजचंद पै तेरो चकोर है।

रत्ना० श्रृंगार ल० १२७

राधे सुजान इतै चित दै हित मैं कित कीजत मान मरोर है।
माखन तें मन कोंवरों है यह बानि न जानति कैसें कठोर है।
सावरे सो मिल सोहत जैसी कहा कहियै कहिबे को न जोर है।
तेरो पपीहा जु है घन आनद है ब्रजचंद पै तेरो चकोर है॥

घ० सुहि० ३७२

हाँसी परि जायगी हमारे गरे फासी ह्वै। रत्ना० श्रृंगार लहरी १६७

फासी से सरस हांसी फंद छद सों दियौ। घ० सुहि० ३१२

७ डूबी दिन रैन रहै कान ध्यान वारिध में।
तौ हू बिरहागिनि की दाह सों दगति है। रत्ना० श्रृंगार ल० ७२

जल बूडी जरैं दीठि पायहू न सूझ करैं घ० सुहि० ५१

८ रूसिबोही रूसिवो तिहारे बाट आवैगो। रत्ना० श्रृं० ल० १३१

तेरे बाँट आयो है अगारनि पै लोटिबो। घ० सुहि० २२५

इत बाँट परी सुधि रावरे भूलनि कैसे उलाहनो दीजिए जू। वही २५७

९ जाकी एक बूँद को बिरचि विबुधेस सेस।
सारद महेस ह्वै पपीहा तरसत है।
कहै रत्नाकर रुचिर रुचि ही मैं जाकी।

मुनि मन मोर मंजु मोह बरसत है।
कामिनि सुदामिनि समेत घनस्याम सोई।
सुरस समूह ब्रज बीच बरसत है रत्नाकर, हिंडोला

मन के मनोरथ महोदधि तरगनि मैं।
अति ही तरलगति प्रवल प्रचंड है।
एक एक बीचि बीच सायर असेष जहाँ,
सूखो राखिबोरे तीर दीरघ अखंड है।
पारि परि कोऊ न सक्यौ है विथक्यौ है ओज,
खोजैं सिद्ध चारन मुनीस महि मंड है।
सोई घन आनँद सुजान रूप को पपीहा,
सोभा सींव जाके सीस मंडित सिखंड है। घ० सुहि० ४७४

१० रावरी सुधाई में भरी है कुटिलाई कूटि।
बात की मिठाई में लुनाई लाइ ल्याये हो रत्ना० उद्धव शतक

झूठ की सचाई छाक्यौ त्यौं हितकचाई पाक्यौ,
ताके गुनगन घन आनँद कहा गनौ। घ० सुहि० २९९

३—देव और आनंदघन

१ जाके मद मात्यौ सो उमात्यौ ना कहू है कोऊ,
बूड्यौ उछल्यौ ना तर्‌यौ सोभा सिन्धु सामुहै।
पीवत ही जाहि कोई मार्‌यौ सो अमर भयौ,
बौरान्यौ जगत जान्यौ मान्यौ सुख धाम है।
चख के चषक भरि चाखत ही जाहि फिरि,
चाख्यौ ना पियूष कछु ऐसो अभिरामु है।
दंपति सरूप ब्रज औतर्‌यौ अनूप सोई,
देव कियौ देखि प्रेम रस प्रेम नाम है। देव
प्रेम को पयोदधि अपार हेरि कै विचार,
बापुरो हहरि वार ही तें फिरि आयौ है।
ताहि एक रस ह्वै बिवस अवगाहैं दोऊ
नेही हरि राधा जिन्हैं हेरि सरसायौ है। सुहि० ११

२ अखियां मधु की मखियां भई मेरी। देव
रूप रस चाखै आँखैं मधु माखी ह्वै गईं। सुहि० १९९

३ भरि कै उघरि नाचै सांच राखै कर में। देव
उघरि नचाय आपु चाय मैं रचाय हाय। घ० सुहि० ६९

४ रसखान और आनंदघन

१ मन लीन्यौ प्यारे चितै पै छटाक नहि देत।
यहै कहा पाटी पढ़ी दलकौ पीछौ लेत ॥

रसखान और घनानंद पृ० २५, पद्य ४५

यह कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटांक नही।

घ० सुहि० २६७

२ एरी चतुर सुजान भयौ अजानहि जानि कै।
तजि दीनी पहचान जान आपनी जान कौं।

रसखान और घनानंद पृ० २५

आँखिन हूँ पहचान तजी कछु ऐसोई भागनि को लहनौ है।
जान है होत इते पै अजान जौ तौ बिन पावक ही दहनौ है ॥

घ० सुहि० ५

३ रसखानि परी मुसकानि के पाननि कौन गहै कुलकानि विचारी।

रसखान और घनानद पृ० ३८

अकुलानि के पानि परयौ दिन राति सु ज्यौ छिनकौ न कहूँ बहरै

घ० सुहि० २२०

५—बिहारी और आनंदघन

जगत जनायौ जिहि सकल सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौ आखिन सब देखिये आँखिन न देखी जाहिं। बिहारी
लोचननि तारे ह्वै सुझावौ सब सूझौ नाहिं। सुहि प्र० २७०

२ इन दुखिया आखियान कौ सुख सिरज्यौ ही नाहिं।
देखत बनै न देख तैं अन देखै अकुलाहिं ॥ बिहारी
अनोखी हिलग दैया बिछुरै तो मिल्यौ चाहै।
मिलै हू मैं मारै जारै खरक बिछोह की। घ० सुहि० २७५

६—चंद्रकुँवर बर्त्वाल और घनानंद

ये दोनो ही कवि घनानंद और बर्त्वाल ऊँची दशा के सौन्दर्य प्रेमी रहे हैं। सब प्रकार की कठिनाइयों के विरोध में इन्होंने अपने प्रेम को तदवस्थ

बनाए रक्खा। विरहोन्मत्त घनानद ने अपने प्रेमाश्रुओ को विसासी सुजान के आगन मे बरसाने की प्रार्थना परजन्य से की है। बर्त्वाल निर्जन जगल को देखते देखते अपने हृदय मे ही बादलों की वृष्टि का अनुभव करते हैं।

किसी के गीले दृगों से उठ सजल मेघ
मेरे हृदय तल पर छा रहा है।

आनंदघन के प्राण निराश होकर सुजान के प्रेम का सदेश लेकर निकलना चाहते हैं। बर्त्वाल के प्राण भी ससार की कदर्थनाओ से खिन्न होकर अस्त होते हैं।

ये वनों के मुक्त पक्षी मानवों मे हैं सुखी,
ये प्रणय करके सुखी है हम प्रणय करके दुखी।
तरु करा देते मिलन है इनका मनोहर पल्लवों में,
और हम होते तिरस्कृत इस जगत के मानवों में।
पर जगत बलवान हो तुम क्षुद्र प्रेमी प्राण है,
तुम सुखी हो रो रहे पर अस्त प्रेमी प्राण हैं।

घनानद का स्वच्छन्द प्रेम लोक लाज से अल्प मात्र भी सकुचित नहीं होता। बर्त्वाल का प्रेम उससे भयभीत होता है। पहला सबल है दूसरा निर्बल।

जिस प्रकार घनानद प्रेम की लौकिक भूमि पर रहस्य के दर्शन करते हैं उसी प्रकार बर्त्वाल प्रेम भावना से राष्ट्र भावना का अनुभव करते हैं जो उनकी 'दुर्गा का मन्दिर' 'देवी' और 'वदे मातरम्' कविताओं में स्पष्ट हुआ है।

चद्रकुवर की प्रेम भावना मे सयमपूर्ण लोक सामजस्य भी है जो घनानद के काव्य में नहीं मिलता।

"सौन्दर्य प्रेम और विरहोन्मुखी आनंद की सरस्वती धारा को मानव पृथ्वी पर बहानेवाले केवल दो कवि हिन्दी साहित्य ने पाए हैं। सत्रहवीं शताब्दी में घनानद और बीसवीं शताब्दी में चंद्रकुंवर बर्त्वाल।[1]

---

१ श्री शभु प्रसाद बहुगुना के सरस्वती पत्रिका में निकले लेख के आधार पर।

३ भरि कै उघरि नाचै सांच राखै कर में। देव
उघरि नचाय आपु चाय मैं रचाय हाय। घ० सुहि० ६९

४ रसखान और आनदघन

१ मन लीन्यौ प्यारे चितै पै छटाक नहि देत।
यहै कहा पाटी पढ़ी दलकौ पीछौ लेत॥
रसखान और घनानद पृ० २५, पद्य ४५
यह कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटांक नहीं।
घ० सुहि० २६७

२ एरी चतुर सुजान भयौ अजानहि जानि कै।
तजि दीनी पहचान जान आपनो जान कौं।
रसखान और घनानंद पृ० २५

आँखिन हूँ पहचान तजी कछु ऐसोई भागनि को लहनौ है।
जान है होत इते पै अजान जौ तौ बिन पावक ही दहनौ है॥
घ० सुहि० ५

३ रसखानि परी मुसकानि कै पाननि कौन गहै कुलकानि विचारी।
रसखान और घनानद पृ० ३८
अकुलानि के पानि परयौ दिन राति सु ज्यौं छिनकौ न कहूँ बहरै
घ० सुहि० २२०

५—बिहारी और आनंदघन

जगत जनायौ जिहि सकल सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आखिन सब देखिये आँखिन न देखी जाहिं। बिहारी
लोचननि तारे ह्वै सुझावौ सब सूझौ नाहि। सुहि प्र० २७०

२ इन दुखिया आखियान कौ सुख सिरज्यौ ही नाहिं।
देखत बनै न देख तैं अन देखै अकुलाहिं॥ बिहारी
अनोखी हिलग दैया विछुरै तो मिल्यौ चाहै।
मिलै हू मैं मारै जारै खरक विछोह की। घ० सुहि० २७५

६—चंद्रकुँवर वर्त्वाल और घनानंद

ये दोनों ही कवि घनानद और वर्त्वाल ऊँची दशा के सौन्दर्य प्रेमी रहे हैं। सब प्रकार की कठिनाइयों के विरोध में इन्होंने अपने प्रेम को तदवस्थ

बनाए रक्खा। विरहोन्मत्त घनानद ने अपने प्रेमाश्रुओं को विसासी सुजान के आगन मे वरसाने की प्रार्थना परजन्य से की है। वर्त्वाल निर्जन जगल को देखते देखते अपने हृदय मे ही बादलों की वृष्टि का अनुभव करते हैं।

किसी के गीले दृगों से उठ सजल मेघ
मेरे हृदय तल पर छा रहा है।

आनदघन के प्राण निराश होकर सुजान के प्रेम का संदेश लेकर निकलना चाहते हैं। वर्त्वाल के प्राण भी ससार की कदर्थनाओ से खिन्न होकर अस्त होते हैं।

ये वनों के मुक्त पक्षी मानवों से हैं सुखी,
ये प्रणय करके सुखी है हम प्रणय करके दुखी।
तरु करा देते मिलन है इनका मनोहर पल्लवों में,
और हम होते तिरस्कृत इस जगत के मानवों में।
पर जगत बलवान हो तुम क्षुद्र प्रेमी प्राण हे,
तुम सुखी हो रो रहे पर अस्त प्रेमी प्राण हैं।

घनानद का स्वच्छन्द प्रेम लोक लाज से अल्प मात्र भी सकुचित नहीं होता। वर्त्वाल का प्रेम उमसे भयभीत होता है। पहला सबल है दूसरा निर्बल।

जिस प्रकार घनानद प्रेम की लौकिक भूमि पर रहस्य के दर्शन करते हैं उसी प्रकार वर्त्वाल प्रेम भावना से राष्ट्र भावना का अनुभव करते हैं जो उनकी 'दुर्गा का मन्दिर' 'देवी' और 'वदे मातरम्' कविताओं में स्पष्ट हुआ है।

चद्रकुवर की प्रेम भावना मे सयमपूर्ण लोक सामंजस्य भी है जो घनानद के काव्य में नहीं मिलता।

"सौन्दर्य प्रेम और विरहोन्मुखी आनद की सरस्वती धारा को मानव पृथ्वी पर बहानेवाले केवल दो कवि हिन्दी साहित्य ने पाए हैं। सत्रहवीं शताब्दी में घनानद और बीसवीं शताब्दी में चंद्रकुवर वर्त्वाल।"[1]

---

१ श्री शभु प्रसाद बहुगुना के सरस्वती पत्रिका में निकले लेख के आधार पर।

दर्शन मात्र होते थे। साहित्य जीवनोद्भूत न था। घनानद ने उसका सबध जीवन से जोड़ा। अपनी इस विशेषता को बार बार स्पष्ट रूप से उन्होंने कहा भी। यह प्रवृत्ति हमें १६ वीं शताब्दी के सतों में मिलती है। इसके बाद साप्रदायिक भक्त तथा साप्रदायिक साहित्यिक दोनों ही इस तत्व को भूल गए थे। घनानद जी ने उस शैली को अपना कर सच्चे साहित्य का प्रणयन किया।

भाषा के क्षेत्र में घनानद सर्वातिशायी गौरव के भाजन हैं। रीतिकाल के अतिम भाग में व्रजभाषा बहुत विकृत हो गई थी। उसकी शब्दावली तो उर्दू फारसी के शब्दों से खिचड़ी बन गई थी। उसकी वाक्यरचना तथा रूप विकास अव्यवस्थित था। साथ ही उसकी अभिव्यजना को बढाने का कोई प्रयत्न न था। घनानद ने उसकी विशुद्धता तथा व्याकरण सयतता की रक्षा करते हुए लक्षणा द्वारा उसकी क्षमता का सवर्धन किया। लाक्षणिकता तथा विशुद्धता के कारण इनकी भाषा विहारी की भाषा से भी प्रशस्यतर है। भावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों को व्यक्त करने के अनेकों मार्ग इन्होंने निकाले हैं। इस दिशा में देव, भूषण जैसे भाषा विकारकों तथा विहारी, नागरीदास जैसे शाब्दिक आदान-प्रदान के विश्वासियों की तुलना में घनानद सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होते हैं।

भावों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म अतर्दशाओं के चित्रण का गुण भी घनानद का अप्रतिम है। हिंदी सस्कृत की विभाव प्रधान शैली परपरा में इनकी सी सूक्ष्म अतर्दशाएँ अभिव्यक्त ही नहीं होती थीं। घनानद की शैली भाव प्रधान बनी। भावों की रमणीयता तथा ग्राह्यता लक्षणा द्वारा रूपवत्ता प्रदान करने से की गई। रीतिकाल के काव्य में यह गुण भी नवीन था जिसके कारण घनानद अपने समसामयिकों से पृथक् महत्त्व के भाजन बने।

इनका उत्कर्ष रीतिकाल के अवसान में हुआ था। इसलिए इनके काव्य पर किसी आचार्य की अनुकूल या प्रतिकूल आलोचना-सूक्ति देखने को नहीं मिलती। फिर भी अधिक आदर इनके काव्य का नहीं हुआ। यह व्रजनाथ की प्रशस्तियों के आधार पर कहा जा सकता है। इसका कारण इनके काव्य सौष्ठव को पूर्णतया न समझना है।

विहारी की सी टीकायें भी किसी ने इनके काव्य पर नहीं की यद्यपि काव्य इसके अधिक उपयुक्त था।

आधुनिक काल में जिन लोगों ने इनका अध्ययन किया है वे इनसे पर्याप्त प्रभावित हुए हैं। इनमे भा० वा० हरिश्चंद्र और रत्नाकर जी तथा चंद्रकुँवर विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्मुक्त प्रेम के व्याख्याता होने के कारण लोगों को ये बेमेल से लगते थे। इसलिए इनकी समस्त रचनाओं का प्रकाशन भी समय से नहीं हो पाया। अब समाज के प्रजातान्त्रिक वातावरण मे जब कला के अदर कलाकार की व्यक्तिगत भावनाओं का मूल्य बढा है तब घनानद का भी मूल्याकन होने लगा है। अब भी रीतिकाल तथा शृंगार के नाम से भड़कनेवाला साहित्यिक पाडित्य इन जैसों की प्रशसा हृदय से नहीं करता। पर कला की दृष्टि से कवि को देखा जाए तो हिंदी साहित्य की धारा मे इनकी काव्य सरस्वती का रंग पृथक् ही है। वह महत्त्वपूर्ण है, नवीन है और विधायक है। इसलिये आदरणीय है।

इतिशम्

आधुनिक काल में जिन लोगों ने इनका अध्ययन किया है वे इनसे पर्याप्त प्रभावित हुए हैं। इनमें भा० बा० हरिश्चंद्र और रत्नाकर जी तथा चंद्रकुँवर विशेष उल्लेखनीय हैं। उन्मुक्त प्रेम के व्याख्याता होने के कारण लोगों को ये बेमेल से लगते थे। इसलिए इनकी समस्त रचनाओं का प्रकाशन भी समय से नहीं हो पाया। अब समाज के प्रजातांत्रिक वातावरण मे जब कला के अंदर कलाकार की व्यक्तिगत भावनाओ का मूल्य बढा है तब घनानंद का भी मूल्यांकन होने लगा है। अब भी रीतिकाल तथा शृंगार के नाम से भड़कनेवाला साहित्यिक पांडित्य इन जैसों की प्रशंसा हृदय से नहीं करता। पर कला की दृष्टि से कवि को देखा जाए तो हिंदी साहित्य की धारा में इनकी काव्य सरस्वती का रंग पृथक् ही है। वह महत्त्वपूर्ण है, नवीन है और विधायक है। इसलिये आदरणीय है।

इतिशम्